लियो ह्यूबरमन

मनुष्य की भौतिक सम्पदाएँ

राष्ट्रों की समृद्धि की कहानी



मनुष्य की भौतिक सम्पदाएं

राष्ट्रों की समृद्धि की कहानी

लिओ ह्यूबरमन



गार्गी प्रकाशन

तृतीय पुनर्मुद्रण : 2018
द्वितीय पुनर्मुद्रण : 2016
प्रथम पुनर्मुद्रण : 2004
प्रथम संस्करण : 1996

इस पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण अप्रैल 1937 में ब्रिटेन में और प्रथम भारतीय संस्करण मई 1946 में छपा था।

गार्गी प्रकाशन
1/4649/45बी, गली न0 -4,
न्यू मॉडर्न शाहदरा, दिल्ली-110032
e-mail : gargiprakashan15@gmail.com

मुद्रकः
प्रोग्रेसिव प्रिन्टर्स
ए-21, झिलमिल इण्डस्ट्रियल एरिया
जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली-110095

ISBN 81-87772-02-6

मूल्य: 300 रुपये

Leo Huberman : Manushya Ki Bhautik Sampadayen - Rashtron Ki Samariddhi Ki Kahani (Hindi Translation of Man's Wordly Goods - The Story of the Wealth of Nations)

यह पुस्तक 1937 में लिखी गई थी। अतः यह उसी समय तक की परिस्थितियों का अध्ययन प्रस्तुत करती है। सोवियत संघ की घटनाओं के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। इसके अलावा जहां कहीं भी 'विश्व युद्ध' या 'पिछले युद्ध' का प्रयोग किया गया है, वह प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) के सन्दर्भ में है।

प्रकाशक

भूमिका के बदले में

सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं की कोटि की बदौलत किसी अवस्था विशेष में समाज के कार्यात्मक ढांचे की स्पष्ट व्याख्या करना सम्भव हुआ। समाज को, और उस ढांचे की सीमाओं के अन्दर होने वाले परिवर्तनों को भी, विकासक्रम के रूप में दिखाया जा सका। उदाहरण के लिए जैसा कि मार्क्स ने किया, पूंजीवाद के विकास में उत्पादन की पूर्ववर्ती अवस्था और बड़े पैमाने के उद्योगों की अवस्था का अन्तर बता सकना सम्भव हो गया; या, जैसा कि बाद में चलकर लेनिन ने किया, पूंजीवाद की अन्तिम, साम्राज्यवादी अवस्था की लाक्षणिक विशेषताओं को स्पष्ट कर सकना सम्भव हो गया। इस कोटि की सहायता से उन विविध रूपों की व्याख्या करना भी सम्भव हो गया जिनमें हर देश की विशिष्ट परिस्थितियों में किसी संरचना विशेष का प्रादुर्भाव होता है।

अन्तिम बात यह कि इस कोटि ने इतिहास की समूची प्रक्रिया की गुणात्मक अवस्थाओं को समझने की कुंजी उपलब्ध कर दी और इतिहास के सचमुच विज्ञान-सम्मत काल-निर्धारण का आधार प्रदान किया।

सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं की संकल्पना का ऐतिहासिक भौतिकवाद की कोटियों की प्रणाली में केन्द्रीय स्थान है। वह इतिहास की प्रक्रिया के नियमों का एक-प्रकार से केन्द्र-बिन्दु है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की दूसरी संकल्पनाएं तथा कोटियां–उत्पादन-पद्धति, उत्पादक शक्तियां, उत्पादन-सम्बन्ध, आधार तथा ऊपरी ढांचा–इसी पर आकर मिलती हैं तथा इनके साथ एकाकार हो जाती हैं। ये कोटियां जिन घटनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया उनकी अन्तर्वस्तु को उजागर कर देती है।

प्रत्येक संरचना एक विशिष्ट उत्पादन-पद्धति पर आधारित होती है–उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों के एक विशिष्ट संयोजन पर जो कि उस संरचना का आर्थिक आधार होता है। इस संयोजन में निर्णायक भूमिका उत्पादक शक्तियां अदा करती हैं। उनके विकास का स्तर इस बात को प्रतिबिंबित करता है कि प्रकृति पर उस समाज का कितना नियंत्रण है, और इसके साथ ही, वह उन उत्पादन-सम्बन्धों को भी निर्धारित करता है जो

जन-चेतना से स्वतंत्र रूप से उनके आधार पर उत्पन्न होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का कुल योग उस अस्थि-पंजर के समान होता है जिस पर समाज के संप्राण शरीर का ढांचा तैयार होता है।

उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धों का द्वन्द्व ही वह प्रेरक शक्ति होता है जो सामाजिक विकास के पीछे क्रियाशील रहती है। इतिहास की किसी अवस्था विशेष में कायम होने वाले उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक-शक्तियों के और अधिक विकास के लिये कुछ गुंजाइश छोड़ देते हैं। लेकिन जब ये उत्पादक शक्तियां बढ़कर एक नये स्तर पर पहुंच जाती हैं और मौजूदा उत्पादन-सम्बन्ध उनके अनुरूप नहीं रह जाते, तब पुनर्गठन की क्रिया आरम्भ होती है जिसके फलस्वरूप समूचा सामाजिक ढांचा बदल जाता है।

उत्पादन-सम्बन्धों का अत्यधिक महत्व होता है लेकिन सामाजिक सम्बन्ध केवल उन्हीं के नहीं होते। वे, एक प्रकार से, समाज की इमारत का बोझ संभालने वाला ढांचा होते हैं, वे वह बुनियाद होते हैं जिस पर ऊपरी ढांचे का निर्माण किया जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की कोटियों की प्रणाली में उन्हें वह बुनियाद माना जाता है जो राजनीतिक, ऊपरी ढांचे का और सामाजिक चेतना के रूपों का निर्धारण करती है।

उत्पादन-सम्बन्ध वर्गों में समाज के विभाजन के रूप में उभर कर सामने आते हैं, और सम्पत्ति के सम्बन्ध उत्पादन-सम्बन्धों की कानूनी अभिव्यक्ति होते हैं। राजनीतिक, ऊपरी ढांचे का—राज्यसत्ता तथा उनकी संस्थाओं का—स्वरूप तथा विकास और सामाजिक चेतना के रूपों का (विचारधारा, कानून, नैतिकता, धर्म, विज्ञान, दर्शन और कला का) विकास भी, अन्तिम विश्लेषण में उत्पादन-सम्बन्धों के गतिक्रम से होता है। लेकिन ऐसा केवल अन्तिम विश्लेषण में होता है। समूचे ऊपरी ढांचे की और ऊपरी ढांचे के प्रत्येक उपर्युक्त रूप की आधार के साथ (उत्पादन-सम्बन्धों के साथ—अनु.) प्रबल क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। कारण और कार्य का स्थान बहुधा आपस में बदल जाता है, हालांकि "असमान" शक्तियों के बीच की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। ऐतिहासिक आवश्यकता अनेक आकस्मिक घटनाओं के माध्यम से अपनी सत्ता को स्थापित करती है।

सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं की कोटि की अन्तर्वस्तु का निचोड़ इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है: उत्पादक शक्तियां--उत्पादन-सम्बन्ध –राजनीतिक ऊपरी ढांचा–सामाजिक चेतना के रूप। समाज का ढांचा इसी ढंग से हमारे सामने आता है; और अभी जिस श्रृंखला का उल्लेख किया गया है उसमें हर कड़ी अगली को निर्धारित करती है। इस प्रकार देखने पर, इतिहास की किसी अवस्था विशेष में समाज की दशा का विश्लेषण करने के लिए इस कोटि की उपयोगिता और भी स्पष्ट हो जाती है और उसके इस स्वरूप की पुष्टि हो जाती है कि यह एक ऐसी कोटि है जो एक ओर तो समाज के ढांचे का रहस्योद्घाटन करती है, और दूसरी ओर, विश्व इतिहास की प्रक्रिया के काल-निर्धारण की कसौटी का काम करती है।

("पूंजीवाद-पूर्व की सामाजिक-आर्थिक संरचनाएं" पुस्तक की नोरिरे तेर-अकोप्यान द्वारा लिखित भूमिका से उद्धृत)

"मार्क्सवाद से पहले के 'समाज शास्त्र' और इतिहास-लेखन ने "हद से हद" अललटप्प जमा किये गये कच्चे तथ्यों का संचय और इतिहास की प्रक्रिया के अलग-अलग पहलुओं का वर्णन मात्र प्रस्तुत किया था।"

(वी.आई. लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 21, पृष्ठ 56-57)

"मार्क्स ने एक ही प्रक्रिया के रूप में, जो अपनी अपार विविधता और विरोधात्मकता के बावजूद, निश्चित नियमों की पाबन्द थी, इतिहास के विज्ञान सम्मत अध्ययन का मार्ग दिखाया।"

(वी.आई. लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 21, पृष्ठ 56-57)

"इसमें मार्क्सवाद ने एक सामाजिक-आर्थिक संरचना को लिया .... और विपुल तथ्यों तथा आंकड़ों के आधार पर उन नियमों का अत्यन्त विस्तृत विश्लेषण किया जिनके अनुसार यह संरचना काम करती है तथा इसका विकास होता है।"

(वी.आई. लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 1, पृष्ठ 141)

"समाज की इस संरचना विशेष के ढांचे तथा इसके विकास की "केवल" उत्पादन-सम्बन्धों के माध्यम से व्याख्या करते समय भी उन्होंने हर जगह और लगातार इन उत्पादन-सम्बन्धों के अनुरूप ऊपरी ढांचे की भी छानबीन की... और उसके अस्थि-पंजर को मांस और रक्त प्रदान किया। ... इस पुस्तक ने .... सम्पूर्ण पूंजीवादी संरचना को पाठक के सामने एक जीती-जागती चीज के रूप में प्रस्तुत किया, उसके रोजमर्रा के पहलुओं सहित, उत्पादन-सम्बंधों में निहित वर्ग-विरोध की वास्तविक सामाजिक अभिव्यक्ति सहित, पूंजीपति वर्ग के शासन की रक्षा करने वाले पूंजीवादी राजनीतिक ऊपरी ढांचे सहित, आजादी, बराबरी और ऐसी ही दूसरी चीजों के बारे में पूंजीवादी विचारों सहित, पूंजीवादी पारिवारिक सम्बन्धों सहित उसे उन्होंने एक जीती-जागती चीज के रूप में प्रस्तुत किया।"

(वी.आई. लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, खण्ड 1, पृष्ठ 141-142)

मेरे माता पिता को

मूल अंग्रेजी ग्रंथ की प्रस्तावना

इस पुस्तक के दो उद्देश्य हैं। यह इतिहास की आर्थिक सिद्धान्त और आर्थिक सिद्धान्त की इतिहास के माध्यम से व्याख्या का एक प्रयास है। यह परस्पर सम्बन्ध महत्वपूर्ण और आवश्यक है। इतिहास का अध्ययन अधूरा है यदि उसके आर्थिक पहलुओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाए; और आर्थिक सिद्धान्त नीरस लगते हैं, जब उन्हें उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अलग कर दिया जाता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र राजनीतिक ही रहेगा, जब तक कि इसका अध्ययन-अध्यापन ऐतिहासिक शून्यता में किया जाएगा। रिकार्डो का भूमि-शुल्क सिद्धान्त अपने आपमें कठिन और नीरस है। लेकिन इसे इसके ऐतिहासिक प्रसंग में रखकर देखिये, इसे उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के इंग्लैण्ड के भू-स्वामियों और उद्योगपतियों के बीच संघर्ष के रूप में देखिये और यह कितना उत्तेजक और अर्थपूर्ण हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वांगपूर्ण तो नहीं है। यह न तो आर्थिक इतिहास है और न ही आर्थिक विचारों का इतिहास—लेकिन थोड़ा-बहुत दोनों ही है। यह आर्थिक संस्थाओं के विकास के रूप में इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है कि कुछ सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव विशिष्ट समय पर क्यों हुआ; समाज के उसी ढांचे में वे किस प्रकार उद्भूत हुए और किस प्रकार उनका विकास हुआ, उनमें संशोधन हुए और जब समाज के उस ढांचे में परिवर्तन हुए तो क्यों वे सिद्धान्त भी समाप्त कर दिये गये।

मैं इन व्यक्तियों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना चाहता हूं: मेरी पत्नी, जिसने कई प्रकार से, जिनको गिनाया नहीं जा सकता, मुझे सहयोग दिया; डाक्टर मेयेर स्कैपिरो, जिन्होंने पाण्डुलिपि को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़कर अनेक सुझाव दिये; कुमारी सिबिल मे और श्री माइकेल रौस, जिनकी सतत सम्मति और सृजनात्मक आलोचना ने मुझे निर्णयों और तथ्यों की अनेक भूलों के प्रति सजग रखा। मैं विशेष रूप से कुमारी जेन ताब्रिस्की के प्रति अनुग्रहीत हूं। इतिहास और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उनके सचेत अनुसन्धान और व्यापक ज्ञान ने मुझे अमूल्य योगदान दिया है। उनकी सहायता के बिना यह पुस्तक लिखी ही न गई होती।

न्यूयार्क
जुलाई, 1936

लिओ ह्यूबरमन

प्रथम खण्ड

सामन्तवाद से पूंजीवाद की ओर

1. पुजारी, योद्धा और श्रमिक

सिनेमा जगत के आरम्भिक दिनों में निर्देशक गण प्राय: विचित्र बातें किया करते थे। उनका एक विशेष अनोखापन यह था कि वे लोगों को टैक्सी पर बैठते हुए दिखाते और फिर वे लोग टैक्सी से उतर कर टैक्सी वाले को किराया दिये बिना ही चले जाते थे। वे टैक्सी पर चढ़ कर सारे शहर में घूमेंगे, सैर करेंगे अथवा अपने काम पर जायेंगे और बस। किराया देने की कोई आवश्यकता नहीं। लगभग उसी प्रकार की बात हम मध्य युग विषयक उन अधिकांश पुस्तकों में पाते हैं, जिनमें पृष्ठ के पृष्ठ केवल सामन्तों और उनकी स्त्रियों के बारे में भरे रहते हैं, जो चमकते हुए कवच और दमकते हुए वस्त्रों से सुसज्जित होकर मनोरंजन और क्रीड़ा के क्षेत्रों में स्वच्छन्द विचरण किया करते थे। ये सामन्त सदैव विशाल दुर्गों में रहते, मनभाता खाते-पीते और मौज उड़ाते थे। किसी को उनके आनन्दोपभोग के उपकरणों का उत्पादन भी करना पड़ता था, इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती। कवच पेड़ों पर नहीं उगते; जो अनाज पैदा होता है, वह उगाया जाता है; उसकी रखवाली की जाती है और उसके लिए किसी को अपना पसीना बहाना पड़ता है। इसी प्रकार दसवीं से बारहवीं शताब्दी के उन सामन्तों और उनकी स्त्रियों के ऐश्वर्य-विलास के साधन जुटाने के लिए भी किसी को अपना पसीना बहाना पड़ता था। उन पादरियों अथवा पुजारियों के लिए भी किसी को भोजन और वस्त्र जुटाने पड़ते थे, जो पूजा प्रार्थनाएं करते थे, जबकि सामन्त-योद्धा युद्ध किया करते थे। इन पुजारियों और योद्धाओं के अतिरिक्त, मध्य युग में एक तीसरा वर्ग श्रमिकों का था। सामन्ती समाज के निर्माण में इन तीनों वर्गों का योग था—पुजारी, योद्धा, और श्रमिक, जो पुजारी और योद्धा दोनों वर्गों के सुख-साधन जुटाने के लिए श्रम करते थे। उस युग का एक व्यक्ति अवश्य ही इस बात को समझता था जिसने लिखा है:

"सामन्त और पुजारी जीते थे उनके बल पर
जो करते थे श्रम : उनके लिए।"[1]

यह श्रम किस प्रकार का था। कारखानों और मिलों में काम करने का? नहीं! क्योंकि उन दिनों इनका अस्तित्व ही नहीं था। यह श्रम भूमि का श्रम था। भोजन के लिए फसलें उगाना अथवा वस्त्रों के लिए भेड़ें पालना। यह खेती का श्रम था जो आज के श्रम से इतना भिन्न था कि आज हम उसे शायद ही समझ सकें।

पश्चिम और मध्य योरोप की अधिकांश कृषि योग्य भूमि ऐसे क्षेत्रों में विभाजित थी जिन्हें "मनोर" (जागीर) कहते थे। इस जागीर में एक गांव होता और इसके आसपास सैकड़ों एकड़ कृषि योग्य भूमि होती थी जिस पर गांव के लोग काम करते थे। कृषि-भूमि की सीमा पर प्रायः निर्जन, अनुपयोगी भूमि, जंगल, वनस्थली और चरागाहों का फैलाव होता था। इन जागीरों का रूप भिन्न-भिन्न स्थानों पर विस्तार, संगठन और बसे हुए लोगों के परस्पर सम्बन्धों के आधार पर भिन्न-भिन्न होता परन्तु इनकी मूल विशेषतायें कुछ-कुछ समान थीं।

प्रत्येक जागीर का एक जागीरदार या भूपति होता था। सामन्तवादी युग के सम्बन्ध में एक सामान्य कथन था कि "बिना भूपति की भूमि और बिना भूमि का भूपति नहीं" हो सकता। आपने सम्भवतः मध्य युग के इन सामन्त भूपतियों के मकान सिनेमा चित्रों में देखे होंगे। इन्हें पहचान लेना हमेशा आसान होता है क्योंकि भले ही वह एक विशाल दुर्ग हो अथवा एक अच्छा खासा खेत पर वह हमेशा गढ़ीनुमा होता है। इस गढ़ीनुमा निवास में जागीर का स्वामी सामन्त अपने सेवकों, कर्मचारियों और परिवार के साथ रहता है। (या कभी कभी रहने आ जाता है क्योंकि एक सामन्त के पास कई जागीरें होती थीं—कई सामन्त सैकड़ों जागीरों के स्वामी होते थे।)

चरागाह, वनस्थली, जंगल और बंजर सबके साझे थे पर कृषि-भूमि दो भागों में विभाजित थी। पहला भाग जो प्रायः समस्त भूमि का तीसरा हिस्सा होता था भूमिपति के निजी स्वामित्व में रहता था, जिसे "डिमेन" अथवा 'स्वधृत

[1]P. Boissonnade, *Life and Work in Medieval Europe (fifth to fifteenth centuries)*, P. 146, Alfred A. Knopf, N.Y., 1927.

भूमि' कहते थे। दूसरा भाग रैयत के हाथों में होता था जो भूमि पर अपने हाथों से खेती करते थे। इस जागीर प्रथा की एक अजीब बात यह थी कि प्रत्येक किसान की भूमि इकट्ठी न होकर छोटे-छोटे टुकड़ों की पट्टियों में अलग-अलग कुछ इस प्रकार बिखरी होती थी :

इस मानचित्र से स्पष्ट है कि 'अ' की भूमि तीन क्षेत्रों में फैली हुई है और लम्बी पट्टियों में बंटी हुई है, जिसमें से कोई दो पट्टियां भी एक दूसरे से लगी हुई नहीं हैं। 'ब' और अन्य किसानों के भूमि खंड भी इसी प्रकार हैं। सामन्तयुग के आरम्भिक काल में भूपति की स्वधृत भूमि भी इसी प्रकार अलग-अलग बिखरे हुए टुकड़ों में बंटी रहती थी। पर बाद में यह एक विस्तृत भूखंड का रूप लेने लगी।

पट्टियों में बंटी हुई खेती सामन्तयुग की एक अपनी विशेषता थी। स्पष्ट ही यह व्यवस्था बहुत हानिप्रद थी और कुछ सौ वर्षों के बाद उसे बिल्कुल छोड़ दिया गया। खाद के उपयोग और फसलों के परिवर्तन एवं भूमि से अधिक से अधिक फसल प्राप्त करने के बारे में आज हम सामन्त युग के किसान की अपेक्षा बहुत अधिक सीख चुके हैं। इस युग की सबसे बड़ी उन्नति थी दुफसली से तिफसली प्रथा को अपनाना। यद्यपि सामन्तकालीन किसान अभी यह नहीं जानता था कि भूमि की उर्वरता को बनाए रखने के लिए किस फसल के बाद कौन सी फसल उगाना सबसे अधिक उपयुक्त होगा पर वह इतना अवश्य सीख

चुका था कि एक ही खेत में प्रतिवर्ष एक ही फसल उगाना हानिप्रद है। परिणामत: वह अपनी फसल एक खेत से दूसरे खेत में बदलता रहता था। पहले वर्ष खेत 1 मे अनाज–गेहूं, मक्का, राई के साथ खेत 2 में जौ उगाया जा सकता है और खेत 3 खाली छोड़ा'' जा सकता है। तिफसली खेती का विभाजन कुछ इस प्रकार हो सकता है।

	पहला वर्ष	दूसरा वर्ष	तीसरा वर्ष
खेत 1	गेहूं	जौ	परती
खेत 2	जौ	परती	गेहूं
खेत 3	परती	गेहूं	जौ

सारांश में सामन्तयुग की दो विशेषताएं थीं। पहली, कृषि योग्य भूमि दो भागों में विभाजित थी। एक भाग भूपति के निजी स्वामित्व में रहता था और उसके निजी लाभ के लिए जोता जाता था। दूसरा भाग रैयत में बंटा रहता था। दूसरे, भूमि की जुताई आज की तरह एक साथ नहीं होती थी, अपितु बिखरी हुई पट्टियों में हुआ करती थी। एक तीसरी विशेषता और भी थी कि किसान न केवल अपने खेत पर ही काम करता था अपितु अपने स्वामी की निजी भूमि पर भी उसे काम करना पड़ता था।

किसानों के मकान बहुत ही भद्दे किस्म के घरौंदे से होते थे। इंग्लैंड में एक साधारण किसान की औसत भूमि पन्द्रह से तीस एकड़ और फ्रांस में चालीस से पचास एकड़ थी इस भूमि की बिखरी हुई खेत-पट्टियों पर कठोर और दीर्घ श्रम करने के पश्चात किसान शायद ही भरपेट साधारण भोजन भी जुटा पाता होगा। यदि उसे सप्ताह में दो तीन दिन अपने भूपति की भूमि पर बेगार न करनी पड़ती तो वह अपना जीवन बेहतर बना सकता था। परन्तु उसकी बेगार केवल भूपति की भूमि पर काम करने तक ही सीमित न थी। जब कभी काम का जोर पड़ता, जैसा कि फसल की कटाई के समय होता है, तो किसान को अपना खेत छोड़ कर पहले भूपति के निजी खेतों की कटाई करनी पड़ती। ये 'वरदान दिवस' उसकी नियमित बेगार के अतिरिक्त थे। यह प्रश्न तो कभी उठता ही नहीं था कि किस की भूमि का महत्व अधिक है। भूपति की भूमि पहले जोती और बोयी जाती और उसकी फसलें पहले कटती थीं। अगर मौसम खराब

है, तूफान से फसल खराब होने का अन्देशा है तो भूपति की फसल की रक्षा का प्रबन्ध पहले होना चाहिए। अगर खेत की कटाई का समय आ गया है और फसल जल्दी ही कटनी चाहिए तो किसान को अपना खेत छोड़ कर भूपति का खेत पहले काटना होगा। यदि उपज आवश्यकता से अधिक है और हाट में बेची जाती है तो रैयत का काम है कि वह पहले अपने स्वामी के अनाज को, तथा उसके अनाज से निकाली गई मदिरा को मंडी में ले जाकर बेच आये। अगर कहीं कोई सड़क खराब हो गई है या कोई पुल टूट गया है जिसे तत्काल मरम्मत की आवश्यकता है तो रैयत किसान को अपना काम छोड़ कर सड़क या पुल की मरम्मत का काम करना होगा। यदि किसी किसान को अपना गेहूं चक्की में पिसवाना है या वह अपने खेत में पैदा हुए अंगूरों से मदिरा निकलवाना चाहता है तो भूपति के कोल्हू और चक्की का वह खुशी से लाभ उठा सकता है। किन्तु इसके लिए उसे मूल्य देना होगा। जागीर का स्वामी अपनी रैयत पर अपने अधिकार का दावा किस प्रकार कर सकता है, इसकी कोई सीमा नहीं थी। बारहवीं शताब्दी के एक प्रेक्षक के अनुसार किसान अपनी अंगूरी मदिरा का घूंट नहीं भर सकता; अच्छे अनाज का दाना नहीं चख सकता; उसके लिए इतना ही काफी है कि वह छोटे अनाज की रूखी सूखी रोटी मक्खन या पनीर के टुकड़े के साथ निगल कर अपने आपको जीवित रख सके।

> अगर उसके पास मोटी ताजी मुर्गी या बत्तख है,
> अगर उसके पास मैदे के केक हैं,
> तो वह सब उसके स्वामी भूपति के लिए हैं।"[1]

क्या उस युग का किसान दास था? सच तो यह है कि अधिकांश किसान "सर्फ" कहलाते थे, जिसकी व्युत्पत्ति लैटिन शब्द "सरवस" से हुई है--जिसका अर्थ है "दास"। परन्तु दास शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है, उस अर्थ में वे दास नहीं थे। अगर मध्य युग में समाचार पत्र होते तो भी किसी समाचार पत्र के पृष्ठ पर इस प्रकार का "विज्ञापन" दिखाई नहीं दे सकता था जैसा कि चार्ल्स्टन कूरियर के 12 अप्रैल 1828 के अंक में प्रकाशित हुआ। "एक बहुमोल परिवार........... बिक्री के लिए.. 35 वर्षीय रसोइयन

[1] *Ibid.*, p.146.

अपनी 14 वर्षीय पुत्री और आठ वर्षीय पुत्र के साथ। सारा परिवार इकट्ठा अथवा अलग-अलग खरीदार की सुविधानुसार बिकाऊ है।"

स्वामी की इच्छा अनुसार नीग्रो परिवार के इस विभाजन के समान किसी भूसक्त दास के परिवार को नहीं तोड़ा जा सकता था। भूसक्त दास को अपने परिवार को अविभक्त रखने का अधिकार था। भूपति की इच्छा-अनिच्छा का कोई जोर इस पर नहीं था। भूपति की इच्छा की उपेक्षा करते हुए भूसक्त दास को अपने परिवार को अविभक्त रखने का अधिकार था। दास उस सम्पत्ति के एक अंश के समान था, जिसे कहीं भी बेचा या खरीदा जा सकता था। परन्तु भूसक्त दास को उसकी भूमि से अलग नहीं किया जा सकता था। उसका स्वामी अपनी जागीर को किसी दूसरे के नाम पर कर सकता था, पर उस अवस्था में उसकी किसान रैयत पर इतना ही प्रभाव पड़ेगा कि उसका स्वामी बदल जाएगा, पर वह रहेगा अपनी पुश्तैनी भूमि पर ही। यह एक महत्वपूर्ण अन्तर था क्योंकि उससे किसान को सुरक्षा प्राप्त थी जो एक दास के लिए असम्भव थी। भूपति का अपनी रैयत के साथ चाहे कितना भी बुरा व्यवहार होता हो, पर हर किसान के पास उसका अपना एक घर, और परिवार था और उपयोग के लिए कुछ कृषि-भूमि। क्योंकि किसान को यह सुरक्षा प्राप्त थी, अतः कभी ऐसा भी होता था कि कोई स्वतंत्र व्यक्ति जो किसी कारणवश जीवन के समस्त साधन खो बैठता था, घर, जमीन और भोजन से वंचित होकर चन्द सिक्कों और भोजन की सुविधा के लिए "स्वयं ही अपने गले में पट्टा बांध लेता था, किसी भूपति की जागीर में कृषक दास बन कर"।[1]

भूसक्त-दासता के कई रूप थे। आज इतिहासकार के लिए उसके विभिन्न रूपों और उनके अन्तर की खोज करना सहज संभव नहीं। एक श्रेणी "स्वधृत भूसक्त दास" की थी जो स्थायी रूप से भूपति के महल में रहते थे और सप्ताह में दो या तीन दिन नहीं बल्कि हमेशा उसकी निजी भूमि पर ही काम करते थे। इसके अतिरिक्त बहुत निर्धन "सीमावाले" किसानों की एक श्रेणी थी जिनके पास सम्पत्ति के नाम पर गांव ही की सीमा पर कुल दो या तीन एकड़ भूमि होती थी। कुछ किसान ऐसे भी थे जिनके पास एक झोंपड़े के सिवाय भूमि का छोटा-सा टुकड़ा भी न था और जो सम्भवतः पेट भरने के लिए भूपति की भूमि

[1] *Ibid.*, p.136.

पर किराये पर काम करते थे। ये "झुग्गीवाले" कहलाते।

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ "अर्ध-स्वतंत्र" किसान ऐसे भी थे जो कृषक-दास होते हुए भी स्वतंत्रता की राह पर कुछ कदम बढ़ा चुके थे और उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक और आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त थी। अन्य कृषक-दासों की अपेक्षा इन्हें अधिक सुविधा प्राप्त थी और भूपति के प्रति इनके दायित्व भी सीमित थे। एक मुख्य अन्तर यह था कि साधारण किसानों की अपेक्षा भूपति के प्रति इनकी सेवायें बहुत कुछ निश्चित थीं। यह एक बहुत बड़ा लाभ था क्योंकि अपनी वर्तमान एवं भविष्य परिस्थिति को वे ठीक-ठीक समझ सकते थे। भूपति की सनक पर उन्हें कभी भी किसी सेवा के लिए नहीं बुलाया जा सकता था। अत: यह "वरदान दिवस" की सेवाओं से मुक्त थे और अपनी नियमित सेवा ही किया करते थे। कुछ ऐसे भी थे जो बेगार बिलकुल भी नहीं करते थे। और भूपति को अपनी उपज का एक भाग दिया करते थे जैसा कि आजकल भी फसल के हिस्सेदारों में प्रचलित है। अन्य ऐसे भी थे जो बेगार नहीं करते थे पर उसके बदले रकम दिया करते थे। समय के साथ यह प्रथा बल पकड़ती गई और कालान्तर में काफी महत्वपूर्ण हो गई। बहुत से अर्ध-स्वतंत्र किसान इतने सम्पन्न थे कि वे स्वतंत्र व्यक्तियों जैसा जीवन ही बिताते थे। और अपनी भूमि के अतिरिक्त भूपति की निजी भूमि का कुछ भाग किराये पर लेने की सामर्थ्य रखते थे। एक श्रेणी उन स्वतंत्र किसानों की भी थी जो स्वतंत्र स्वत्वधारी थे और जो कोई बेगार सेवा नहीं करते थे अपितु भूपति को केवल भूमिकर दिया करते थे। स्वतंत्र से अर्ध-स्वतंत्र और भूसक्त दासों के भूमि अधिकार धीरे-धीरे विभिन्न स्थितियों से गुजरते हुए एक-दूसरे में विलीन होते गए। आज यह स्थापित करना अत्यन्त कठिन है कि कौन कब क्या था और प्रत्येक श्रेणी की वास्तविक स्थिति क्या थी।

जागीरदारी प्रथा की सही तस्वीर देना इसलिए भी सम्भव नहीं क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों पर उनकी परिस्थितियों और अवस्थाओं में बहुत अन्तर था। तथापि, सामन्तयुग की समस्त बेगार सेवा के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत तथ्यों को निश्चय के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है।

किसी न किसी रूप में सभी किसान आश्रित थे। भूपति की यह मान्यता थी कि किसानों का अस्तित्व ही केवल उसके लिए है। भूपति और कृषक-दासों

के बीच समानता का तो कभी प्रश्न ही न था। कृषक भूमि से काम लेते थे और भूपति उन कृषक दासों से काम लेते थे। जहां तक भूपति का प्रश्न है, उसके लिए एक कृषक दास में और उसके पशुधन में कोई विशेष अन्तर न था। वास्तविकता यह है कि 11वीं शताब्दी में एक फ्रांसीसी किसान का मूल्य 38 साउस लगाया गया था जबकि एक घोड़े की कीमत 100 साउस थी। जिस प्रकार भूपति को अपने बैल की हानि की चिन्ता होगी क्योंकि उसे अपनी भूमि पर काम करने के लिए उसकी आवश्यकता है, उसी प्रकार वह किसी कृषक-दास मानव-पशु के लिए भी चिन्तित होगा जिसकी उसे भूमि पर काम करने के लिए आवश्यकता है। यही कारण है कि यद्यपि कृषक-दास को अपनी भूमि से अलग करके बेचा नहीं जा सकता था पर वह अपनी भूमि छोड़ भी नहीं सकता था। "उसकी खेती बाड़ी उसकी 'अधिकृत भूमि' थी पर कानून की दृष्टि से वह स्वयं भूमि द्वारा अधिकृत था न कि भूमि उसके अधिकृत थी"।[1] अगर कोई कृषक-दास भागने की कोशिश करते हुए पकड़ा जाता तो उसे कठोर दंड का भागी होना पड़ता था, और वापिस लौटने के अतिरिक्त तो कोई दूसरा चारा ही न था। ब्रैडफोर्ड जागीर के 1349-1358 के अदालती कागजों में एक बयान इस प्रकार है-"प्रस्तुत किया जाता है कि विलियम चाइल्डयंग की पुत्री ऐलिस जो भूपति की बन्धक स्त्री है, यार्क में रह रही है। अतः उसे बन्दी किया जाए।"[2]

क्योंकि भूपति अपने किसी श्रमिक को खोना नहीं चाहता था, अतः ऐसे कानून थे कि जिनके अनुसार कृषक-दास अथवा उसकी सन्तान भूपति की विशेष अनुमति प्राप्त किए बिना उसके अधिकृत क्षेत्र से बाहर विवाह नहीं कर सकते थे। जब एक कृषक-दास की मृत्यु होती तो उसका निकटतम उत्तराधिकारी एक निश्चित कर की अदायगी के पश्चात उसकी खेती-बाड़ी को उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकता था। एक ऐसे ही मुकद्दमे का विवरण उपर्युक्त अदालत के कागजों में इस प्रकार मिलता है, "रिचर्ड के पुत्र रौजर का पुत्र रौबर्ट मर चुका है जिसके पास एक मकान और आठ एकड़ बन्धक भूमि थी। यह

[1] J.W. Thompson, *An Economic and Social History of the Middle Ages, 300-1300*, p.730. The Century Company, N. Y., 1928.
[2] *English Economic History, Select Documents*, p. 72. Compiled and edited by A.E. Bland, P.A. Brown, and R.H. Tawney, G. Bell & Sons, London, 1914.

स्थावर सम्पत्ति जागीर की प्रथा के अनुसार रौबर्ट के भाई और उत्तराधिकारी जॉन ने प्राप्त की है....... और वह पंजीकरण के लिए भूपति को तीन शिलिंग का दण्ड शुल्क प्रदान करता है।''[1]

उपर्युक्त उद्धरण में ''जागीर की प्रथानुसार'' शब्द महत्वपूर्ण हैं। सामन्ती समाज व्यवस्था को समझने के लिए यह वाक्यांश कुंजी का काम करता है: ''जागीर की प्रथा'' का अर्थ उस समय वही था जो आज किसी नगर अथवा देश के प्रशासन द्वारा पारित कानून का होगा। सामन्तयुग में प्रथा में वही शक्ति थी जो बीसवीं शताब्दी में कानून में है। मध्य युग में कोई ऐसी दृढ़ सरकार नहीं थी जो प्रशासन के समस्त दायित्व संभाल सकती। उस युग का सम्पूर्ण सामाजिक संगठन ऊपर से लेकर नीचे तक परम्पर कर्तव्य और दायित्वों के बन्धन पर आधारित था। भूमि स्वामित्व का अर्थ यह नहीं था कि आज जिस सीमा तक भूमि का मनचाहा उपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार उस युग में भी किया जा सकता था। ऐसे स्वामित्व में किसी के प्रति कुछ कर्तव्य सन्निहित थे जिन्हें पूरा करना आवश्यक था। उसमें चूक होने पर भूमि वापिस ली जा सकती थी: कृषक-दास से भूपति के लिए जो सेवा अपेक्षित थी और बदले में भूपति अपनी रैयत के लिए जो सेवायें प्रदान करते थे-जैसे युद्ध-काल में सुरक्षा, वे सब परस्पर अनुबन्धित थीं और प्रथा के अनुसार उनका पालन अनिवार्य था। निःसन्देह कभी ऐसा भी होता था कि कोई प्रथा तोड़ी गई हो जैसे कानून तोड़े जाते हैं। दो कृषक-दासों का झगड़ा उनके भूपति के न्यायालय में प्रथा के अनुसार सुलझाया जाता था। कृषक-दास और भूपति के मध्य कोई विवाद खड़ा होता तो उसका निर्णय प्रायः भूपति के पक्ष में होना ही सम्भव था, क्योंकि विवाद का निर्णायक वह स्वयं ही होता था। तथापि ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जब किसी भूपति को प्रथा का उल्लंघन करने पर अपने अधिपति के प्रति उत्तरदायी होना पड़ा। विशेष रूप से इंग्लैंड में ऐसा होता था, जहां किसानों की शिकायत राज दरबार में सुनी जा सकती थी।

एक जागीर के भूपति का किसी दूसरी जागीर के भूपति से विवाद उठ खड़े होने पर क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर से सामन्त प्रथा का एक महत्वपूर्ण पहलू प्रकट होता है। जागीर का स्वामी भूपति भी एक कृषक-दास की भांति

[1]*Ibid.*, p. 66.

भूमि का स्वामी नहीं होता था अपितु वह स्वयं किसी अन्य बड़े पद वाले भूपति की प्रजा था। कृषक-दास, अर्ध-स्वतंत्र दास, अर्ध-स्वतंत्र और स्वतंत्र किसान अपनी भूमि का अधिकार भूपति से प्राप्त करते थे, और भूपति वह अधिकार काउंट से, काउंट ड्यूक से, और ड्यूक अपना अधिकार राजा से "प्राप्त करता" था। कभी-कभी यह श्रृंखला और भी आगे तक जाती थी और एक राजा दूसरे राजा से भूमि का अधिकार प्राप्त करता था। अंग्रेजी न्यायालय के 1279 के एक लेख के अनुसार निम्न अवतरण से स्वामित्व की इस जटिलता का ठीक पता चलता है: "सेंट जरमैन निवासी रोजर ने ब्रेडफोर्ड निवासी रौबर्ट से एक भूमि का टुकड़ा प्राप्त किया जिसके लिए उसने उक्त रौबर्ट को तीन पेंस दिए और 6 पेंस उसने रौबर्ट के स्थान पर रिचर्ड हैलचेस्टर को दिए जिससे रौबर्ट ने वह भूमि प्राप्त की है। रिचर्ड को वह भूमि ऐलन द शार्त्रे से प्राप्त हुई है जिसे वह दो पेंस प्रतिवर्ष देता है: ऐलन को यह भूमि बटलर विलियम से मिली है, विलियम को लार्ड गिल्बर्ट द नेबिल से, गिल्बर्ट को श्रीमती देवोरगिल द बलिओल से और देवोरगिल को यह भूमि स्काटलैंड के राजा से प्राप्त है। उस राजा ने यह भूमि इंग्लैंड के राजा से प्राप्त की है।"[1]

इसका यह अर्थ नहीं कि भूमि का यह टुकड़ा ही ऐलन, विलियम या गिल्बर्ट आदि की कुल भूमि थी। कोई जागीर किसी भूपति की एकमात्र सम्पत्ति भी हो सकती है अथवा वह उसके विशाल भू-प्रदेश का एक छोटा-सा अंश भी हो सकती है और वह विशाल भू-प्रदेश स्वयं भी अनुदान के रूप में मिली हुई उससे विस्तृत भू-सम्पत्ति का एक भाग हो सकता है। कुछ भूपतियों के अधिकार में छोटी-मोटी जागीरें ही थीं, कुछ के पास बड़ी-बड़ी रियासतें थीं और कुछ ऐसे भी थे, जिनके पास विस्तृत भू-खंड थे, जो अलग-अलग स्थानों में बिखरे हुए थे। उदाहरण के लिए इंग्लैंड के एक धनी ताल्लुकेदार के पास 790 इलाकों की रियासतें थीं। इटली के कुछ बड़े भूपतियों के पास 10,000 से भी अधिक जागीरें थीं। नाम के लिए राजा ही समस्त भूमि का स्वामी माना जाता था। और निःसन्देह उसके पास विस्तृत रियासतें रहती थीं जो देश भर में फैली होती थीं।

---

[1] *Translations and Reprints from the Original Sources of European History*, vol. IV, Section III, p.22. Series for 1897. Department of History of the University of Pennsylvania, Philadelphia, 1898.

जो लोग सीधे ही राजा से भूमि प्राप्त करते थे, भले ही वह ताल्लुकेदार श्रेणी के हों या साधारण स्वतंत्र किसान, प्रधान रैयत कहलाते थे।

समय के साथ बड़ी रियासतें छोटे-छोटे भू-खंडों में बंटती रहीं जो एक से दूसरे स्तर के ताल्लुकेदारों के अधिकारों में आती गईं। इसका कारण क्या था? केवल यही कि प्रत्येक भूपति अपने साथ अधिक असामी रखना आवश्यक समझता था और उसका एक ही उपाय था कि वह अपनी भूमि असामियों में बांटता रहे।

आजकल हमारे आपके उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए भूमि, कारखाने, मिलें, रेलवे, जहाज और हर प्रकार की मशीनें आवश्यक हैं और किसी व्यक्ति का धनी अथवा निर्धन कहलाना इस बात पर निर्भर करता है कि उत्पादन के इन विभिन्न साधनों पर उसका कितना अधिकार है। लेकिन सामन्तयुग में मनुष्य की आवश्यकता की समस्त वस्तुओं के उत्पादन का एकमात्र साधन भूमि ही थी ओर इसलिए केवल भूमि ही उस युग के मनुष्य के भाग्य की कुंजी थी। व्यक्ति की सम्पत्ति की माप केवल एक ही वस्तु से की जा सकती थी और वह थी भूमि। जिसके अधिकार में जितनी अधिक भूमि थी, वह उतना ही धनी था। अत: यह स्वाभाविक ही था कि भूमि के लिए निरन्तर संघर्ष बना रहता था और आपको यह जानकर आश्चर्य न होगा कि सामन्तयुग में लड़ाइयां बहुत अधिक हुआ करती थीं। युद्धों के जीतने के लिए यह आवश्यक था कि अधिक से अधिक लोग आपकी तरफ हों। और उसका उपाय एक ही था कि सहायता पाने के लिए आप योद्धाओं को पुरस्कृत करें। वे आपको कुछ शुल्क भूमि-कर के रूप में देंगे और जब भी आपको आवश्यकता पड़े, आपकी सहायता करेंगे। इस अनुबन्ध के लिए आप उन्हें भूमि का अनुदान देते थे। इस प्रकार सन् 1200 के इस पुराने फ्रांसीसी अनुलेख से यह ज्ञात होता है: "मैं ट्राय का राज्याधिकारी काउण्ट थीबो समस्त उपस्थित ओर आगन्तुक लोगों को ज्ञापित करता हूँ कि मैंने जोसीलिन देवलां और उसके उत्तराधिकारियों को शुल्क के रूप में गिलेनकोर्ट नामक जागीर प्रदान की है, जोसीलिन इसके बदले में मेरा सेवक नियुक्त हुआ है।"[1]

[1] J.H. Robinson, *Readings in European History*, vol. 1, p. 177. Ginn & Company, Boston, 1904.

काउंट के सेवक के नाते जोसीलिन से सम्भवत: अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त यह भी अपेक्षित था कि वह अपने स्वामी को सैनिक सेवा प्रदान करेगा। शायद उसे एक निश्चित संख्या में निश्चित अवधि के लिए हथियारों से लैस सैनिक देने पड़ते थे। इंग्लैंड और फ्रांस में एक योद्धा की सेवा की अवधि सामान्यत: चालीस दिन की थी। पर सेवा का अनुबन्ध इससे आधी अथवा चौथाई सेवा के लिए भी हो सकता था। 1272 ई. में फ्रांस का राजा युद्ध में था अत: उसने अपनी सैनिक प्रजा को शाही सेना में सम्मिलित होने के लिए बुलवा भेजा; कुछ आए और उन्होंने निश्चित अवधि तक स्वयं युद्ध में भाग लिया। कुछ ने अपने स्थानापन्न भेज दिए। "योद्धा रेजिनाल्द त्रिहन स्वयं उपस्थित होकर युद्ध में सम्मिलित हुआ। योद्धा विलियम ने अपने स्थान पर थामस शौकेत को दस दिन के लिए भेजा। योद्धा जान द शान्तेलू ने उपस्थित होते हुए कहा कि उसकी सेवा 10 दिन की है और साथ ही वह योद्धा गौदर्दु द गौदर्दविल के स्थान पर उपस्थित हुआ है जिसे 40 दिन की सेवा देनी है।"[1]

राजकुमार और ताल्लुकेदार अपनी सैनिक सेवाओं के बदले जो भूमि प्राप्त करते थे, वे दूसरों को उन्हीं शर्तों पर दे डालते थे। इन अनुबन्धों द्वारा स्थापित अधिकारों और कर्त्तव्यों में स्थान और परिस्थिति के अनुसार काफी अन्तर रहता था; पर मोटे तौर पर प्राय: समस्त पश्चिम और मध्य यूरोप के काफी भाग में उनका स्वरूप लगभग समान था। प्रजा को अपनी इच्छानुसार अपनी भूमि बेचने का अधिकार नहीं था। यदि वे भूमि को किसी दूसरे के नाम करना चाहते तो उन्हें अपने भूपति की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी और उसके लिए उन्हें निश्चित शुल्क देना पड़ता था। जिस प्रकार एक कृषक-दास के उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए अपने भूपति को कर देना पड़ता था उसी प्रकार भूपति के उत्तराधिकारी को भी अपने अधिपति को उत्तराधिकार शुल्क देना पड़ता था। अगर किसी रैयत की मृत्यु हो जाए ओर उसका उत्तराधिकारी अल्पवयस्क हो तो उसके वयस्क होने तक उसकी समस्त सम्पत्ति पर उसके भूपति का नियंत्रण रहता था। इसके पीछे सिद्धान्त यह था कि अल्पवयसक होने के कारण सम्भवत: उत्तराधिकारी उन कर्त्तव्यों का पालन न कर सके जिनके अन्तर्गत उसे भूमि पर अधिकार प्राप्त है, अत: भूपति उसके वयस्क होने तक

[1] *Translations and Reprints, op. cit.*, p. 31.

उसकी सम्पत्ति को अपने अधिकार में ले लेता था और इसकी आय को रख लेता था।

स्त्री उत्तराधिकारिणी को अपने विवाह के लिए अपने अधिपति की अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। 1221 में नेवर्स की काउण्टेस ने स्वीकार किया, "मैं नेवर्स की काउण्टेस मतिल्दा, उन सबको ज्ञापित करती हूँ, जो इस पत्र को देखेंगे, कि मैंने परमात्मा की कृपा से फ्रांस के सुविख्यात राजा, अपने प्रिय भूपति फिलिप के प्रति पवित्र धर्मग्रन्थों की शपथ ली है कि समस्त जीवित स्त्रियों और पुरुषों की अपेक्षा उसकी सेवा में सच्ची और ईमानदार रहूंगी और उसकी इच्छा और कृपा के बिना विवाह नहीं करूंगी।"[1]

सन् 1316 के एक अंग्रेजी अभिलेख से जो एक प्रधान रैयत की विधवा से सम्बन्धित है, ज्ञात होता है कि यदि कोई विधवा पुनर्विवाह करना चाहे तो उसे अपने भूपति को दंड-शुल्क देना पड़ता था। "राजा तथा समस्त जन आदि को यथा योग्य। सबको ज्ञात हो कि मृत सिमन डार्चेस वौलिगफोर्ड जो हमारा सम्मानित प्रधान रैयत था, उसकी विधवा जोन के नाम पर से 100 शिलिंग दंड-शुल्क प्राप्त कर हमने जोन को अनुमति दी है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी से विवाह कर सकती है बशर्ते कि वह आदमी हमारी प्रजा हो।"[2]

दूसरी ओर कोई विधवा पुनर्विवाह न करना चाहे तो उसे भी दंड-शुल्क देना पड़ता था ताकि अपने अधिपति की इच्छा पर उसे विवाह के लिए बाध्य न किया जाय। "वौरिक की काउण्टेस ऐलिस 1000 पौंड नकद और दस टट्टू भेंट करती है ताकि उसे अपनी इच्छानुसार, जब तक वह चाहे, विधवा रहने की अनुमति प्रदान की जाय ओर उसे राजा द्वारा विवाह करने के लिए बाध्य न किया जाए।"[3]

स्वामी से प्राप्त भूमि और संरक्षण के बदले उसके प्रति सेवक के ये सब कर्त्तव्य थे तथा इनके अतिरिक्त कुछ और भी थे। अगर भूपति किसी शत्रु द्वारा मुक्तिधन के लिए पकड़ लिया गया हो, तो उसके सेवकों का कर्त्तव्य था कि वे उसके छुटकारे के लिए धन देकर उसकी मदद करें। जब किसी भूपति के पुत्र

---

[1] *Translations and Reprints, op. cit.,* p. 24.
[2] Bland, Brown, and Tawney, *op. cit.,* p.29.
[3] *Translations and Reprints, op. cit.,* p. 26.

को नाइट (योद्धा) की उपाधि मिलती थी तो एक प्रथा थी कि वह अपनी प्रजा से "सहायता" के नाम पर रकम प्राप्त करता था। जो शायद उस अवसर के उत्सव आयोजनों के खर्च के लिए होती थी। सन् 1254 में बाल्डविन नामक एक व्यक्ति ने यह रकम देने में आपत्ति प्रकट की। उसकी दलील यह थी कि जिस राजा के पुत्र को योद्धा की उपाधि दी जा रही थी, वह उसका सीधा भूपति नहीं था। अंग्रेजी राजकोष आलेख के अनुसार इस दलील के आधार पर वह अपना मुकद्दमा जीत गया। "बाल्डविन के कथनानुसार, अगर बाल्डविन द फ्रिविल मुख्यत: राजा की प्रजा नहीं है अपितु उसने अपनी भूमि अलेक्जेंडर द अैबटोट से प्राप्त की है, अलेक्जेंडर ने विलियम द बोशैम्प से, विलियम ने वर्स्टर के बिशप से, तथा बिशप ने सीधे सम्राट से भूमि प्राप्त की है तो वर्स्टर जिलाधीश को आज्ञा दी जाती है कि राजा के पुत्र को योद्धा बनाने के उपलक्ष्य में प्राप्त होने वाले धन के लिए उसकी जो कुर्की होने वाली है, उससे उसे मुक्त किया जाए।"[1]

अब ध्यान देने की बात यह है कि बाल्डविन और राजा के बीच भूस्वामियों की सामान्य श्रृंखला है और श्रृंखला में वर्स्टर का बिशप भी है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है और इससे ज्ञात होता है कि चर्च संस्था इस सामन्त व्यवस्था का एक अभिन्न अंग थी। एक प्रकार से यह संस्था उतनी महत्वपूर्ण नहीं थी जितना कि इस व्यवस्था के शिखर पर बैठा हुआ व्यक्ति राजा। पर दूसरे रूप में यह उससे भी अधिक महत्वपूर्ण थी। चर्च एक संगठन था जिससे समस्त ईसाई जगत व्याप्त था। यह किसी भी राजा से अधिक शक्तिशाली, अधिक व्यापक, अधिक पुरातन और चिरन्तन था। वह धार्मिक श्रद्धा का युग था और नि:सन्देह चर्च में अद्भुत आत्मिक शक्ति और प्रतिष्ठा सन्निहित थी। इसके अतिरिक्त इसके पास भूमि थी जो इस युग में धन का एकमात्र साधन था। चर्च सामन्तयुग का सबसे बड़ा भू-स्वामी था। जो लोग अपने बीते हुए जीवन के तौर-तरीकों से चिन्तित थे और अपना परलोक सुधारना चाहते थे, वे मृत्यु से पूर्व चर्च को भूमि दान करते थे। जो लोग यह समझते थे कि चर्च गरीबों और बीमारों की सेवा का नेक काम कर रहा है और वे इस नेक काम में सहायक होना चाहते थे, तो चर्च को भूमि दान देते थे। कुछ ताल्लुकेदार और राजाओं का यह नियम

[1]*Translations and Reprints, op. cit.*, p. 21.

ही था कि जब भी वे कोई युद्ध जीतते और शत्रु के विजित प्रदेश पर अधिकार करते थे तो उस भूमि का एक अंश वे चर्च को दे देते थे। इस प्रकार के अनेक मार्गों द्वारा चर्च की भूमि बढ़ती ही रहती थी ओर एक दिन वह आया जबकि पश्चिमी यूरोप की समस्त भूमि का लगभग आधा अथवा तीसरा हिस्सा चर्च के अधिकार में आ गया।

सामन्ती समाज के ढांचे के निर्माण में ड्यूक और काउण्ट आदि राज्याधिकारियों की भाँति ही धर्मोपदेशक पादरियों और महन्तों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। 1167 में बोवै के बिशप को प्रदत्त एक जागीर के अनुदान के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण मिलता है: "मैं ईश्वर की कृपा से फ्रांसीसियों का राजा लुई, समस्त उपस्थित और आगन्तुक लोगों को ज्ञापित करता हूं कि मान्ते में हमारी उपस्थिति में शैम्पेन के काउंट हेनरी ने सैविनी की जागीर बोवै के बिशप बार्थेलोम्यु ओर उसके उत्तराधिकारियों को प्रदान की है। इस जागीर के लिए बिशप ने एक योद्धा की सेवा प्रदान करने ओर काउण्ट हेनरी के प्रति राजभक्ति और न्याय का पालन करने की शपथ ली है और स्वीकार किया है कि यह अनुबन्ध उसके उत्तराधिकारियों के लिए मान्य होगा।"[1]

और जिस प्रकार एक चर्च एक भूपति से भूमि प्राप्त करता था, उसी प्रकार स्वयं भी भूपति के समान वह आगे भूमि का वितरण भी करता था। "महन्त फारिशस ने भी विलियम मौडिट के पुत्र रौबर्ट को चार हाइड भूमि जागीर के रूप में प्रदान की। उसके बदले में उसे जब भी ऐबिगडन का चर्च किसी युद्ध में भाग ले, चर्च के लिए योद्धा की अर्ध-सेवाएं प्रस्तुत करनी होंगी।"[2]

सामन्तवाद के आरम्भ काल में चर्च एक जीवित और प्रगतिवादी संस्था रहा है। चर्च के आश्रय में रोमन साम्राज्य की संस्कृति काफी समय तक फलती फूलती रही है। संस्था के रूप में चर्च ने शिक्षा को प्रोत्साहित किया। विद्यालयों की स्थापना की। गरीबों की मदद की। अपने अनाथालयों में गृहविहीन बच्चों को संरक्षण दिया और रोगियों के लिए चिकित्सालय खोले। संक्षेप में इन धर्मोपदेशक भू-स्वामियों ने अपनी रियासतों का प्रशासन बेहतरीन तरीके से किया और

[1] J.H. Robinson, *op. cit.*, vol. 1, p. 178.
[2] *Ibid.*

सामान्य भू-स्वामियों की अपेक्षा उन्होंने अपनी भूमि से अधिक प्रतिफल प्राप्त किया।

लेकिन इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी था। साधारण भू-स्वामी अपने असामियों को आकर्षित करने के लिए अपनी रियासतें अपनी प्रजा में बांटते चले गए पर चर्च के पास अधिक से अधिक भूमि एकत्र होती रही। पादरियों को विवाह की अनुमति न होने का एक कारण यह भी था कि चर्च के प्रधान पादरी चर्च के अधिकारियों की सन्तान के उत्तराधिकार द्वारा चर्च की भूमि का कोई अंश खोना नहीं चाहते थे। चर्च की सम्पत्ति की बढ़ोत्तरी "दशमांश"[1] द्वारा भी होती रही। यह चर्च के प्रत्येक अनुयायी की आय पर दस प्रतिशत का कर था जो उसे चर्च को देना पड़ता था। इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध इतिहासकार का कथन है: "दशमांश में भूमि पर आयकर और मृत्युकर समाहित था और यह कर आज के किसी भी कर से अधिक भारी था।......... दशमांश के अन्तर्गत किसान और निर्धन असामी न केवल अपनी समस्त उपज का दसवां हिस्सा ही देने को बाध्य थे,...ऊन के दशमांश में बत्तखों के रोयें तक सम्मिलित थे। सड़क के किनारे से काटी गई घास तक का दसवां हिस्सा भी दशमांश के रूप में ले लिया जाता था। जो किसान दशमांश निकालने से पहले अपने परिश्रम का मूल्य निकाल लेता, वह घोर नरक का भागी बनता था।"[2]

बहुत अधिक सम्पत्तिशाली हो जाने के कारण चर्च की आर्थिक सम्पत्ति ने उसकी आध्यात्मिक महत्ता को समाप्त कर दिया। अनेक इतिहासकारों का मत है कि एक भू-स्वामी के नाते चर्च किसी भी जमींदार अथवा जागीरदार से कम नहीं था। अपितु कई बातों में तो वह उनसे भी अधिक कठोर था। "सेंट लुई के शासन में कृषक दासों का शोषण इतना गहरा था कि रानी ब्लांचे को 'नम्रता से' इसका विरोध करना पड़ा जिसके उत्तर में पादरियों ने कहा कि 'यदि वे चाहें तो अपने दासों को भूखों मार सकते हैं'।"[3]

कुछ यहां तक सोचते हैं कि चर्च के धर्मार्थ कार्यों को वास्तविकता से अधिक महत्व दिया गया है। वे यह स्वीकार करते हैं कि चर्च ने निर्धनों और

---

[1]Cf. J. W. Thompson, *op. cit.*, pp. 656 Tr. ff.
[2]G.G. Coulton, quoted in J.W. Thompson, *op. cit.*, p. 652.
[3]*Ibid.*, p. 681.

रोगियों की मदद की, पर वे हमारा ध्यान उस ओर खींचते हैं कि चर्च मध्ययुग का सबसे शक्तिशाली और समृद्ध भू-स्वामी था। उनका तर्क है कि अपनी अपार सम्पत्ति के साथ चर्च जिस अनुपात में जो कुछ कर सकता था, उसकी तुलना में उसका काम उतना भी न था जितना कि एक सामान्य जमींदार का था। एक ओर चर्च धनी लोगों से अपने धर्मार्थ कार्यों के लिए मदद मांगता था, दूसरी ओर उसे इस बात का सदैव ध्यान रहा कि उसके अपने साधनों में कहीं भारी कमी न हो जाए। चर्च के इन आलोचकों का यह भी कहना है कि अगर चर्च ने अपने कृषक-दासों के साथ इतनी कठोरता का व्यवहार न किया होता, अगर उसने अपने किसानों का इतना शोषण न किया होता तो शायद उनके लिए उस दया की आवश्यकता ही न थी जिसे देने का दावा चर्च करता रहा है।

चर्च और सामन्त वर्ग शासक श्रेणी के थे। भूमि पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया और साथ ही इसकी आनुषंगिक सत्ता को भी अपने हाथों में ले लिया। चर्च ने लोगों को आत्मिक शान्ति दी और सामन्त वर्ग ने उन्हें संरक्षण दिया। इसके बदले में उन्होंने कामगार श्रेणी से श्रम के रूप में भुगतान प्राप्त किया। उस युग के विद्वान इतिहासज्ञ प्रोफेसर बौयसोनेड के शब्दों में: "अन्तिम उपाय के रूप में, सामन्तवाद ने एक ऐसे संगठन का आश्रय लिया जिसने ऐसे तथाकथित संरक्षण के बदले कामगर श्रेणी को एक आरामतलब श्रेणी की दया पर छोड़ दिया और भूमि उन लोगों को न देकर, जो इसे जोतते थे, उन्हें दी, जो इस पर अधिकार कर सकते थे"[1]।

[1]P. Boissonnade, *op. cit.*, p.131.

2. व्यापार के पथ पर

आजकल बहुत कम धनी लोग ऐसे हैं जो सोने और चांदी को अपने घरों के अन्दर सन्दूकों में बन्द करके रखते हों। जिनके पास रुपया है, वे इसे रोक कर नहीं रखना चाहते। वे चाहते हैं कि रुपया इनके लिए काम करे। अत: वे रुपया लगाने के लिए किसी लाभदायक धन्धे की खोज में रहते हैं। वे अपना रुपया रखने के लिए ऐसे स्थान खोजने का प्रयत्न करते हैं, जहां से उन्हें अधिक-से-अधिक लाभ मिल सके, अधिक-से-अधिक ब्याज मिल सके। उनका रुपया किसी व्यापार में लग सकता है या उनके लिए किसी स्टील कम्पनी के शेयर खरीद सकता है या सरकारी बांड खरीद सकता है अथवा ऐसे ही अन्य कई काम कर सकता है। आज रुपया लगाने के लिए हजारों रास्ते हैं जिनके बदले में और अधिक धन कमाया जा सकता है।

मध्ययुग के आरम्भिक काल में धनी लोगों के लिए ऐसी सम्भावना नहीं थी। रुपया बहुत कम लोगों के पास होता था और जिनके पास होता भी था, उनके लिए उसका कोई विशेष उपयोग नहीं था। चर्च के धन-भंडार सोने और चांदी के ढेर से भरपूर रहते थे जो या तो मजबूत सन्दूकों में बन्द रहते थे या वेदी के लिए सजावट का सामान खरीदने के काम आते थे। यह सम्पत्ति विशाल थी किन्तु उस युग का धन मृत धन था। आज की भांति उस युग की सम्पत्ति सक्रिय नहीं थी। चर्च का धन और अधिक धन अर्जन के काम में नहीं लगाया जा सकता था क्योंकि उसके निर्गम का कोई उपाय नहीं था। सामन्तवर्ग के पास जो धन संचित था, उसकी भी यही स्थिति थी। कर या दंड-शुल्क के रूप में यदि कोई रुपया उनके हाथों में आता तो वे उसे किसी व्यापार में नहीं लगा सकते थे क्योंकि व्यापार बहुत कम था। पादरियों और सामन्तों के पास जो भी धन था वह अगतिशील, निश्चित, स्थिर और अनुत्पादक था।

प्रश्न उठता है कि क्या उन दिनों दैनिक जीवन में चीजें खरीदने के लिए

रुपये की आवश्यकता नहीं पड़ती थी? नहीं। क्योंकि उस युग में प्राय: कुछ भी खरीदा नहीं जाता था। थोड़ा सा नमक और शायद कुछ लोहा। शेष सब कुछ–समस्त भोजन और वस्त्र, जो उस समय के लोगों की आवश्यकता थी, जागीर के भीतर ही प्राप्त कर लिया जाता था। सामन्तवाद के आरम्भ काल में समाज का आर्थिक जीवन रुपये के बहुत कम प्रयोग पर निर्भर था। वह उपभोग का अर्थतंत्र था जिसमें प्रत्येक जागीरी गांव व्यावहारिक रूप से आत्म–निर्भर था। आज यदि आपसे पूछा जाय कि आपने अपने नये ओवरकोट का क्या मूल्य दिया है तो शत प्रतिशत सम्भावना यही है कि आपका उत्तर रुपये पैसे में होगा। पर यही प्रश्न यदि आपसे मध्ययुग के आरम्भ में पूछा गया होता तो सम्भवत: आपका उत्तर होता: "मैंने इसे स्वयं तैयार किया है।" कृषक ओर उसका परिवार अपना भोजन स्वयं पैदा करता था और अपनी आवश्यकता का पूरा साजो–सामान स्वयं अपने हाथों से तैयार कर लेता था। यदि स्वामी को किसी चीज की आवश्यकता पड़ती तो वह शीघ्र ही अपनी जागीर के उन कारीगरों को अपने घर में लगा लेता जो उसके बनाने में कुशल हों। इस प्रकार जागीरी गांव प्राय: अपने आप में पूर्ण था। वह अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुओं का स्वयं ही उत्पादन करता ओर उनका उपभोग भी स्वयं करता था।

कुछ वस्तुओं की अदला–बदली चलती थी। सम्भव था कि आपके पास अपना कोट बनाने के लिए ऊन न हो या आपके परिवार में किसी के पास कोट बनाने का समय या कौशल न हो। उस स्थिति में कोट खरीदने के प्रश्न पर शायद आपका उत्तर होता: "मैंने इस कोट को पांच गैलन शराब देकर खरीदा है।" यह लेन–देन सम्भवत: दुर्ग या गढ़ी के बाहर किसी साप्ताहिक हाट में होता था अथवा किसी निकट के शहर में। वे हाट–बाजार किसी बिशप अथवा भूपति के नियन्त्रण में होते थे ओर यहां उनके किसानों या कारीगरों द्वारा उत्पन्न उसकी आवश्यकता से अतिरिक्त सामान की अदला–बदली होती थी। इस व्यापार का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। अतिरिक्त सामान बहुत अल्प मात्र में ही तैयार किया जाता था। अपनी आवश्यकता से अधिक सामान का उत्पादन तभी किया जाता है, जब उसकी नियमित मांग हो। जब मांग का अभाव हो तो अतिरिक्त उत्पादन के लिए कोई बढ़ावा नहीं मिलता। इसलिए इन साप्ताहिक हाटों में व्यापार हमेशा सीमित और प्राय: स्थानीय ही रहा करता था। व्यापार के विकास की सबसे बड़ी

रुकावट सड़कों की बुरी दशा थी। सड़कें तंग, ऊबड़-खाबड़ और यात्रा के अनुपयुक्त थीं और फिर उन पर डाकुओं का भय बना रहता था। ये डाकू दो प्रकार के होते थे, साधारण डाकू और सामन्तवादी भूपति जो व्यापारियों को रोक कर उन्हें अपनी घिनौनी सड़कों पर चलने का कर देने को बाध्य करते थे। भूपतियों द्वारा कर वसूल करना ऐसा सामान्य व्यवहार बन चुका था कि "जब 11वीं शताब्दी में तूर निवासी ओदो ने लौइर पर पुल बनवाया और उसे पार करने वालों के लिए निःशुल्क खोल दिया तो उसके व्यवहार पर सबको अचम्भा हुआ"।[1] व्यापार की राह में कुछ और भी कठिनाइयां थीं। धन बहुत अल्प था और जो था भी उसका रूप भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न था। नाप-तौल भी स्थान भेद से बदलता रहता था। स्पष्ट ही है कि इन परिस्थितियों में वस्तुओं को दूर तक लाद कर ले जाना कष्टदायक, खतरनाक, कठिन ओर बहुत खर्चीला था। इन सब कारणों से इन स्थानीय जागीरी हाटों में व्यापार बहुत सीमित रहा।

परिस्थितियां बदलीं। व्यापार का क्षेत्र सीमित न रहा। एक समय आया जब व्यापार बढ़ने लगा ओर धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि इसने मध्ययुग के समस्त जीवन में गहराई के साथ घर कर लिया। 11वीं शताब्दी ने व्यापार को लम्बे-लम्बे डग भरते देखा। 12वीं शताब्दी ने इसके परिणामस्वरूप पश्चिमी यूरोप का काया-पलट देखा।

साम्प्रदायिक युद्धों ने व्यापार को बहुत बल दिया। हजारों यूरोप निवासी समुद्र और धरती के रास्तों से अपने महाद्वीप को लांघ कर पवित्र भूमि को मुसलमानों से मुक्त कराने के लिए निकल पड़े। उन्हें रास्ते में हर प्रकार की रसद की आवश्यकता पड़ती और उन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सौदागर उनके साथ जाते थे। जो योद्धा पूर्वी देशों की यात्रा से लौट कर आते, वे अपने साथ अनूठे और ठाठदार भोजन और वस्त्रों की भूख लेकर आते जिसे उन्होंने अपनी यात्रा में देखा और भोगा था। उनकी मांग ने इन वस्तुओं के लिए बाजार पैदा किये। इसके अतिरिक्त 10वीं शताब्दी के पश्चात् आबादी में तीव्र वृद्धि हुई और इन अतिरिक्त लोगों को अतिरिक्त वस्तुओं की आवश्यकता पड़ी। इन अतिरिक्त लोगों में से अनेक भूमिहीन थे और उन्होंनें ऐसे युद्धों में अपने जीवन

[1] J.W. Thompson, *op. cit.*, p. 710.

की बेहतरी का अवसर देखा। प्रायः भूमध्यसागरीय मुसलमानों और पूर्वी यूरोप की आदिम जातियों के विरुद्ध सीमा संघर्षों को धर्म युद्ध के नाम से गौरव प्रदान किया गया जबकि वस्तुतः ये युद्ध, भूमि और लूट के लिए लड़े गये थे। चर्च ने इन युद्धों को वह रूप दिया जैसे कि इनका उद्देश्य ईसा के पवित्र संदेशों का प्रचार अथवा पाखण्डियों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकना अथवा पवित्र भूमि की रक्षा करना है और इस प्रकार जीविका के लिए की गई इन साहसिक यात्राओं को उसने सम्मान का एक आवरण प्रदान किया।[1]

पवित्र भूमि के दर्शनार्थ तीर्थ-यात्राएं उससे पहले भी होती रही हैं। (आठवीं से दसवीं शताब्दी तक इनकी संख्या 34 थी और ग्यारहवीं शताब्दी में यह संख्या 117 थी।) पवित्र भूमि की मुक्ति की कामना युद्ध में थी और उसे उन अनेकों का समर्थन प्राप्त था जिनका उसमें कोई भी स्वार्थ न था। परन्तु इस आन्दोलन की वास्तविक शक्ति और गति उन लाभों पर आधारित थी जो कुछ विशिष्ट वर्गों को प्राप्त हो सकते थे।

पहला स्थान चर्च का था। निःसन्देह इसके सम्मुख एक पवित्र धार्मिक उद्देश्य था। इसे यह भी बोध था कि वह युग युद्ध का था। अतः उसने योद्धाओं की भीषण युद्ध प्रवृत्ति को दूसरे देशों की ओर मोड़ दिया जो अगर जीत लिये जायें तो ईसाई बना लिये जायेंगे। 1095 में पोप अरबन द्वितीय फ्रांस में क्लेरमोंत के पास आया। वहां कोई ऐसा विशाल भवन न था जहां वे सब लोग सभा करते जो उसे सुनना चाहते थे। अतः उसने एक खुले मैदान में, अपने श्रोताओं को जिहाद पुकारने के लिए आह्वान किया, उस समय उपस्थित शार्त्रे निवासी फुल्चर लिखता है: "............. वे लोग जो अब तक आस्तिक जनों के साथ वैयक्तिक युद्धों में शैतानी भाग लेते रहे हैं, अब धर्म निन्दकों के विरुद्ध मोर्चा लें।...... वे लोग जो अब तक डाकू थे, अब सिपाही बनें। वे लोग जो अब तक अपने भाइयों और बन्धु-बान्धवों से लड़ते झगड़ते रहे हैं, अब बर्बर जातियों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दें, जो उनके लिए शोभाजनक होगा। वे लोग जो अब तक चन्द पैसों के लिए लड़ते रहे हैं, अब अमर कीर्ति के लिए आगे बढ़ें...।"[2] चर्च अपनी

[1]Cf. H.W.C. Davis, *Medieval Europe*, pp. 184-187, Thornton Butterworth, Ltd., London. 11th edition, 1930.

[2]J.H. Robinson, *op. cit.*, p. 314, footnote.

शक्ति का विस्तार चाहता था और ईसाई मत का घेरा जितना विस्तार पाता, उसकी शक्ति और धन में भी उतनी ही वृद्धि होती थी।

दूसरे, मुस्लिम शक्तियों के एशियाई केन्द्र के काफी नजदीक ही बैजण्टाइन चर्च और साम्राज्य था जिसकी राजधानी थी कौस्टेण्टिनोपल। एक ओर रोमन चर्च ने इन युद्धों में अपनी शक्ति के विस्तार का अवसर देखा, दूसरी ओर, बैजण्टाइन चर्च ने इन युद्धों को मुस्लिम शक्तियों को अपने क्षेत्र की ओर बढ़ने से रोकने के साधन के रूप में देखा।

तीसरी ओर राजा और योद्धा सैनिक लोग थे जो लूट चाहते थे या ऋण में दबे हुए थे। ऐसे युवक भी थे, जिन्हें उत्तराधिकार में बहुत कम, बल्कि कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ था। इन सबने ऐसे युद्धों में धन और भूमि प्राप्त करने का अचूक अवसर देखा।

चौथी ओर इटली के वेनिस, जेनेवा और पीसा नगर थे। वेनिस हमेशा से एक व्यापारिक नगर रहा है। द्वीप समूह के बीचो-बीच स्थित किसी भी नगर के लिए ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेना सहज ही है। अगर किसी नगर में नहरें ही सड़कें हैं तो उस नगर के निवासियों से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे नाव पर भी उसी प्रकार घरेलू हों, जिस प्रकार भूमि पर। यही बात वेनिस निवासियों के साथ थी। उस युग का समस्त व्यापार पूर्वीय व्यापार था और उसकी निकासी का क्षेत्र भूमध्यसागर था। नक्शे पर एक दृष्टि यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि क्यों वेनिस और इटली के अन्य नगर इतने बड़े व्यापारिक केन्द्र बन सके। परन्तु जो बात नक्शे पर दिखाई नहीं देती मगर उतनी ही सत्य है, वह यह कि पश्चिमी यूरोप का सम्बन्ध टूट जाने के पश्चात भी वेनिस का सम्बन्ध कोस्टैण्टिनोपल और पूर्व के साथ बना रहा है और क्योंकि वर्षों तक कौस्टैण्टिनोपल भूमध्यक्षेत्र का सबसे बड़ा नगर रहा है, अतः वेनिस को यह एक अतिरिक्त लाभ प्राप्त था। उसका अर्थ यह था कि पूर्वीय देशों के मसाले, रेशम मलमल, दवाइयां और कालीन आदि यूरोप में वेनिस के सौदागरों के द्वारा ही पहुंचते थे जो दोनों के बीच की कड़ी थे। मुख्यतः व्यापारिक नगर होने के कारण वेनिस जिनेवा और पीसा एशिया माइनर के तटवर्ती नगरों के साथ व्यापार के सिलसिले में विशेष सुविधाएं चाहते थे। इन नगरों में ईसाई जगत की शत्रु मुसलमान जातियां रहती थीं जो इनके द्वेषभाजन थे। पर वेनिस निवासियों के

लिए इसका कोई विशेष महत्व न था। इतालवी व्यापारियों को धर्मयुद्ध अभियान में वाणिज्य लाभ का एक सुनहरा अवसर दिखाई दिया। यही कारण है कि तीसरे धर्मयुद्ध अभियान में पवित्र भूमि को मुक्त कराने का नहीं, इतालवी नगरों के लिए व्यापारिक सुविधाएं जुटाने का उद्देश्य सामने था। इस धर्मयुद्ध में भाग लेने वाले जेरुशलम नहीं, तटवर्ती व्यापारिक नगर चाहते थे।

चौथा धर्मयुद्ध अभियान 1201 में हुआ। इसमें वेनिस ने सबसे महत्वपूर्ण और लाभप्रद भाग लिया। विलेहारदुइं उन छः राजदूतों में से था जो वेनिस के नगर अधिकारी के पास धर्मयुद्ध अभियान के लिए परिवहन की सुविधायें मांगने आये थे। उस वर्ष मार्च मे हुए एक समझौते के बारे में वह बतलाता है:

"श्रीमान्! हम ईसा के अनुयायी फ्रांस के सामन्त ताल्लुकेदारों की ओर से आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं.... परमात्मा के नाम पर वे आपसे निवेदन करते हैं... उन्हें परिवहन ओर युद्धपोतों की मदद देने का कष्ट करें।"

"किन शर्तों के अनुसार?" नगरपति ने पूछा।

"जो भी शर्तें आप उचित समझें, यदि उन्हें पूरा किया जा सके।" दूतों ने उत्तर दिया।....

"हम आपको 4,500 घोड़े और 9,000 सेवक ले जाने के लिए भार वाहक पोत देंगे ओर 4,500 योद्धा ओर 20,000 पैदल सिपाही ले जाने के लिए दूसरे जहाज देंगे। आपको इन सब मनुष्यों और घोड़ों को 9 मास तक भोजन देना होगा। यह कम से कम है जो हम आपको देंगे। शर्त यह है कि आप हमें इन सब घोड़ों और मनुष्यों पर चार मार्क प्रति घोड़ा और दो मार्क प्रति मनुष्य की दर से शुल्क देंगे.....

"इतना ही नहीं, हम आपके लिए इससे भी अधिक करेंगे। हम आपको परमात्मा के नाम पर 50 युद्धपोत देंगे। शर्त यह होगी, कि जब तक हमारी मित्रता कायम है, धरती या समुद्र के मार्गों से जो भी धन या भूमि जीती जायेगी उसका आधा भाग हमारा होगा और शेष आधा आपका।'

"दूतों ने.... कहा, 'हम यह समझौता करने के लिए तैयार हैं'।"[1]

उपर्युक्त समझौते से स्पष्ट है कि एक ओर वेनिस "परमात्मा के नाम पर" इस धर्मयुद्ध अभियान की सहायता करने के लिए प्रस्तुत है, दूसरी ओर

[1] *Translations and Reprints, op. cit.*, vol. III, Section I. Series for 1896.

परमात्मा का नाम उन्हें इतना अन्धा नहीं कर देता कि, वे लूट में अपना भारी हिस्सा छोड़ दें। वेनिस व्यापारी नगर था। धर्म की दृष्टि से उन युद्धों का परिणाम अल्पस्थायी रहा; क्योंकि मुसलमानों ने अन्त में जेरुशलम की राजधानी को ईसाइयों से वापिस छीन लिया था। परन्तु व्यापार की दृष्टि से ये अभियान बहुत महत्वपूर्ण थे। इन अभियानों ने महाद्वीप के कोने-कोने में पादरियों, योद्धाओं, श्रमिकों और बढ़ते हुए सौदागर वर्ग को फैलाकर पश्चिमी यूरोप को सामन्तवादी निद्रा से जगाने में मदद की; उन्होंने विदेशी वस्तुओं की मांग में वृद्धि की। उन्होंने मुसलमानों के हाथों से भूमध्यसागरीय पथ छीन लिया और एक बार फिर उसे पूर्व और पश्चिम के बीच एक महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग बना दिया, जैसा कि वह पहले कभी रहा था।

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी ने एक ओर दक्षिण में भूमध्यसागरीय पथ पर व्यापार का पुनर्जागरण देखा, दूसरी ओर उन्होंने उत्तरीय सागरों में व्यापारिक सम्भावनाओं में विशाल जागृति देखी। उत्तरीय जलमार्गों में वाणिज्य का पुनरुत्थान नहीं हुआ अपितु पहली बार इनमें वस्तुतः गति उत्पन्न हुई।

उत्तर सागर और बाल्टिक में स्थान-स्थान पर मछली, काठ-कबाड़, चरबी, खाल, चमड़ा और फर आदि प्राप्त करने के लिए जहाज दौड़ने लगे। उत्तरी समुद्रों में व्यापार का एक केन्द्र फ्लैंडर्स में ब्रुजेस नगर था। जिस प्रकार दक्षिण में वेनिस पूर्व-पश्चिम का सम्बन्ध जोड़ता था, उसी प्रकार रूस-स्कैंडिनेविया क्षेत्र के साथ यूरोप का सम्बन्ध ब्रुजेस के द्वारा था। यह दो सुदूर स्थित केन्द्रों के बीच एक सुविधाजनक मिलनस्थल बना जहां उत्तर की भारी भरकम आवश्यकता की वस्तुओं को सुविधापूर्वक पूर्व की मूल्यवान विलास सामग्री के साथ बदला जा सकता था। वाणिज्य को यदि उचित आरम्भ मिल जाय तो वह पहाड़ की ढलान पर लुढ़कते हुए बर्फ के गोले के समान बढ़ चलता है। अतः ऐसा केन्द्र ढूंढ निकालने में अधिक समय नहीं लगा। उत्तर का माल लेकर निकले हुए व्यापारियों की भेंट शैम्पेन के मैदान में उन लोगों से हुई जो दक्षिण की ओर से आल्प्स पार कर चुके थे। यहां अनेक नगरों में बड़े-बड़े व्यापारिक मेले लगने लगे जिनमें महत्वपूर्ण स्थान थे, लैग्नी, प्रोविन्स, बार-सर-औवे और ट्राय। (यदि आप कभी सोच में पड़े होंगे कि हम "ट्राय" नाम का प्रयोग क्यों करते हैं तो इसका जवाब आप यहां पाएंगे। सदियों पहले ट्राय के इन

विशाल मेलों में यही नाप प्रणाली चलती थी।)

आज व्यापार हमारे चारों ओर हर समय चलता रहता है। हमारी परिवहन व्यवस्था आज इतनी पूर्ण है कि पृथ्वी के दूरतम भाग से भी वस्तुओं का अनवरत प्रवाह हमारे बड़े-बड़े नगरों में गतिशील रहता है। हमें केवल इतना ही करना पड़ता है कि हम दुकान पर जायें और अपनी इच्छा की वस्तु पसन्द कर लें। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, 12वीं और 13वीं शताब्दियों में परिवहन की सुविधाएं इतनी विकसित नहीं थीं। न ही उस समय हर जगह वस्तुओं की अनवरत नियमित मांग ही थी कि जिसकी पूर्ति के लिए बारह महीने दुकानें लगी रहें। अतः अधिकांश नगरों में व्यापार का रूप स्थायी नहीं था। इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी और इटली के सामयिक व्यापारिक मेले नियमित और स्थायी व्यापार की ओर बढ़ते हुए पद-चिन्ह थे। जो स्थान पहले अपनी सीधी सरल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साप्ताहिक हाटों पर निर्भर रहा करते थे, वे अब व्यापार की बढ़ती हुई सम्भावनाओं के साथ कदम मिलाने में लड़खड़ा रहे थे। फ्रांस में पूआ एक ऐसा ही स्थान था। इसने राजा से एक साप्ताहिक हाट और वर्ष में दो व्यापारिक मेले स्थापित करने की अनुमति मांगी। इसके उत्तर में राजा ने जो पत्र भेजा, उसका कुछ अंश इस प्रकार है: "हमें अपने प्यारे और स्नेही, पूआ के कैनाप्ले निवासी, सज्जन जेहान दे क्रेकी का निवेदन प्राप्त हुआ,........ जिसमें हमें सूचित किया गया है कि पूआ का उक्त गांव और उपनगर' अच्छी तरह बना हुआ है और उपजाऊ भूमि पर स्थित है। मकानों से भरपूर है; घनी आबादी है; सौदागरों की संख्या भी अच्छी है। उस गांव में व्यापारिक माल से लदे हुए व्यापारियों का आवागमन निरन्तर बना रहता है। अतः यह उचित और उपयुक्त होगा कि वहां वर्ष में दो मेले और एक साप्ताहिक हाट स्थापित की जाय।... उपर्युक्त कारण से हमने.....पूआ के उक्त गांव में ...प्रतिवर्ष दो मेले और प्रति सप्ताह हाट लगाने की व्यवस्था स्थापित की है।"[1] सच तो यह है कि महत्वपूर्ण शैम्पेन मेलों की व्यवस्था इस प्रकार की जाती थी कि वे वर्ष भर चलते रहते थे। जब एक उठता तो दूसरा आरम्भ हो जाता था और इस प्रकार व्यापारी अपने माल के साथ एक मेले से दूसरे मेले में घूमते रहते थे।

---

[1] A. Thierry, *Recueil des Monuments Inedits de l'histoire du tiers etat*, vol. III, p. 643. Paris 1856.

मध्ययुग की आरम्भिक साप्ताहिक स्थानीय हाटों और बारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के इन बड़े-बड़े व्यापारिक मेलों के अन्तर पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है। हाट छोटी होती थी और उसमें केवल स्थानीय वस्तुओं का ही लेन-देन होता था जिनमें अधिकांशतः कृषि-सम्बन्धी वस्तुएं होती थीं। दूसरी ओर मेले विशाल होते थे। और इनमें समस्त ज्ञात संसार से आए हुए माल का थोक व्यापार होता था। ये मेले वितरण-केन्द्र थे जिनमें बड़े-बड़े व्यापारी पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण से आये हुए विदेशी माल का क्रय-विक्रय करते थे।

शैम्पेन के मेले से सम्बन्धित 1349 की निम्न घोषणा पर ध्यान दीजिए "सभी व्यापारिक कम्पनियां और स्वतंत्र व्यापारी, इटली, फ्लोरेंस, मिलान, जेनेवा, वेनिस, जर्मनी, प्रोवेस एवं अन्यान्य देशों के निवासी जो हमारी प्रजा नहीं हैं, अगर यहां व्यापार करना चाहें और उक्त मेलों की श्रेष्ठ परम्परा और सुविधाओं का लाभ उठाना चाहें... तो वे यहां सुरक्षित आ सकेंगे, रह सकेंगे और यहां से वापिस जा सकेंगे। हम आज से उन सबका स्वागत करते हैं और उनके जान-माल की सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं। इस मेले की व्यवस्था के अन्तर्गत मेले के रक्षकों के सिवाय कोई भी उनके व्यापार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा और न ही वे बन्दी किये जा सकेंगे या उनका माल जब्त किया जायेगा...।"[1]

इस घोषणा में ध्यान देने की बात यह है कि शैम्पेन का शासक न केवल व्यापारियों को मुक्त रूप से निमन्त्रित करता है अपितु मेले में उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करने का भार भी ग्रहण करता है। उस युग में जबकि सड़कें डाकुओं से भयाक्रान्त रहती थीं, यह एक महत्वपूर्ण बात थी। प्रायः मेलों में जाते हुए व्यापारियों को उन भारी करों और महसूलों से भी छूट मिल जाती थी जो साधारणतः सामन्ती भूपतियों द्वारा मार्ग में स्थान-स्थान पर लगाये जाते थे। यह समस्त व्यवस्था उस प्रान्त के मुख्य भूपति द्वारा की जाती थी, जहां मेला लगता था। यदि सड़क पर कोई व्यापारियों का समूह डाकुओं द्वारा लूट लिया जाये तो

[1] *Ordonnances des Roys de France de la Troisieme Race Recueillies pas ordre chronologique*, vol. II, p. 309. A. Paris. de l'imprimerie royale, 1729.

क्या होगा? उस प्रान्त के सौदागरों को मेले में भाग लेने से वंचित कर दिया जायेगा, जहां डाका पड़ा था। यह निस्सन्देह एक कठोर दंड था क्योंकि इसका परिणाम उस क्षेत्र में वाणिज्य की समाप्ति था।

परन्तु जिस क्षेत्र में मेला लगे, उसके भूपति को यह समस्त व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता थी? केवल इसलिए कि मेले उसकी रियासत और उसके निजी क्षेत्र में धन की वृद्धि करते थे। मेलों में व्यापार करने वाले व्यापारी इन सुविधाओं के लिए शुल्क देते थे। आयात कर, निर्यात कर, माल गोदाम का कर, बिक्री कर और दुकान का कर--ये समस्त कर व्यापारियों से वसूल किये जाते थे। और व्यापारी भी उन्हें देने में आपत्ति नहीं करते थे क्योंकि ये सर्वत्र प्रचलित थे और बहुत भारी भी नहीं थे।

ये मेले इतने विशाल होते थे कि साधारण नगर रक्षक इसकी व्यवस्था के लिए पर्याप्त न थे। इन मेलों की अपनी पुलिस होती थी और अपने रक्षक दल, और न्यायालय होते थे। यदि कोई झगड़ा उठ खड़ा होता तो उसे मेला पुलिस ही संभालती ओर मेला अदालत में ही उसे सुलझाया जाता था। हर चीज ढंग से और सावधानीपूर्वक निबटाई जाती थी।

मेलों का कार्यक्रम सर्वत्र समान होता था। कुछ दिन तैयारी में लगते थे जिसमें सामान खोला जाता था, दुकानें सजायी जाती थीं, कर आदि चुकाये जाते थे और अन्य आवश्यक काम पूरे किये जाते थे। उसके पश्चात मेला आरम्भ होता था। एक ओर दुकान पर घूमते हुए दर्शकों के मनोरंजनार्थ दर्जनों खेल तमाशे वाले अपने भाँति-भाँति के करतब दिखाते और उधर दुकानों पर बिक्री होती रहती थी। यद्यपि हर प्रकार का सामान हर समय बिकाऊ रहता पर कुछ विशेष वस्तुओं--जैसे, कपड़ा, खाल, चमड़ा आदि की बिक्री के लिए कुछ विशेष दिन निश्चित रहते थे।

लिले के मेले से सम्बन्धित 1429 के एक आलेख से हमें इन विशाल व्यापारिक केन्द्रों के सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है, "........जेहान दे लान्स्ते को हम अपनी विशेष कृपा से अनुमति प्रदान करते हैं. .. कि लिले नगर के उक्त बाजार में अथवा जहां कहीं भी मुद्रा का लेन-देन होता हो वह अपना कार्यालय स्थापित कर मुद्रा-विनिमय का व्यापार कर सकता है। जब तक हम उसके काम से सन्तुष्ट हैं.... इसके बदले में वह हमें हमारे

लिले के आदाता द्वारा प्रति वर्ष 20 पैरिसी मुद्राएं देगा।''[1]

मुद्रा-विनिमय का काम करने वाले व्यापारी, मेले के महत्वपूर्ण अंग थे। जिस प्रकार कपड़े और चमड़े की बिक्री के लिए विशेष दिन निश्चित होते थे, उसी प्रकार मेले के अन्तिम दिन मुद्रा के लेन-देन के लिए अलग रख दिए जाते थे। इस प्रकार ये मेले न केवल व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण थे अपितु उनमें होने वाला आर्थिक विनिमय भी इन्हें विशेष महत्व प्रदान करता था। मेले के मध्य भाग में मुद्रा-विनिमय का क्षेत्र होता था, जहां मुद्रा के व्यापारी भांति-भांति की मुद्राओं को तोलते; उनका मूल्यांकन और विनिमय करते रहते थे; ऋण दिये जाते थे; पुराने हिसाब-किताब चुकता होते थे; उधार बीजक बनते ओर विनिमय पत्र स्वतन्त्रतापूर्वक भुनाये जाते थे। यहां पर उस युग के बैंकर थे जो विशाल पैमाने पर मुद्रा का व्यापार करते थे। सम्मिलित रूप में इनके हाथों में व्यापक-साधनों के सूत्र थे। उनका व्यापार सम्पूर्ण महाद्वीप में लन्दन से लीवेंट तक फैला हुआ था। उनके ग्राहकों में पोप और सम्राट, राजा राजकुमार, गणतन्त्र और नगर थे। मुद्रा का व्यापार इतना व्यापक हो गया था कि यह एक स्वतन्त्र पेशा बन गया।

मुद्रा-विनिमय का महत्व इसलिए है कि इससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार व्यापार के क्षेत्र के विकास के साथ पुराने अर्थ तन्त्र में परिवर्तन होता रहा जिसमें आर्थिक जीवन मुद्रा के व्यवहार के बिना ही चलता था। मध्ययुग के आरम्भ काल की वस्तु-विनिमय प्रणाली में अनेक त्रुटियां थीं। पांच गैलन शराब के बदले में एक ओवरकोट ले लेना बहुत सरल लगता है पर व्यापार में यह इतना आसान न था। पहले आपको किसी ऐसे व्यक्ति की खोज करनी थी जिसके पास वह वस्तु हो जिसकी आपको आवश्यकता है और उसे उस वस्तु की आवश्यकता हो जो आपके पास है। विनिमय के माध्यम के रूप में मुद्रा का व्यवहार होते ही व्यापार का रूप बदल गया। मुद्रा प्रत्येक व्यक्ति के लिए ग्राह्य है, भले ही उसकी आवश्यकता किसी भी वस्तु की हो क्योंकि वह मुद्रा के बदले अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर सकता है। मुद्रा के व्यापक व्यवहार से अब आपको अपनी पांच गैलन शराब लेकर उस व्यक्ति की खोज में भटकने की आवश्यकता नहीं जिसके पास ओवरकोट है और जिसे शराब की आवश्यकता

[1]S. Poignant, *La Foire de Lille*, p. 179. E. Raoust, Lille 1932.

है। अब आप मुद्रा के मूल्य पर शराब बेच देंगे ओर उस मुद्रा से ओवरकोट खरीद लेंगे। यद्यपि मुद्रा के माध्यम से एक विनिमय दूसरे विनिमय का रूप ले लेता है फिर भी समय और शक्ति दोनों की बचत होती है। इस प्रकार मुद्रा का प्रचलन वस्तु-विनिमय को सरल बना देता है और उससे व्यापार को गति मिलती है। परिणामस्वरूप व्यापार की वृद्धि मुद्रा के विनिमय की मात्रा पर अवलम्बित होने लगती है। बारहवीं शताब्दी के पश्चात बिना बाजार के अर्थ-तंत्र ने बाजारों के अर्थ-तंत्र का रूप ग्रहण किया ओर वाणिज्य के विकास ने मध्ययुग के आरम्भ के आत्मनिर्भर गांवों की प्राकृतिक अर्थव्यवस्था को विश्व के विकासोन्मुख व्यापार के मुद्रा अर्थ-तंत्र के रूप में बदल दिया।

3. नगर की ओर प्रस्थान

व्यापार का मन्द प्रवाह अब एक विशाल सरिता के रूप में परिणित हो चुका था। परिणामतः वाणिज्य, कृषि और उद्योग के समस्त छोटे-बड़े अंकुरों को पल्लवित और पुष्पित होनेका अवसर प्राप्त होने लगा। व्यापार में वृद्धि का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रभाव नगरों के विस्तार के रूप में प्रकट हुआ।

व्यापार की इस वृद्धि से पूर्व भी इस प्रकार के नगरों का अस्तित्व विद्यमान था, जहां सेना और न्यायालय के केन्द्र थे; जहां रोज दरबार लगा करते थे और जहां निरन्तर आवागमन लगा रहता था। परन्तु वे वस्तुतः ग्राम्य नगर थे जिनमें ऐसी कोई भी विशेष सुविधा अथवा नगर-प्रशासन न था जो उन्हें गांवों से पृथक कर सके। व्यापार के विकास के साथ जो नये नगर स्थापित हुए अथवा जिन पुराने नगरों ने इस नई चेतना के साथ करवट बदली, उनका रूप सर्वथा भिन्न था।

यदि नगरों का विकास तेजी से बढ़ते हुए व्यापारिक संस्थानों में होता है तो मध्ययुग में आपको नगरों का उत्थान इटली और नेदरलैंड में खोजना होगा, अर्थात सर्वप्रथम उन्हीं स्थानों पर नगरों पर विकास हुआ। ज्यों-ज्यों व्यापार का विकास होने लगा, ऐसे स्थानों पर नये नगर बसने लगे, जहां दो सड़कें आकर मिलती थीं; जहां किसी नदी का मुहाना था अथवा जहां धरती का ढलान अनुकूल था। ये ऐसे स्थान थे, जिन्हें व्यापारी पसन्द करते थे। ऐसे स्थानों पर प्रायः एक प्रधान गिरजा अथवा गढ़ीनुमा स्थान होता था जिसे "बुर्ग" (दुर्ग) कहते थे और जो संकट के समय सुरक्षा का काम दे सकता था। सम्भवतः जब तक कि जमी हुई बर्फीली नदियां पिघल न जायें, अथवा वर्षा के कारण कीचड़ से भर जाने वाली सड़कें पुनः यात्रा के योग्य न हो जायें, भ्रमणशील व्यापारी अपनी लम्बी यात्राओं के मध्य किसी ऐसे निकटवर्ती दुर्ग की दीवार अथवा गिरजे की छाया के आश्रय में टिक जाते थे। इस प्रकार आश्रय लेने वाले

व्यापारियों की संख्या बढ़ती रहने के कारण दुर्ग के आस-पास एक "बाहरी दुर्ग" या "घेरा" अपने आप बनने लगा और यह बाहरी घेरा पुराने दुर्ग की सीमाओं से अधिक महत्व पाने लगा। इन बाहरी घेरों के भीतर आश्रय पाने वाले व्यापारी अपनी सुरक्षा के लिए अपने नगरों के चारों ओर दीवार खड़ी करने लगे। इनका रूप बहुत कुछ अमरीकी उपनिवेशों के नगर घेरों जैसा होता था। पुरानी दीवारें अनावश्यक हो गईं और धीरे-धीरे गिरने लगीं। इन परिवर्तनों के बीच पुराने दुर्ग बाहर की ओर नहीं फैले अपितु नये नगर घेरों में समा गये। लोग अपने पुराने जागीरी गांवों को छोड़ कर इन गतिप्राण नव विकसित नगरों में नया जीवन आरम्भ करने के लिए आने लगे। व्यापार के विकास का अर्थ था अधिक लोगों के लिए काम और लोग नये अवसरों का लाभ उठाने के लिए नगरों की ओर आने लगे।

हम विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते कि उपर्युक्त विवेचन सही ही है या कुछ इतिहासकारों का अनुमान मात्र है। विशेष रूप से श्री हेनरी पिरेने ने उपर्युक्त अनुमान को सिद्ध करने के लिए मध्ययुग में नगरों के उत्थान के सम्बन्ध में जो सूत्र खोजे हैं, वे किसी जासूसी कहानी के समान मनोरंजक हैं। व्यापारी और नगर निवासी एक ही थे इसका एक प्रमाण वे यह प्रस्तुत करते हैं कि 12वीं शताब्दी के आरम्भ से ही सौदागर के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द "मरकेटर" और नगर निवासी के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द "बर्गेन्सिस" प्राय: समानार्थक व्यवहृत होते रहते हैं।"[1]

अब अगर हम सामन्ती व्यवस्था को ध्यान में रखें तो हम देखेंगे कि व्यापार के विकास के साथ उन नगरों का उत्थान हो रहा था जिनके निवासी मुख्यत: व्यापारी लोग थे। और इस स्थिति का पुरानी व्यवस्था के साथ द्वन्द्व अवश्यम्भावी था। सामन्तवाद का सम्पूर्ण वातावरण हर वस्तु को परिसीमित करने का था जबकि नगरों में व्यापारी गतिविधि का समस्त वातावरण उन्मुक्तता का था। नगरों की भूमि सामन्ती भूपतियों, बिशपों, ताल्लुकेदारों और राजाओं के अधिकार में थी। आरम्भ में इन सामन्ती प्रभुओं ने नगरों की भूमि को उससे भिन्न दृष्टि से नहीं देखा जिससे वे अपनी अन्य भूमि को देखते थे। वे उन नगरों

[1] Cf. H. Pirenne, "The Stages in the Social History of Capitalism", in *The American Historical Review*, vol. XIX, April 1914. The Macmillan Company, N.Y. 1914.

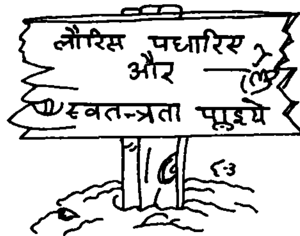
में भी शुल्क एकत्रित करने, एकाधिकार का भोग करने, कर लगाने, मजदूरी निश्चित करने और न्यायालय स्थापित करने में उसी मनमानी की अपेक्षा करते थे जो वे अब तक अपनी जागीरी रियासतों में करते आये थे। मगर नगरों में ये सब सम्भव न हो सका। ये समस्त रूप भूमि के स्वामित्व पर आधारित सामन्ती रूप थे। जहां तक नगरों का सम्बन्ध था, इन समस्त रूपों में परिवर्तन आवश्यक था। सामन्ती व्यवस्था और सामन्ती न्याय, रीति-रिवाजों द्वारा स्थापित थे और उनमें परिवर्तन कठिन था। परन्तु व्यापार स्वभाव से ही गतिप्राण, परिवर्तनशील और अवरोधों के प्रति असहिष्णु है। सामन्ती ढांचे के चौखटे में उसे जकड़ कर नहीं रखा जा सका था। नगर का जीवन जागीरी गांवों के जीवन से सर्वथा भिन्न था और नये रूपों की स्थापना आवश्यक थी।

कम-से-कम व्यापारी तो ऐसा ही सोचते थे। और इन साहसी व्यापारियों के लिये सोचना शीघ्र ही कार्य में परिणित हो जाता था। इन्होंने सीख लिया था कि एकता में शक्ति है। जब वे सड़कों पर यात्रा करते थे तो डाकुओं के विरुद्ध आत्मरक्षा के लिये एक हो जाते थे। जब वे समुद्र में यात्रा करते तो समुद्री लुटेरों के विरुद्ध एक होकर अपनी रक्षा करते थे। जब वे बाजारों और व्यापारिक मेलों में व्यापार करते तो अपने बढ़ते हुए साधनों के साथ अधिक लाभदायक मोल-भाव के लिये परस्पर एक हो जाते थे। जब सामन्ती नियन्त्रण उनकी कार्य-पद्धति में अवरोधक सिद्ध होने लगा तो निरन्तर विकास के लिये आवश्यक अपनी स्वतन्त्रता के लिये उन्होंने व्यापारिक संघ बना कर अपने आपको संगठित कर लिया। ये संघ "गिल्ड" अथवा "हैन्स" कहलाये। जहां उन्हें बिना संघर्ष के अपनी इच्छित सुविधायें मिल गईं, वहीं वे सन्तुष्ट थे। जहां उन्हें अपनी मांगों के लिये संघर्ष की आवश्यकता पड़ी, उन्होंने संघर्ष किया।

वस्तुत: वे क्या चाहते थे? इन विकासोन्मुख नगरों में व्यापारियों की मांगें क्या थीं? पुराने सामन्ती संसार के विपरीत इनके नये परिवर्तनशील संसार में भिन्नता कहां थी?

नगर-निवासी स्वतंत्रता चाहते थे। वे चाहते थे कि अपनी इच्छानुसार कहीं भी आ जा सकें। एक पुरानी जर्मन कहावत है: "नगर की हवा व्यक्ति को स्वतंत्र बना देती है।" यह कहावत समूचे यूरोप पर लागू होती है और सिद्ध करती है कि वे जो चाहते थे पाते रहे। उपर्युक्त कहावत इतनी सत्य है कि

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के अनेक राजपत्रों में वैसी ही धारा थी, जैसी कि उस राजपत्र में है, जो सन् 1155 में राजा लुई सप्तम द्वारा लौरिस नगर के सम्बन्ध में प्रकाशित किया गया था: "कोई भी व्यक्ति जो एक वर्ष और एक दिन तक लौरिस नगर में निवास करेगा, बशर्ते कि वह किसी पुराने दावे को टालने के लिए न आया हो तथा उसने अपना अभियोग हमारे या हमारे धर्माचार्य के सम्मुख उपस्थित करने से इन्कार न किया हो तो वह यहां स्वतंत्रतापूर्वक बिना किसी उत्पीड़न के निवास कर सकेगा"।[1] अगर लौरिस और उस युग के अन्य नगरों के पास 20वीं शताब्दी का-सा प्रचार-कौशल होता तो सम्भवत: वहां की सड़कों के किनारों पर हमें इस प्रकार के सूचना पट्ट मिलते:



नगर निवासी अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता के अतिरिक्त कुछ और भी चाहते थे। वे भूमि की स्वतंत्रता चाहते थे। सामन्ती प्रथा के अनुसार एक व्यक्ति भूमि को किसी दूसरे के लिए अपने पास "रखता" है और वह दूसरा व्यक्ति स्वयं किसी अन्य व्यक्ति के लिये उस भूमि का "संरक्षक" है। यह प्रथा इस युग को पसन्द न थी। नगर निवासी भूमि और उस पर निर्मित मकानों को जिस दृष्टि से देखते थे, वह सामन्ती भूपतियों की दृष्टि से भिन्न थी। नगर निवासी को अपने व्यापार के लिये अचानक नकद धन की जरूरत पड़ सकती थी और वह यह सोचना पसन्द करता था कि वह नकद धन पाने के लिये अपनी सम्पत्ति को भूपतियों की पूरी श्रृंखला की अनुमति मांगे बिना ही बेच सके अथवा बन्धक रख सके। लौरिस के उपर्युक्त अधिकार-पत्र में इस सम्बन्ध में निम्न शब्द मिलते हैं: "कोई भी पुरवासी जो अपनी सम्पत्ति बेचना चाहे, इस सुविधा का उपयोग

[1] *A Source Book of Medieval History*, pp. 328 ff., edited by F.A. Ogg. American Book Company. N.Y., 1907.

कर सकता है।"[1] यदि आप प्रथम अध्याय में वर्णित भूमि-व्यवस्था के समक्ष इस नवीन व्यवस्था को रख कर देखें तो आप अनुभव कर सकेंगे कि व्यापार और नगरों ने कितना परिवर्तन ला दिया था।

नगर निवासी न्याय के लिये अपने न्यायालय चाहते थे। उन्होंने मन्दगति जागीरी न्यायालयों का विरोध किया जो एक गतिहीन समाज के साथ व्यवहार करने के सांचे में ढले हुए थे और जो गतिप्राण व्यापारिक नगरों की नई-नई समस्याओं के सामधान के लिये अनुपयुक्त सिद्ध हो रहे थे। उदाहरणार्थ, एक जागीरदार भला बन्धक सम्पत्ति और हुंडी अथवा व्यापार के सामान्य विधि नियमों के सम्बन्ध में क्या जानता था? वस्तुत: कुछ भी नहीं। और अगर किसी प्रकार उसे इन बातों का कुछ ज्ञान हो भी तो यह निश्चित था कि वह अपने ज्ञान और पद का उपयोग अपने लाभ के लिए करेगा, न कि नगर निवासी व्यापारियों के लिये। नगर निवासी अपने लिये अपने न्यायालय स्थापित करना चाहते थे जो उनकी अपनी समस्याओं के सामधानों से सुपरिचित हों और उनके हित में काम कर सकें। वे अपना दण्ड विधान भी पृथक बनाना चाहते थे। एक छोटे-से जागीरी गांव में शान्ति की व्यवस्था बनाये रखना और बात थी विशाल धन सम्पत्ति और बढ़ती हुई जनसंख्या वाले विकासोन्मुख नगरों की शान्ति व्यवस्था की समस्यायें उन गांवों की समस्याओं से सर्वथा भिन्न थीं। नगर निवासी उन समस्याओं से जिस प्रकार परिचित थे, उनके भूपति नहीं हो सकते थे और नगर निवासी अपनी निजी "शान्ति-व्यवस्था" चाहते थे।

नगर निवासी अपने करों की व्यवस्था भी स्वयं अपने ढंग से करना चाहते थे और उन्होंने की भी। सामन्ती शुल्क, भुगतान, अनुदान और दंड-शुल्क आदि की बहुलता अत्यन्त असुविधाजनक थी और बदलते हुए संसार में एक व्यर्थ का जंजाल-सी लगती थी। उन्होंने इस व्यवस्था का विरोध किया। वे व्यापार करना चाहते थे और उन्होंने ऐसे हर प्रकार के कर को मिटाने के लिए संघर्ष किया जो उनकी राह में बाधक था। अगर वे किसी कर को पूर्णत: मिटाने में सफल न भी हो सके तो भी वे उसको किसी न किसी रूप में अधिक सुविधाजनक बनाने में अवश्य ही सफलता पा लेते थे जिससे कि वह कम आपत्तिजनक हो जाता था।

[1] *Ibid.*

नगरों का यह नियन्त्रण एकाएक ही नहीं दे दिया गया था, अपितु थोड़ा-थोड़ा करके ही मिला था। सर्वप्रथम भूपति नगर में अपने कुछ अधिकार नगर-निवासियों को बेचता; फिर कुछ समय पश्चात् कुछ अन्य अधिकार बेचता और इस प्रकार अन्तत: नगर उसके नियन्त्रण से पूर्णत: मुक्त हो जाते थे। स्पष्टत: यही जर्मनी के नगर डौर्टमुंट में हुआ। 1241 में डौर्टमुंट के काउण्ट ने नागरिकों को अपने कुछ सामन्ती अधिकार बेच दिए:

"मैं डौर्टमुंट का काउण्ट कौन्रैड और मेरी पत्नी गीसेलट्रूड तथा मेरे समस्त उत्तराधिकारी... डौर्टमुंट और उसके निवासियों को बाजार स्थित अपना एक मकान,..... रोम साम्राज्य से उत्तराधिकार में प्राप्त बूचड़खाने, शिल्पशालाओं. .....भट्टी और न्यायालय के ऊपर वाले मकान के समस्त अधिकार बेचते हैं.. .. जो हम सदैव के लिए दे रहे हैं। वे इसके लिए बूचड़खाने के दो दीनार, शिल्पशालाओं के दो दीनार, भट्ठी और न्यायालय वाले मकान के एक पौंड वार्षिक हमें देते रहेंगे।"[1]

अस्सी वर्ष पश्चात् एक अन्य काउंट कौन्रैड ने वार्षिक किराये पर अपने निजी मकान, बन्धक दास ओर सन्त मार्टिन के गिरजे को छोड़ कर "डौर्टमुंट के नागरिकों और उनकी नगर-सभा को उनके पूर्ण स्वामित्व में डौर्टमुंट का आधा प्रदेश" बेच दिया, जिसमें न्यायालय, कर देय और चुंगी तथा नगरकोट की सीमा के भीतर की प्रत्येक वस्तु सम्मिलित थी।

शायद आप ऐसा सोचते हों कि सामन्ती बिशप और भूपतियों ने यह समझ लिया था कि अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं। आप यह भी सोच सकते हैं कि उनमें से कुछ एक ने अनुभव कर लिया होगा कि वे इन ऐतिहासिक शक्तियों के विरुद्ध खड़े नहीं रह सकेंगे। कुछ एक ने समझा पर अधिकांश ने यह नहीं समझा। कुछ ऐसे थे जो घटित परिवर्तनों को बारीकी से समझ पाने में चतुर सिद्ध हुए। उन्होंने इस स्थिति का यथासंभव लाभ उटाया और अन्त में हानि से बच निकले। लेकिन सदैव ये परिवर्तन इस लो ओर दो की शन्तिपूर्ण नीति से नहीं हुए। समस्त इतिहास में यह सत्य एक-सा प्रतिध्वनित होता है कि जिन लोगों के हाथों में सत्ता है, जो लोग सम्पन्न हैं, अपने स्वत्वों

[1] *Dortmunder Urkunderbuch,* Bd. 1, pp. 33, 269-271, bearbeitet von Karl Rubel. Dortmund, 1881.

को बनाये रखने के लिए कोई भी सम्भव उपाय उठाने में कमी नहीं रखेंगे। कुत्ता अपनी हड्डी के लिए लड़ेगा ही। अनेक अवस्थाओं में सामन्ती भूपतियों और बिशपों ने अपनी-अपनी हड्डियों में दांत गड़ा दिये और तब तक अपनी पकड़ ढ़ीली नहीं की जब तक कि वे नगरवासियों की हिंसक शक्ति द्वारा विवश नहीं कर दिये गये। कुछ के लिए यह अपनी पुरातन सुविधाओं के साथ केवल इसलिए चिपटे रहने का प्रयास मात्र नहीं था कि वे इससे लाभ उठा रहे थे। जैसा कि प्राय: इतिहास में होता है, वे लोग जो उन परिस्थितियों से ही सम्पन्न थे, जैसी कि वे थीं, ईमानदारी के साथ यह सोचते थे कि अगर सब कुछ वैसा ही न रहा जैसा कि है, तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी। और क्योंकि नगर निवासी इस पर विश्वास नहीं करते थे, परिणामत: बहुत से नगरों ने स्वतंत्रता तभी पाई, जब वहां हिंसा फूट निकली। उससे न्यायाधीश औलिवर वेण्डेल होम्स का यह कथन सिद्ध हो जाता है कि "जब भेद बहुत अधिक बढ़ जाते हैं, हम दूसरे व्यक्ति को उसके अपने मार्ग पर जाने देने की अपेक्षा उसे मार डालने का ही प्रयत्न करते हैं।"

वस्तुत: व्यापारिक संघों के नेतृत्व में लड़ने वाले नगर निवासी इस अर्थ में क्रांतिकारी नहीं थे जिस अर्थ में हम इस शब्द को ग्रहण करते हैं। उनका संघर्ष अपने भूपतियों की गद्दी उलटने के लिए नहीं था अपितु वे केवल उन सड़ी-गली सामन्ती प्रथाओं को उलटने के लिए संघर्ष-रत थे जो उनके विकासोन्मुख व्यापार के लिए बाधक होती थीं। अमरीकी क्रांतिकारी की तरह वे कभी इस प्रकार नहीं लिखते: "सभी मनुष्य समान और स्वतंत्र पैदा होते हैं।" कभी नहीं। वैयक्तिक स्वतंत्रता को भी जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में नहीं मांगा गया। स्वतंत्रता की मांग केवल उन लाभों के लिए थी जो इसे प्राप्त होते थे। यह इतना सत्य है कि सेंट वास्ट के मठ ने जब अपने कृषक-दासों को बाजार-कर से मुक्ति प्रदान की तो व्यापारियों ने इस कर-मुक्ति का लाभ पाने के लिए उस मठ के कृषक-दासों की श्रेणी में प्रविष्ट होने का प्रयत्न किया।"[1]

नगर अपने विकास में होने वाले हस्तक्षेप से मुक्ति चाहते रहे और कुछ शताब्दियों के पश्चात उन्होंने वह सब कुछ पा लिया जो वह चाहते थे। स्वतंत्रता

[1]H.Pirenne, *Medieval Cities*, p. 177. Princeton University Press, 1925. I have followed this book closely for much of the material on towns.

की सीमा भिन्न-भिन्न स्थानों और अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न थी। अत: मध्ययुगीन नगरों की शासन-संघटना, अधिकार और स्वतंत्रता का विस्तृत चित्र देना उतना ही कठिन है जितना कि जागीरों का। कुछ नगर पूर्णत: स्वतंत्र थे, जैसे इटली व पोलैंड के नगर गणतंत्र। वे स्वतंत्रता की विभिन्न कोटि की मात्रा वाले स्वायत्त नगर-मंडल थे। कुछ ऐसे नगर थे जो अपने भूपतियों से अपने लिए केवल कुछ सुविधाएं मात्र छीन पाये थे और अन्य विषयों में उनके अधीन थे। पर नगर के अधिकार कुछ भी रहे हों, उनके अधिकार-पत्र नगर-निवासियों ने अपने हाथें में रखे। अगर कभी कोई भूपति अथवा उसका कोई अभिकर्ता उन अधिकारों की उपेक्षा करता तो वे अधिकार-पत्र उनके बीच होने वाले झगड़ों को रोकने में सहायक होते थे। 1184 में पोन्थ्यू ने ऐब्बेविल नगर को जो अधिकार-पत्र दिया था, उसकी पहली पंक्ति में ही काउण्ट स्वयं एक कारण बतलाता है कि क्यों नगर निवासी अपने अधिकार-पत्रों को इतनी सावधानी के साथ रखते थे और कभी-कभी गिरजे अथवा नगर भवन की दीवारों पर सुनहरी अक्षरों में अंकित भी कर देते थे। वह कहता है: "क्योंकि जो बात लिखित रूप में आ जाती है, वह मनुष्य की स्मृति में अधिक सरलतापूर्वक रह जाती है; अत: मैं काउण्ट जीन समस्त उपस्थित और आगन्तुक लोगों को ज्ञात कराता हूं कि मेरे दादा काउंट गिल्यौम ताल्वस ने ऐब्बेविल के नगरवायिों को स्वायत्त मंडल बनाने का अधिकार बेचा था और नगरवासियों के पास इस विक्रय की कोई प्रमाणित प्रति न होने के कारण मैं उन्हें सदैव के लिए स्वायत्त मंडल रखने का अधिकार प्रदान करता हूं......।"[1]

ऐसा ज्ञात होता है, उसके 186 वर्ष पश्चात 1370 में ऐब्बेविल के नागरिकों पर एक नया भूपति आया और वह फ्रांस नरेश था। स्पष्ट है कि बीच के वर्षों में नगरों की स्वतंत्रता का आन्दोलन तेजी के साथ प्रगति करता रहा क्योंकि राजा अपने राज्याधिकारियों को दिए एक आदेश में अपने वचनों पर काफी दूर तक चला जाता है: "हमने उन्हें कुछ विशेष अधिकार और सुविधायें प्रदान कर रखी हैं जिनके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य बातों के साथ किसी भी कारणवश किसी भी अवसर पर हम उपर्युक्त ऐब्बेविल नगर पर

[1] A Luchaire, *Les Communes francaise a l'epoque des Capetiens Directs*, p. 112. Hachette et Cie, Paris, 1890.

अथवा पोन्थ्यू के किसी भी अन्य नगर पर न तो कोई कर लगायेंगे या दंड-शुल्क थोपेंगे; न ही उन्हें किसी प्रकार का अनुदान देने के लिए विवश करेंगे और न हमारे द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से ही उन्हें कोई ऐसा दंड, कर या अनुदान देना पड़ेगा जो उपर्युक्त नगरों के अपने हित में न-हो अथवा उसमें उनकी सहमति न हो।... अत: इस कारण उक्त अभ्यर्थियों की आज्ञाकारिता और राज-भक्ति को देखते हुए हम आप सबको आदेश देते हैं और इस बात की कठोर व्यवस्था करते हैं कि आप उन नागरिकों को, जो उपर्युक्त नगर के निवासी हैं, हमें या हमारे आदमियों को किसी प्रकार का नमक-कर, दाम, चुंगी अथवा लूट अथवा अनुदान आदि देने के लिए विवश किये बिना व्यापार करने, नमक तथा अन्य हर प्रकार के व्यापारिक माल को बेचने, खरीदने, सभी नगरों, देशों और उक्त प्रदेश की सीमाओं से लाने, ले जाने की अनुमति देंगे........।"[1]

फ्रांस नरेश ने उक्त दस्तावेज में कर की जो छूट दी है वह उन अनेक सुविधाओं में से केवल एक है जिनके लिए व्यापारी वर्ग संघर्ष करता रहा। नगरों की स्वतंत्रता के संघर्ष में व्यापारी वर्ग ने नेतृत्व किया। नगरों में सबसे शक्तिशाली वर्ग यही था और उसने अपने संगठनों हैन्स अथवा गिल्डों के लिए हर प्रकार की सुविधायें प्राप्त की। नगर के थोक व्यापार पर प्राय: इन व्यापारी संघों का आधिपत्य होता था। यदि आप संघ के सदस्य नहीं हैं तो व्यापार का क्षेत्र आपके भाग्य की सीमा से बाहर है। उदाहरणार्थ, 1280 में न्यू कैसल नगर में रिचर्ड नामक एक व्यक्ति ने राजा से शिकायत की कि उसकी दस फ्लीस ऊन अनेक सौदागरों द्वारा छीन ली गई है। वह अपनी ऊन वापिस पाना चाहता है। राजा ने सौदागरों को बुलवाया और पूछा कि उन्होंने रिचर्ड की ऊन पर क्यों अधिकार कर लिया। सौदागरों ने अपने बचाव में कहा कि नरेश हेनरी तृतीय ने उन्हें अधिकार दिया है कि, "उक्त नगर के नागरिक उक्त नगर में अपना व्यापारिक संघ स्थापित कर सकते हैं और उस संघ को वह समस्त स्वतंत्रता और सुविधायें प्राप्त होंगी जो ऐसे संघों को मिली होती हैं।....." यह पूछे जाने पर कि वे अपने संघ के लिए किन सुविधाओं का दावा करते हैं, उन्होंने कहा कि "संघ की अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति न तो नगर में बेचने के लिए कपड़ा खरीद काट सकता है; न मछली ओर मांस काट सकता है; न ताजा कटा चमड़ा

[1]A. Thierry, *op cit.*, vol. IV, pp. 170, 171.

खरीद सकता है और न वह कटी हुई ऊन खरीद सकता है........"।[1] स्पष्ट ही रिचर्ड उस संघ का सदस्य नहीं था जिसे ऊन के व्यापार के सर्वाधिकार प्राप्त थे।

ऐसा प्रतीत होता है, साउथऐन्पटन में वे लोग भी माल खरीद सकते थे, जो व्यापारी संघ के सदस्य न थे। पर संघ को प्राथमिकता प्राप्त थी। "और कोई भी सामान्य नगर निवासी अथवा अजनबी किसी संघ सदस्य के सन्मुख नगर में आने वाले किसी भी प्रकार के व्यापारिक माल का न तो मोल-भाव कर सकता था, न खरीद सकता था, जब तक कि वह संघ सदस्य उपस्थित हो और उस माल का मोल-भाव करने अथवा उसे खरीदने में रुचि रखता हो। अगर कोई ऐसा करता हुआ पाया जाये और अपराधी सिद्ध हो तो उसका खरीदा हुआ माल राजा द्वारा कुर्की कर लिया जाता।"[2]

जिस प्रकार ये संघ स्थानीय असदस्यों को अपने व्यापारिक लाभ से दूर रखने का प्रयत्न करते थे, उसी प्रकार वे विदेशी व्यापारियों को भी अपने व्यापार क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से दूर रखने में सफल हुए। उनका मूल उद्देश्य बाजार पर पूर्ण नियन्त्रण रखने का था। जो भी माल नगर से बाहर जाता या बाहर से नगर में आता, वह उनके हाथों में होकर आता या जाता था। बाहर के लोग आकर उनसे प्रतिद्वन्द्विता करें, इस स्थिति को वे दूर ही रखना चाहते थे। वस्तुओं का मूल्य इन्हीं संघों द्वारा निर्धारित होता था। व्यापार की प्रत्येक अवस्था में इन्हीं का मुख्य भाग होता था। बाजार का नियन्त्रण उनके पूर्ण एकाधिकार में था।

स्पष्ट है कि विभिन्न नगरों में व्यापार के इस अधिकार को पाने के लिए, अधिकारों का उपभोग करने के लिए व्यापारी संघों की राज्याधिकारियों के साथ "मिली-भगत" का होना अनिवार्य था। और ऐसा था भी; क्योंकि व्यापारी लोग नगर के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति हुआ करते थे, अतः नगर के अधिकारियों की नियुक्ति में इनका मतामत विशेष बल रखता था। कुछ स्थानों में अधिकारी वर्ग इनके प्रभाव में रहता था; कुछ स्थानों पर ये स्वयं ही राज्याधिकारी भी बन जाते थे और कुछेक स्थान ऐसे भी थे जहां के विधान का स्पष्ट निर्देश था कि नगर के अधिकारियों की नियुक्ति केवल व्यापारिक संघ के सदस्यों से ही हो

[1] Charles Gross. *The Gild Merchant*, vol. I, pp. 39-40. 2 vols. Clarendon Press, Oxford, 1890.
[2] *Ibid.*, vol. I, p.48.

सकती थी। ऐसा बहुत ही कम मिलता था, पर प्रेस्टन नगर के 1328 के निम्न विधान से यह सिद्ध होता है। "......वे समस्त नागरिक, जो न्यायालय के पंजीकरण द्वारा नागरिक हुए हैं और जो व्यापारिक संघ में सम्मिलित नहीं हैं, कभी भी महापौर, नगर अधिकारी अथवा पुलिस अधिकारी नियुक्त नहीं हो सकते। केवल वही नागरिक, जिसका नाम व्यापारिक संघ में है, इन पदों पर नियुक्त हो सकता है, क्योंकि नरेश केवल उन्हीं नागरिकों को स्वतंत्रता प्रदान करते हैं, जो इस संघ में हैं और किसी अन्य को नहीं।"[1]

ये व्यापारिक संघ, जो एकाधिकार की सुविधाएं प्राप्त करने के लिए इतने उत्सुक रहते थे और अपने अधिकारों के सम्बन्ध में इतने सतर्क थे, अपने सदस्यों को नियम और विधान की एक लम्बी श्रृंखला में अनुशासित रखते थे और प्रत्येक सदस्य के लिए उन नियमों का पालन अनिवार्य था। अगर आप संघ के सदस्य हैं तो आपको अनेक लाभ प्राप्त होंगे पर आप सदस्य तभी तक रह सकते हैं जब तक आप संघ के नियमों का सावधानीपूर्वक पालन करते रहें। नियमों का उल्लंघन आपको संघ की सदस्यता से वंचित कर सकता था अथवा अन्य किसी प्रकार से दंडित कर सकता था। एक विधि जो हमारे लिए रुचिकर हो सकती है, लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व चेस्टर के एक संघ द्वारा अपनाई गई थी।

1614 में चेस्टर के रेशमी वस्त्रों और लोहे की एक व्यापारी कम्पनी ने टी. अल्डरस्ली को नियमों का उल्लंघन करने पर अपनी दुकान बन्द करने का आदेश दिया। उसने आदेश को मानने से इन्कार कर दिया। "तब कम्पनी के दो व्यक्ति दिन भर उस दुकान के सामने फिरते रहते थे और जो भी व्यक्ति उस दुकान से कुछ माल खरीदने आता वे उसे मना करते ओर बिक्री में बाधा डालते थे।"[2]

यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अल्डरस्ली 20वीं शताब्दी के ढंग पर इस धरने अथवा सत्याग्रह के विरुद्ध न्यायालय का आदेश जारी नहीं करवा सकता था क्योंकि ये संघ उन दिनों बहुत शक्तिशाली थे। सत्य तो यह है कि ये संघ केवल अपने विशिष्ट जनपद में ही शक्तिशाली नहीं थे, अपितु इनका प्रभाव इनके क्षेत्र से बाहर भी दूर-दूर तक फैला हुआ था। शक्ति प्राप्त

[1] *Ibid.*, vol. II, p. 195.
[2] *Ibid.*, vol. 1, p. 30, footnote.

करने का उनका परस्पर संगठित होने का पुराना ही ढंग था। जर्मनी की सुप्रसिद्ध शियाटिक लीग पृथक-पृथक संघों को एक शक्तिशाली संगठन में मिलाने का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। उसकी अपनी व्यापार चौकियां हालैंड से रूस तक फैली हुई थीं जो छोटे-छोटे दुर्गों के रूप में थीं और साथ ही माल गोदाम का कार्य भी करती थीं। यह लीग इतनी शक्तिशाली थी कि अपने उत्कर्ष काल में 100 से अधिक नगर उसके अधिकार में थे। और व्यावहारिक रूप से इसने शेष संसार के साथ उत्तरी यूरोप के सम्पूर्ण वाणिज्य पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया था। यह संस्था व्यापारिक सन्धियां करती थी। व्यापारी बेड़ों की सुरक्षा के लिए उसके पास अपने लड़ाकू जहाज होते थे। उत्तरी समुद्रों को इसने अपनी शक्ति से जल दस्युओं से मुक्त किया और उसकी अपनी राजकीय सभायें होती थीं, जो अपने कानून बनाया करती थीं। इस प्रकार यह लीग अपने आप में स्वयं एक राज्य थी।

नगर और व्यापारियों ने जो अधिकार प्राप्त किये, वे इस युग में अर्थ की उत्पत्ति के साधन एवं व्यापार की बढ़ती हुई महत्ता का निर्देश करते हैं। और नगरों में व्यापारियों की स्थिति इस बात का निर्देश थी कि भूमि-धन की तुलना में मुद्रा-धन का महत्व बढ़ रहा है।

सामन्ती युग के आरम्भिक काल में व्यक्ति के धन की माप केवल भूमि थी। व्यापार के विकास के साथ धन के नये रूप का उद्‌भव हुआ और वह रूप था मुद्रा। सामन्ती युग के आरम्भ काल में मुद्रा निष्क्रिय, स्थिर एवं गतिहीन थी। वह सक्रिय, सजीव, ओर गतिशील बन गई। सामन्ती युग के आरम्भ काल में भूमि पर स्वामित्व रखने वाले योद्धा और पुजारी वर्ग सामाजिक श्रृंखला के एक छोर पर थे और कृषक-दासों के श्रम पर रहते थे जो उस श्रृंखला का दूसरा छोर था। अब एक नये वर्ग का उदय हुआ—मध्यवर्ग, जिसने जीविका का नया रूप निकाला—क्रय-विक्रय का। सामन्ती युग में शासन-अधिकार पुजारी और योद्धा वर्ग के हाथों में थे, जिनके पास अर्थ के स्रोत भूमि का स्वामित्व था। अब अर्थ के नये स्रोत मुद्रा के स्वामित्व ने उदयोन्मुख मध्यवर्ग के लिए राज्य शासन में भाग लेने का द्वार खोल दिया।

4. पुराने के लिए नए विचार

आज अधिकांशतः व्यापार ऋण लेकर किया जाता है। जिस पर व्यापारी को ब्याज देना पड़ता है। अगर यूनाइटेड स्टेट्स स्टील कम्पनी अपनी किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी स्टील कम्पनी को खरीदना चाहती है, तो वह धन उधार लेगी जो बांड बेचने से प्राप्त हो सकता है। यह बांड खरीदने वाले से प्राप्त धन को ब्याज सहित वापिस लौटाने का वचन-पत्र मात्र है। अगर आपके नुक्कड़ वाला हलवाई अपनी दुकान के लिए नयी और मूल्यवान सजावट खरीदना चाहता है तो वह बैंक जाकर रुपया उधार ले आता है। बैंक उसे ऋण देता है और उस पर ब्याज प्राप्त करता है। अगर एक किसान अपनी स्थावर सम्पत्ति के समीप ही कोई भूमि खरीदना चाहता है तो वह अपना खेत बन्धक रख कर रुपया प्राप्त कर सकता है। बन्धक, किसान के लिए एक ऋण ही है जिस पर उसे वार्षिक ब्याज देना पड़ता है। हम जो रुपया उधार लेते हैं, उस पर ब्याज देने के हम इतने अभ्यस्त हैं कि हम सोचने लगते हैं कि यह एक "स्वाभाविक बात है जो सदा से चली आयी है।

पर यह सत्य नहीं है। एक समय था, जब अपने रुपये के प्रयोग के लिए ब्याज प्राप्त करना एक गम्भीर अपराध समझा जाता था। मध्ययुग के आरम्भ में ब्याज पर रुपया लगाने से मना करने वाली एक सत्ता विद्यमान थी जिसके वचन समस्त ईसाई जगत के लिए कानून के समान थे।

वह सत्ता थी चर्च की। चर्च की घोषणा थी कि ब्याज पर रुपया लगाना ब्याजवृत्ति है और ब्याजवृत्ति पाप है। पाप मोटे अक्षरों में अंकित है क्योंकि उन दिनों चर्च की घोषणाएं इसी दृष्टि से देखी जाती थीं और जो घोषणा चर्च के आदेशों का उल्लंघन करने वालों को नर्क का भय दिखाती थी, वह विशेष महत्वपूर्ण थी। सामन्ती युग में चर्च का प्रभाव लोगों के मस्तिष्क पर उससे कहीं अधिक था, जितना कि वह आज है। पर केवल चर्च ही ब्याजवृत्ति को चुनौती

नहीं देता था अपितु नगर शासन और कालान्तर में राज्य शासन ने भी इसके विरुद्ध कानून बनाये। इंग्लैंड में "ब्याजवृत्ति के विरुद्ध विधेयक" की शब्दावली इस प्रकार थी: "क्योंकि ब्याजवृत्ति अत्यन्त अवांछनीय एवं घृणास्पद होने से ईश्वरमुख से ही निषिद्ध घोषित हुई है... और यह बात लालची, अनुदार एवं लोभी लोगों के दिलों में केवल धार्मिक उपदेशों से नहीं उतर पाएगी, इसलिए. .... यह कानून बनाया जाता है... कि.... कोई व्यक्ति या समुदाय, चाहे किसी भी स्थान, पद, वर्ग अथवा स्थिति का हो, किसी भ्रष्ट, प्रच्छन्न, धूर्त या कपटपूर्ण उपाय द्वारा ब्याजवृत्ति से, वृद्धि की अपेक्षा से, अपने लाभ के लिए मुनाफे के लिए या ब्याज लेने के लिए कोई रकम न उधार देगा, न दे देगा, न देने की बात करेगा, न छोड़ जाएगा, न देने का बचन देगा......। ऐसा करने पर उस की रकम. ..ब्याज के साथ... जब्त की जाएगी... और उसे कारावास भी हो सकता है।"[1] मध्ययुग में ब्याजवृत्ति के सम्बन्ध में अधिकांश लोग जो सोचते थे, उक्त विधेयक उसका एक प्रतिबिम्ब है। ब्याजवृत्ति बुरी है इस पर सब सहमत थे। लेकिन क्यों? ब्याज लेने के प्रति यह वृत्ति समाज में क्यों विकसित हुई इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें सामन्ती युग में परस्पर सम्बन्धों पर पुनर्विचार करना होगा।

उस समाज में जहां व्यापार अत्यन्त सीमित था और लाभ के लिए रुपया लगाने की सम्भावनाओं का कोई अस्तित्व न था यदि किसी व्यक्ति को ऋण की आवश्यकता पड़ती तो निःसन्देह वह आवश्यकता इसलिए नहीं हो सकती थी कि वह अपने आपको धनी बनाना चाहता था अपितु केवल इसलिए कि उसे जीवित रहने के लिए उसकी आवश्यकता थी। वह उधार केवल इसलिए लेता था कि शायद उस पर कोई दुर्भाग्य टूट पड़ा है। सम्भवतः उसकी गाय मर गई है अथवा अनावृष्टि ने उसकी फसल नष्ट कर डाली है। वह बुरी तरह उलझन में है ओर उसे सहायता की आवश्यकता है। मध्ययुगीन धारणा यह थी कि इन परिस्थितयों में जो व्यक्ति उसकी सहायता करता, उसके लिए उसके दुर्भाग्य से लाभ उठाना अनुचित था। एक अच्छा ईसाई लाभ की भावना के बिना अपने पड़ोसी की मदद करता था। अगर आप किसी को आटे का एक बोरा उधार देते, तो बदले में एक बोरा ही वापिस पाने की अपेक्षा रखते, उससे अधिक कुछ नहीं।

[1] *Tudor Economic Documents*, vol. II, p. 142. Edited by R.H. Tawney and E. Power. 3 vols. Longmans, Green and Company, London, 1924.

यदि आप एक बोरे से अधिक कुछ लेते तो इसका अर्थ यह होता कि आप उस व्यक्ति को धोखा दे रहे थे, जो अनुचित था। न कुछ कम और न कुछ अधिक। जो आपका प्राप्य है वही लेना आपके लिए उचित था।

चर्च ने हमें सिखाया था कि मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि में उचित और अनुचित होता है। उसके धार्मिक कर्मों के उचित अथवा अनुचित होने का जो मापदंड था, उससे सामाजिक कार्यों के उचित अथवा अनुचित होने का मापदंड भिन्न न था। और उससे अधिक महत्वपूर्ण उसके आर्थिक कार्यों का मापदंड भी वही था। उचित और अनुचित के सम्बन्ध में चर्च के नियम सब स्थितियों में समान थे।

आज एक व्यक्ति व्यापार के सम्बन्ध में किसी अजनबी के साथ कोई भी ऐसी बात कर सकता है जो वह अपने किसी मित्र अथवा पड़ोसी के साथ न करेगा। व्यापार के लिए हमारे मापदंड हमारे दूसरे कार्यों के मापदंड से भिन्न हैं। एक निर्माता अपने प्रतिद्वन्द्वी को क्षेत्र से बाहर निकाल फेंकने के लिए अपनी सामर्थ्य भर सब कुछ कर सकता है। वह अपना माल कम मूल्य पर बेचेगा, वाणिज्य-संघर्ष उत्पन्न करेगा, अपने कारखाने के लिए विशेष छूट प्राप्त करेगा और अपने प्रतिद्वन्दी को समाप्त कर डालने के लिये प्रत्येक सम्भव उपाय अपनायेगा। उसके ये कार्य दूसरे प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त कर देंगे। निर्माता यह जानते समझते हुए भी अपने कार्य जारी रखता है क्योंकि "व्यापार व्यापार है"। फिर भी, वही व्यक्ति एक क्षण के लिए भी अपने मित्र अथवा पड़ोसी को भूखों नहीं मरने देगा। इस प्रकार आर्थिक कार्यों के लिए एक मापदंड और उससे भिन्न कार्यों के लिए दूसरा मापदंड मध्ययुग के चर्च की शिक्षाओं के विपरीत था और जो चर्च सिखाता था, वह वस्तुतः वही था जिसे अधिकांश लोग मानते थे।

चर्च सिखाता था कि अगर आर्थिक दृष्टि से अच्छी होते हुए भी कोई बात आत्मा के लिए बुरी हो तो आत्मिक कल्याण प्रथम वस्तु थी। "उससे मनुष्य को लाभ क्या कि जिससे वह सारे संसार को पा ले मगर अपनी आत्मा खो दे।"[1] यदि आपने किसी सौदे में प्राप्य से अधिक पाया है तो वह दूसरे के लाभ के मूल्य पर ही प्राप्त हो सका है और इसलिए वह अनुचित है। मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ

---

[1]Matthew 16:26.

धार्मिक विचारक सेंट थौमस ऐक्विनास ने "लालसा" का तिरस्कार किया है। यद्यपि व्यापार की उपयोगिता को अनिच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया गया था पर व्यापारी को किसी सौदे में उससे अधिक पाने का अधिकार नहीं दिया गया था जो उसके परिश्रम के मूल्य के उचित हो।

मध्ययुग के चर्च प्रतिनिधियों ने आढ़ती अथवा दलाल की बुरी तरह भर्त्सना की होती जो कुछ शताब्दियों पश्चात् डिजरायली की परिभाषा के अनुसार, "एक मनुष्य जो एक पक्ष को उल्लू बनाता है और दूसरे को लूटता है" बना। वर्तमान धारणा कि व्यापार में कोई भी कार्य तब तक वैध है, जब तक वह निभता चला जाए, मध्ययुगीन विचारधारा का अंग नहीं थी। आज का सफल व्यापारी जो कम-से-कम दाम पर चीजें खरीदता है और यथासम्भव अधिक-से-अधिक दाम पर बेचता है, मध्ययुग में दूने तिरस्कार का भागी बनता। एक आवश्यक लोक-सेवा की पूर्ति के उपलक्ष्य में व्यापारी उचित पारिश्रमिक का अधिकारी था, पर उससे अधिक का नहीं।

उस युग में यह नीति-युक्त नहीं समझा जाता था कि आप अपनी आवश्यकता से अधिक धन संचित करें। उस सम्बन्ध में बाइबिल का निर्देश स्पष्ट है: "सुई के छेद से ऊंट का गुजर जाना सम्भव है पर एक धनी मनुष्य के लिए स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करना सम्भव नहीं।"[1]

एक तत्कालीन लेखक इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है: "जिसके पास अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त धन है और तब भी वह निरन्तर धन संचय के प्रयत्न में लगा रहता है कि वह समाज में उच्च स्थिति पा सके, अथवा उसके पास इतना धन हो जाए कि बाद में बिना श्रम किए जीवन बिता सके अथवा उसकी सन्तान धनी व प्रतिष्ठित बन सके—ये सब जघन्य तृष्णा, विलासिता और अहंकार से प्रवर्तित है।"[2]

लोग एक प्राकृतिक अर्थतंत्र से परिचित थे और उन्होंने वही मापदंड परिवर्तनशील मुद्राधिष्ठित अर्थतंत्र पर लागू किए। इस प्रकार अगर आप किसी को 100 रुपये उधार देते हैं तो यह तर्क दिया जाता था कि आपका नैतिक अधिकार इतना ही है कि आप अपने 100 रुपये ले लें। अगर आप उस धन के

[1] *Ibid.*, 19:24.

[2] Quoted in R.H. Tawney, *Religion and the Rise of Capitalism*, p.36, Harcourt, Brace and Company, N.Y., 1926.

उपयोग पर ब्याज लेते हैं तो आप उस समय का मूल्य ले रहे हैं जिसमें वह धन उस व्यक्ति के पास रहा। समय आपका नहीं है। वह ईश्वर की वस्तु है और ईश्वर की वस्तु बेचने का आपको कोई अधिकार नहीं था।

फिर, रुपया उधार देने और केवल मूलधन ही वापिस न लेकर उस पर निश्चित ब्याज की रकम उगाहने का अर्थ यह होगा कि आप बिना काम किए जीवित रह सकते हैं, जो अनुचित था। (मध्ययुगीन धारणा के अनुसार पादरी और सामन्त अपने स्थानों पर "काम करते" थे, जिसके कि वे उपयुक्त थे) यह उत्तर देना कि आपका रुपया आपके स्थान पर काम कर रहा है, केवल चर्च प्रतिनिधियों को क्रोधित कर देना ही था। उनका उत्तर होता कि रुपया वन्ध्य है। यह कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। चर्च का कथन था कि ब्याज लेना निश्चित रूप से अनुचित था।

यह चर्च का कथन था। पर उसकी कथनी क्या थी और करनी क्या थी–ये दो भिन्न बातें थी। यद्यपि राजा और विशप ब्याज लेने के घोर विरोधी थे और उन्होंने उसके विरुद्ध कानून भी बनाए थे पर अपने इन कानूनों को तोड़ने वालों में सर्वप्रथम वे स्वयं ही थे। वे स्वयं ब्याज पर रुपया उधार देते और ब्याज उगाहते थे। एक ओर जबकि वे स्वयं अन्य ब्याजखोरों का पदानुसरण कर रहे थे दूसरी ओर यहूदी लोग घृणा और तिरस्कार के पात्र बने ब्याजखोर के नाते दुत्कारे जाते थे क्योंकि जोखिम अधिक होने के कारण उनके ब्याज की दर बहुत ऊंची थी। इतालवी बैंक बड़े पैमाने पर ब्याज का व्यापार करने वाले बड़े साहूकार थे और प्रायः जब उनके ऋण का ब्याज नहीं चुकाया जाता था तो पोप स्वयं ऋण-भोक्ताओं को पारलौकिक दंड का भय दिखा कर ब्याज की उगाही करता था। इस तथ्य के बावजूद कि चर्च स्वयं सबसे बड़ा पापी था, ब्याज के विरुद्ध जेहाद का नारा लगाता रहता था।

आप भलीभांति समझ सकते हैं कि ब्याजखोरी को पाप मानने का सिद्धांत नए व्यापारियों के हितों का अवरोधी सिद्ध हो रहा था जो व्यापार के क्षेत्र में विकासोन्मुख योरोप में व्यापार फैलाना चाहते थे। जब रुपया आर्थिक जीवन में दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक महत्वपूर्ण भाग लेने लग गया, तब उपर्युक्त सिद्धान्त व्यापार के मार्ग में वस्तुतः बाधक बन गया।

उदीयमान मध्यवर्ग अपने रुपये को मजबूत तिजोरियों में बन्द नहीं रखता

था। (यह प्रवृत्ति सामन्ती युग की थी, जब रुपया लगाने का बहुत कम अवकाश था।) यह नया व्यापारी वर्ग जितना भी रुपया पा सकता वह सब व्यापार में लगा सकता था अपितु उससे भी अधिक जितना व्यापार उसने फैला रखा था, उसे सहारा देने के लिए और अपना कार्य-क्षेत्र विस्तृत करने के लिए, जिससे कि वह अपना लाभांश बढ़ा सके, व्यापारी अधिक रुपया चाहता था। वह उसे कहां से पाता। वह किसी यहूदी साहूकार के पास जा सकता था, जैसे कि वेनिस का सौदागर ऐंटोनियो यहूदी शाइलौक के पास गया था। अथवा वह उस युग के बड़े बैंकर किसी बड़े व्यापारी के पास जा सकता था, जिन्होंने माल की सौदागरी छोड़ कर रुपये की सौदागरी आरम्भ कर दी थी। पर यह आसान न था। उनकी राह में बाधक चर्च के कानून बैंकर अथवा साहूकारों को रुपया ब्याज पर देने में रोक रहे थे।

जब पुराने अर्थतन्त्र के अनुकूल बैठने वाले चर्च के सिद्धान्त ऐतिहासिक शक्ति के साथ टकराए, जिसका प्रतिनिधित्व उदीयमान व्यापारी वर्ग कर रहा था, तो परिणाम क्या हुआ? सिद्धांतों को नई आवश्यकताओं के लिए स्थान बनाना पड़ा। निःसंदेह यह एकाएक नहीं हुआ। धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके नियमों में नए संशोधन होते गए, जैसा कि "ब्याजवृत्ति पाप है, मगर ऐसी परिस्थितियों में ..." अथवा, इसी प्रकार, "यद्यपि ब्याज लेना पाप है तथापि विशेष अवस्था में ...।"

विशेष परिस्थितियां जिन्होंने ब्याजवृत्ति के सिद्धांत को मिटा दिया, नये दृष्टिकोण प्रकाशित करती हैं। अगर बैंकर 'क' व्यापारी 'ख' को रुपया उधार देता है तो चर्च के मतानुसार 'क' के लिये उस ऋण पर ब्याज उगाहना अनुचित था पर चर्च कहता है कि क्योंकि 'ख' ने जो रुपया 'क' से उधार लिया है, उसे वह व्यापार के सट्टे में लगाने जा रहा है, जहां पूरा रुपया डूब भी सकता है, तब इस अवस्था में यह उचित ही था कि 'ख' 'क' को न केवल वह रुपया ही लौटाये जो उसने उधार लिया था अपितु उसे उधार देकर 'क' ने जो जोखिम ली है, उसके बदले में उसे कुछ और भी दे।

अथवा, क्योंकि अगर 'क' ने वह रुपया अपने पास रखा होता तो वह भी लाभ कमाने में उसका उपयोग कर सकता था; अतः यह उचित ही था कि वह 'ख' से अपने रुपयों को स्वयं उपयोग में न ला सकने के बदले में कुछ मांगे।

इस प्रकार और ऐसे ही अन्य मार्गों द्वारा असुविधाजनक ब्याजवृत्ति को पाप मानने का सिद्धान्त नवीन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बदलता गया। यह अर्थपूर्ण है कि 16वीं शताब्दी में एक फ्रांसीसी वकील चार्ल्स दुमौलिन "परिमित और स्वीकार्य ब्याजवृत्ति" को कानून बनाने के लिए एक तर्क यह प्रस्तुत करता है कि ब्याजवृत्ति "व्यापार के लिये नित्य व्यवहार की वस्तु बन चुकी है।" उसका तर्क है : "प्रतिदिन का वाणिज्य व्यवहार यह प्रकट करता है कि व्यापार में पर्याप्त मात्रा में रुपये के व्यवहार का उपयोग कम नहीं है, ... न ही यह कहा जा सकता है कि रुपया स्वयं फलवान नहीं होता, क्योंकि बिना खर्च, परिश्रम और मनुष्य के उद्यम के खेत भी स्वयं फल नहीं देते हैं। उसी प्रकार रुपया भी, चाहे वह एक निश्चित समय बाद वापिस लौटाया जाने वाला है, इस बीच मनुष्य के उद्यम से पर्याप्त उत्पादन कर लेता है।... और कभी-कभी उधार देने वाले को उस लाभ से वंचित रखता है जो वह उधार लेने वाले को देता है। .... इसलिए, ... ब्याजवृत्ति मात्रा से अधिक और अनुचित होने पर ही घृणा, तिरस्कार और दंड का विषय होनी चाहिए, उचित और स्वीकार्य मात्रा में नहीं।"[1]

और इस प्रकार धीरे-धीरे चर्च का ब्याजखोरी का सिद्धान्त समाप्त हो गया। और "प्रतिदिन के वाणिज्य व्यवहार ने" उसका स्थान ले लिया। समाज ने जब विकास की नई सीढ़ी पर कदम रखा, तो उसके साथ ही, विश्वास, कानून, साथ रहने के ढंग, व्यक्तिसम्बन्ध सभी ने नये रूप ग्रहण किये।

[1]*Early Economic Thought*, pp.113, 114. Edited by A.E. Monroe Harvard University Press, 1924.

5. किसान ने अपनी बेड़ियां काट डालीं

एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किसान की स्थिति में हुआ। परम्पराओं द्वारा स्थापित स्वामी और कृषक-दास के सम्बन्ध के साथ जब तक सामन्ती समाज स्थिर रहा, कृषक के लिये अपनी स्थिति में सुधार करना व्यवहारतः असम्भव ही था। वह एक तंग आर्थिक ढांचे में जकड़ा हुआ था। लेकिन व्यापार के विकास, मुद्रा अर्थतन्त्र के आगमन और नगरों के उत्थान ने उसे अपनी उन बेड़ियां काट डालने के लिये साधन प्रदान किए जिनसे वह बुरी तरह जकड़ा हुआ था।

जब नगरों का उत्थान होता है, तो वहां के निवासियों को जो अपना समस्त अथवा अधिकांश समय व्यापार और उद्योग में लगाते हैं, खाद्य सामग्री के लिये मुख्यतः देहातों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार नगर और देहात के बीच श्रम का विभाजन हो जाता है। एक अपनी समस्त शक्ति व्यापार और औद्योगिक उत्पादन पर केन्द्रित कर देता है, तो दूसरा उन लोगों द्वारा उत्पन्न बाजारों के सम्भरण के लिये कृषि सामग्री के उत्पादन पर अपनी शक्ति केन्द्रित करता है, जो अब स्वयं अपने लिये खाद्य सामग्री उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। इतिहास के आरम्भ से ही बाजारों का विकास सदैव उत्पादन की वृद्धि की शक्तिशाली प्रेरणा रहा है। लेकिन कृषि उत्पादन की वृद्धि किस प्रकार हो सकती है? इसके दो उपाय हैं। एक है आन्तरिक विकास–जिसका अर्थ है खाद के व्यापक उपयोग, खेत जोतने के उत्कृष्ट उपायों के प्रयोग और सामान्य रूप से अधिक वैज्ञानिक उपायों द्वारा अपनी पुरानी भूमि से ही अधिक उपज प्राप्त करना। दूसरा है बाह्य विकास–जिसका अर्थ है उन नये क्षेत्रों का विकास जो अब तक नहीं जोते गये हैं। इस युग में दोनों मार्ग अपनाये गये।

जिस प्रकार अमेरिका के प्रणेताओं ने अपनी स्थिति को सुधारने के लिये पश्चिम की परती भूमि पर दृष्टि डाली, उसी प्रकार 12वीं शताब्दी के पश्चिमी योरोप का महत्वकांक्षी कृषक शोषण से मुक्ति पाने के लिये अकृष्ट भूमि की ओर दृष्टि डालने लगा। इस शताब्दी के अन्त में एक जर्मन लेखक इस सम्बन्ध में लिखता है: "निर्धन और कृषक वर्ग शक्तिशालियों की लोलुपता और लूट-खसोट का शिकार बनता है और इन लोगों को अन्यायपूर्ण अभियोगों के लिए न्यायालयों में घसीटा जाता है। अन्याय का यह आघात अनेकों को अपनी पैतृक भूमि बेचकर दूरस्थ स्थानों को चले जाने को बाध्य करता है।"[1]

लेकिन अमेरिका में, प्रणेताओं ने पुनर्वास के लिए एक पूरे महाद्वीप को खोल दिया। 12वीं शताब्दी के योरोप का उत्पीड़ित कृषक समाज नयी भूमि कहाँ से पाता? यह एक आश्चर्यजनक किन्तु वास्तविक तथ्य है कि उस युग में फ्रांस का केवल आधा भू-भाग, जर्मनी का केवल एक तिहाई और इंग्लैंड का केवल 5वां भाग कृषि के काम में लाया जा रहा था। शेष था जंगल, दलदल और बंजर। छोटे-से कृष्य क्षेत्र की सीमा के चारों ओर यह विस्तृत अकृष्य क्षेत्र उपनिवेशन के लिए विद्यमान था। ये सीमा क्षेत्र 12वीं शताब्दी के योरोप को उसी प्रकार निमन्त्रण दे रहे थे, जिस प्रकार 17वीं शताब्दी में अमेरिका। और बंजर, दलदल एवं जंगलों की चह चुनौती परिश्रमी कृषक ने स्वीकार कर ली। "स्वतंत्रता और सम्पत्ति कि प्रलोभन से आकर्षित होकर...... सहस्त्रों प्रणेता.... झाड़ियों, गुल्मों, परजीवी वनस्पतियों को जलाकर, कुल्हाड़ों से जंगल साफ कर, कुदालों से वृक्षों की जड़ें निकाल कर हल और कुदाल के काम के लिए रास्ता बनाने में लग गये।"[2] इस प्रकार योरोप ने अमेरिका से पांच शताब्दी पूर्व अपना "चलो पश्चिम आन्दोलन" छेड़ दिया। 17वीं से 19वीं शताब्दी के बीच अमेरिका ने पश्चिम के जंगलों में अपने कुल्हाड़े खनखनाये तो उससे जो ध्वनि गूंजी, वह केवल उनके पूर्वजों की उस ध्वनि की प्रतिध्वनि थी जो उन्होंने वैसी ही परिस्थितियों में पांच सौ वर्ष पूर्व उत्पन्न की थी। जिस प्रकार अमरीकी प्रणेताओं ने विजन को शस्य भूमि में परिवर्तित कर दिया, उसी प्रकार अमरीकी प्रणेताओं ने दलदल सुखा

---

[1]E.O. Schulze, *Kolonisierung und Germanisierung der Gebiete Zeschwin Saale und Elbe*, p.125. Hirzel, Lei Pzig, 1896.
[2]P. Boissonnade, *op. cit.*, p.229.

डाले; समुद्र द्वारा भूमि के अपहरण को रोकने के लिए बांध बनाये; जंगल साफ किये और इस प्रकार भूमि को कृष्य बनाकर लहलहाते शस्य खेतों में बदल डाला। 12वीं शताब्दी के इन प्रणेताओं के लिए यह एक दीर्घ और कठोर संघर्ष था पर इस संघर्ष में विजय का अर्थ था स्वतंत्रता, भूमि के सम्पूर्ण अथवा अंश स्वामित्व का अवसर और बेगार से मुक्ति, जिससे वह सदैव पिसते चले आये थे। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि अनेक किसानों ने इस अवसर का लाभ उठाया। कोई आश्चर्य नहीं कि अनेकों ने भूमि को प्राप्त करने के लिए साग्रह आवेदन किये। हैम्बुर्ग का बिशप 1106 में दिए गये एक अधिकार-पत्र में कहता है:

"1. हम सर्वसाधारण को उस अनुबन्ध के बारे में सूचित करना चाहते हैं, जो हमने राइन के इस पार रहने वाले लोगों के साथ किया है, जो हालैंडर कहलाते हैं।
2. ये लोग हमारे पास आये, उन्होंने हमसे साग्रह विनती की कि हम उन्हें अपने क्षेत्र में कुछ भूमि प्रदान करें जो अकृष्य, दलदली और हमारे लिए अनुपयोगी है। अपने प्रजाजनों से राय लेने के पश्चात हम इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि यह हमारे और हमारे उत्तराधिकारियों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा और हमने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली है।
3. अनुबन्ध के अनुसार, वे हमें प्रतिवर्ष प्रति हाइड भूमि 1 दीनार लगान देंगे..... हम उन्हें वे नदियां भी सौंपते हैं जो उस भूमि से होकर बहती हैं।
4. उन्होंने हमारे आदेश-पत्र के अनुसार हमें दशमांश देना स्वीकार किया है, जो अनाज का 11वां भाग, हर 10वां मेमना, हर 10वां सुअर, हर 10वां बकरा और हर 10वां हंस और मधु का तथा पटसन का 10वां भाग...
5. उन्होंने समस्त धार्मिक विषयों में मेरे आदेशों के पालन का वचन दिया है......।
6. धार्मिक विषयों से भिन्न अन्य समस्त विवादों के निपटारे के लिए अपने स्वतंत्र न्यायालय स्थापित करने की सुविधा के बदले में उन्होंने प्रतिवर्ष प्रति 100 हाइडें भूमि दो मार्क देना स्वीकार किया है।"[1]

[1]O.J. Thatcher and E.H. McNeal, *Source Book for Medieval History*, pp. 572, 573, Charles Scribner's Sons, N.Y., 1905.

हैम्बुर्ग के बिशप ने यह अनुबन्ध हालैंडर लोगों के साथ इसलिए किया कि उसने उसे "हमारे और हमारे उत्तराधिकारियों के लिए लाभदायक" पाया। चर्च तथा अन्य भूपतियों को भी इन प्रणेताओं द्वारा ऊसर भूमि को उर्वर भूमि में परिवर्तित करा लेना, जो उस भूमि पर हल चलाने की सुविधा के बदले उन्हें वार्षिक लगान देते थे, वास्तव में लाभदायक प्रतीत हुआ। अनेकों ने तो इसकी प्रतीक्षा भी नहीं की कि इच्छुक श्रमिक आयें और उनसे भूमि के लिए "साग्रह निवेदन" करें। उन्होंने दूर-दूर तक घोषणा कर दी कि उनकी भूमि उन लोगों के लिए खाली पड़ी है जो उसे साफ कर सकें और उस पर लगान दे सकें। कुछ अधिक साहसी भूपति परती भूमि को लगान पर देने के इस व्यापार में काफी सफल रहे। कुछ तो पूरे के पूरे गांव अपनी परती भूमि पर बसाने में सफल हुए। उपनिवेशन के इस बढ़ते हुए आन्दोलन से सहस्त्रों एकड़ अनुपयोगी भूमि कृषि भूमि में बदल गई। परिणामत: सिलीशिया में सन् 1350 तक लगभग 1500 बस्तियां बस गईं, जिनमें लगभग 150,000 से 200,000 किसान खेती-बाड़ी करते थे। यह व्यापक उन्नति महत्वपूर्ण थी पर उतनी ही महत्वपूर्ण यह स्थिति थी कि अब कृषक-दास उस भूमि को पा सकते थे जो मुक्त थी, वह भूमि जिस पर बेगार का बन्धन नहीं था; अपितु जो मुद्रा के लगान पर प्राप्त थी। स्वतंत्रता के इस नये रूप के प्रभाव से पुरानी जागीरों के कृषक-दासों का बचा रहना सम्भव न था और वही हुआ।

वर्षों से किसान अपने दुर्भाग्य को स्वीकार करता चला आया था। वह एक ऐसे सामाजिक ढांचे में पला था जो वर्गों में विभाजित था। उसे जन्म से यही विश्वास करना सिखाया जा रहा था कि पादरियों, योद्धाओं और श्रमिकों में विभाजित इस समाज में बिना कोई आपत्ति उठाये स्वेच्छा की भावना से सन्तोषपूर्वक अपना भाग बांटते रहना ही उसका कर्त्तव्य है। और उसके लिए तभी स्वर्ग का द्वार खुला था, यदि वह इस समाज में मूक भाव से श्रम की चक्की में पिसता रहे। अपनी स्थिति से ऊपर उठने का तो व्यवहारत: कोई अवसर ही न था। इसलिए अपने निश्चित कार्य से अधिक कुछ करने की कोई प्रेरणा उसके समक्ष नहीं थी। रूढ़ियों के अनुसार वह अपना नित्य कर्म करता रहता था। बीजों के नवीन प्रयोग अथवा अनाज उगाने के लिए नये-नये ढंगों के प्रयोगों का उसके लिए कोई महत्व नहीं था। क्योंकि यदि वह अतिरिक्त अनाज बेचना चाहे तो

बाजार का अभाव था और इस बात की पूर्ण सम्भावना थी कि अतिरिक्त उत्पादन का मुख्य भाग भूपति द्वारा हथिया लिया जाए।

अब स्थिति बदल चुकी थी। बाजार स्थापित हो चुके थे। जो अन्न किसान की अपनी आवश्यकता और भूपति के अधिकार से बच जाता, बेचा जा सकता था। बदले में किसान को रुपया मिलता था। यद्यपि वह रुपये के उपयोग का अभी भली भाँति अभ्यस्त नहीं हो पाया था पर उसकी उपयोगिता से परिचित होता जा रहा था। वह समझने लगा था कि एक नये वर्ग–व्यापारी वर्ग का प्रादुर्भाव हो रहा है जो समाज के पुराने ढांचे के अनुकूल नहीं है। पर उस वर्ग के लोग उन्नति कर रहे थे और समीप ही उनके नगर थे जो विलक्षण आकर्षक स्थान थे। जहां उनके जैसे कृषक-दास भी कभी-कभी जा पहुंचते और बहुत कुछ कर पाते थे। इस नए परिवर्तनशील संसार में उस जैसे व्यक्ति के लिए एक वास्तविक अवसर विद्यमान था। अगर वह अब पहले से अधिक परिश्रम करे और अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न उत्पन्न कर सके तो वह कुछ रुपया एकत्र कर सकता है, जिससे सम्भवतः वह भूपति को कुछ लगान चुका कर उसकी बेगार से मुक्ति पा सकता है। अगर उसका भूपति उसे बेगार से छुटकारा न दे तो वह भी किसी नगर अथवा किसी अकृष्य क्षेत्र में जा सकता है, जहां उस जैसे कृषक-दास जंगल साफ कर कष्टकारी कर के भार से मुक्त होकर भूमि के स्वामी बन जाते हैं।

लेकिन भूपति रुपये के बदले में अपने कृषक–दास को बेगार सेवा से मुक्त करने के लिए सहर्ष इच्छुक था। वह भी रुपये के महत्व को समझने लगा था। वह समझ चुका था कि रुपया इस नए संसार में क्या कुछ नहीं कर सकता है। उसे उन सुन्दर पूर्वी वस्त्रों का मूल्य चुकाना था जो उसने कुछ मास पूर्व ही मेले से खरीदे थे। फिर उसने आगामी युद्ध में भाग लेने के लिए जो सुन्दर कवच खरीदा था, शस्त्र-विक्रेता को उसका मूल्य चुकाने के लिए उसे रुपये की आवश्यकता थी। अब अगर कृषक-दास उसे किसी तरह भी रुपया देता है तो उसकी उसे सदैव आवश्यकता है। अगर कृषक-दास जॉन जोन्स सप्ताह में दो या तीन दिन बेगार करने की बजाय उसे प्रति एकड़ चार पेंस वार्षिक लगान देने को तैयार है तो भूपति उसे स्वीकार करने के लिए इच्छुक है। वस्तुतः भूपति के पास अन्य मार्ग भी न था क्योंकि अगर वह उसे बेगार से छुटकारा नहीं देता

है तो इस बात की पूरी सम्भावना थी कि कुछ लोग भाग जायेंगे जिसका अर्थ था कि वह रुपये और सेवा दोनों से वंचित रह जाएगा। इससे यही अच्छा था कि वह कृषक-दास से पहले की तरह बेगार सेवा न लेकर उससे लगान उगाहना स्वीकार कर ले।

इसके अतिरिक्त, काफी पहले ही भूपति यह समझ चुका था कि बेगार सेवा से मुक्त सेवा अधिक लाभदायक थी। वह समझ चुका था कि एक किसान को यदि उसके अपने खेत से छुड़वा कर भूपति के खेत पर बेगार के लिए बुलवाया जाता था तो अनिच्छापूर्वक काम करने के कारण वह पूरा काम नहीं कर पाता था। यह अधिक अच्छा था कि उसे परम्परागत बेगार से मुक्ति दे दी जाए और मजदूरी पर काम करने के लिए आवश्यकतानुसार उसकी सेवाएं भाड़े पर ले ली जाएं।

परिणामत: 13वीं और 14वीं शताब्दी में पश्चिम योरोप के अधिकांश गांवों के आलेखों में इस प्रकार के अनुच्छेदों की बढ़ती हुई संख्या हमें मिलने लगती है। जैसा कि स्टीवनेज के निम्न आलेख में है: "भूपति द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि एस.जी. समस्त सेवाओं और परम्परागत अनुबन्धों के स्थान पर 13 सौलिदी और चार दीनार देकर उपर्युक्त भूमि का अधिकारी माना जायेगा।"[1]

इसी युग के अन्य आलेखों से ज्ञात होता है कि पर्याप्त संख्या में कृषक-दासों ने भूपति से बेगार सेवा से मुक्ति पाने के साथ-साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी खरीद ली। वूल्स्टोन के न्यायालय के प्रलेख का उद्धरण एक अर्धस्वतंत्र कृषक-दास से सम्बन्धित है "जिसने अपनी रियासत छोड़ने और स्वतंत्र होने का अधिकार पाने के लिए 10 सौलिदी शुल्क दिया था।"[2]

पर इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि सभी भूपतियों ने समझ लिया होगा कि कृषक-दासों को स्वतंत्रता प्रदान करना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा अथवा यह कि सभी भूपतियों ने स्वेच्छा से विकासोन्मुख नगरों पर अपने सामन्ती अधिकारों का परित्याग कर देने की बुद्धिमत्ता दिखाई होगी। ऐसा नहीं हुआ था। इतिहास के प्रत्येक युग में सदैव ही कुछ लोग ऐसे होते हैं जो इस बात को नहीं

---

[1]T.W. Page, *End of Villainage in England*, pp. 54, 55. American Economic Association, N.Y., 1900.
[2]*Ibid.*, p.41

समझ सकते और न समझेंगे कि जो कुछ अब तक रहा है, अब नहीं रहेगा। कुछ लोग आवश्यक परिवर्तनों के सम्मुख रूढ़ियों के साथ पहले से भी अधिक दृढ़ता के साथ चिमट जाना चाहते हैं। अतः ऐसे भूपति भी थे जो अपने कृषक-दासों को स्वतंत्रता देने के लिए तैयार नहीं थे।

शायद आप सोचेंगे कि चर्च कृषक-दासों को स्वतंत्र करने के आन्दोलन का नेता रहा होगा। पर इसके विपरीत, वस्तुस्थिति यह थी कि नगर और गांव दोनों स्थानों पर मुक्ति विरोधी दल सामन्त वर्ग नहीं अपितु चर्च था। उस समय जबकि अधिकांश भूपति यह समझने लगे थे कि उनके अपने ही आर्थिक लाभ के लिए यह अच्छा था कि कृषक को दासता से मुक्ति देकर नकद मूल्य पर स्वतंत्र श्रमिकों को दिहाड़ी पर रख लिया जाये, चर्च अब भी मुक्ति का विरोधी था। क्लूनिऐक धर्मसंघ के नियम इस बात का उदाहरण हैं कि यह प्रवृत्ति कितनी दूर तक पहुंची हुई थी। "उन लोगों को (हम संघ से बहिष्कृत करते हैं) जो हमारे मठों से सम्बन्धित कृषक दासों, बन्धक पुरुषों अथवा बन्धक स्त्रियों को दासता से मुक्ति और स्वतंत्रता प्रदान करने का अधिकार एवं सुविधाएं देते हैं।"[1]

यह 1320 की बात है। एक सौ अड़तीस वर्ष पश्चात 1458 में क्लूनिऐक संघ का फिर आदेश जारी हुआ: "संघ के वे समस्त अधिकारी जिनके पास कृषक-दास एवं बन्धक आदि हैं.... प्रत्यक्षतः शपथ ग्रहण करें कि वे इन दासों को मुक्ति प्रदान नहीं करेंगे।"[2] दो प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार सम्पूर्ण आलेखों का सावधानीपूर्वक अनुसन्धान करने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि "..... इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि समस्त भूपतियों में धार्मिक संस्थान सबसे अधिक कठोर थे; सबसे अधिक उत्पीड़क नहीं, लेकिन अपने अधिकारों के प्रति सबसे अधिक दुराग्रही। वे पूर्णतः दास-स्वामित्व के अधिकार और व्यक्तिगत दासत्व को बनाये रखने के हठ पर तुले हुए थे। शाश्वत किन्तु निष्प्राण संगठन एक इंच भी झुकने को तैयार नहीं था; एक भी कृषक-दास को स्वतंत्र नहीं करना चाहता था; छोटे से छोटे भूखंड को भी मुक्त नहीं करना चाहता था। व्यवहार में धर्मातीत भूपति अधिक मानवीय थे क्योंकि वे मनुष्य अधिक मात्रा में थे, क्योंकि वे अधिक लापरवाह थे, क्योंकि उन्हें नकद रुपये की आवश्यकता

[1] C.G. Coulton, *The Medieval Village*, pp. 147, 148. Cambridge University Press, 1925.
[2] *Ibid.*, p. 148.

थी, क्योंकि वे मर्त्य थे;..... पर हम देखते हैं कि उनके (धार्मिक भू-स्वामियों के) विरुद्ध ही किसान ने सबसे अधिक ऊंचे स्वर में विरोध प्रकट किया।"[1]

किसान केवल शाब्दिक विरोध प्रकट करके ही चुप नहीं हो गये। अनेक बार उन्होंने चर्च की सम्पत्ति पर आक्रमण किये; खिड़कियों पर पत्थर बरसाये, दरवाजे जला दिए और मठवासियों को मारा पीटा। प्राय: अपने संघर्ष में, उन्हें नगर निवासियों से सहायता मिली जो स्वयं भी धार्मिक अथवा अन्य भूपतियों के साथ संघर्षरत थे।

स्वतंत्रता की हवा बह चली थी और किसान इसे पाने के लिए कहीं भी रुकने को तैयार न थे। जहां स्वेच्छा से उन्हें स्वतंत्रता प्रदान नहीं की गई, उन्होंने उसे शक्ति से पाने का प्रयत्न किया। व्यर्थ ही दुराग्रही भूपति और चर्च दास्य मुक्ति के विरुद्ध लड़ते रहे। आर्थिक शक्तियों का दबाव विरोध की शक्तियों से बहुत अधिक था। स्वतंत्रता का आगमन अन्ततः अनिवार्य है।

इस स्वतंत्रता को लाने का एक बहुत बड़ा साधन महामारी बनी। हम आज सभ्य संसार में रहते हैं, जहां औषधियों ने विलक्षण प्रगति की है और जहां स्वास्थ्य विज्ञान पढ़ाया जाता है तथा व्यवहार में भी लाया जाता है। इन परिस्थितियों में हम उस महामारी के प्रकोप की कल्पना भी नहीं कर सकते जिसने मध्ययुग में सम्पूर्ण महाद्वीपों को हिला दिया था। अधिक से अधिक इसके निकट जिस रोग की हम कल्पना कर सकते हैं, वह है यदा-कदा होने वाले संक्रामक आरक्त ज्वर अथवा शीत ज्वर का आक्रमण, जिसमें मृतक संख्या सैकड़ों तक पहुंच जाती है। 14वीं शताब्दी के योरोप में महामारी से जो लोग मर गये थे, उनकी संख्या बीसवीं शताब्दी के उस विश्व युद्ध में मारे गये लोगों की संख्या से चार गुना थी, जिसमें इस शताब्दी के भयंकरतम अस्त्र-शस्त्रों के साथ चार वर्ष तक योजनाबद्ध हत्याकांड किया गया था। महामारी के प्रकोप के चार वर्ष बाद एक प्रसिद्ध इतालवी लेखक बोकैशियो इसका वर्णन इस प्रकार करता है: "सन्.... 1348 में इटली के सर्व सुन्दर नगर फ्लोरेंस में भयंकर रोग का आक्रमण हुआ। चाहे ग्रहों के दुष्प्रभाव के कारण हो अथवा परमात्मा ने हमें हमारे पापों का दंड देने के लिए इसे भेजा हो, यह रोग कुछ वर्ष पूर्व लीवेंट में

[1]F.Pallock and F.W. Maitland. *History of English Law Before the Time of Edward I*, vol. I. pp. 378, 379. Cambridge University Press.

फैला था और अब विभिन्न स्थानों से गुजरता हुआ और रास्ते में कल्पनातीत विनाश करता हुआ, अब पश्चिम जा पहुंचा। यहां मनुष्य द्वारा जो भी उपाय सम्भव थे, ग्रहण किये गये, जैसे कि नगर को गन्दगी से स्वच्छ रखना; संदेहजनक लोगों को नगर से बाहर निकाल देना; स्वास्थ्य की रक्षा के लिए प्रचुर मात्रा में निर्देश जारी करना एवं जुलूस और अन्य उपायों द्वारा परमात्मा के सम्मुख नत-शिर प्रार्थनायें करना आदि। फिर भी यह प्रकोप उपर्युक्त वर्ष में दुखद और आश्चर्यजनक रूप से बढ़ता ही गया....।

चिकित्सा विज्ञान और औषधियों की शक्ति इस रोग के लिए प्रभावहीन सिद्ध हुई।........ कारण कुछ भी रहा हो, कुछ बच गये पर अधिकांश लक्षण प्रकट होने के तीसरे दिन मर गये।....... इसकी सांघातिकता इसलिए और भी अधिक थी कि रोगी से निरोग शरीर तक संक्रमण करती हुई यह बीमारी दहनशील पदार्थों के सम्पर्क में आकर धधक उठने वाली आग के समान फैलती चली गई। इस महामारी का कुछ ऐसा प्रभाव था कि यह केवल एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक ही संक्रमण नहीं करती थी अपितु विशेष रूप से आश्चर्यजनक प्रतीत होने वाली बात यह थी कि यह...... रोगी से सम्बन्धित कोई भी वस्तु आदि किसी अन्य प्राणी से छू भी जाती तो महामारी उसे भी पकड़ कर थोड़े समय के भीतर ही अपना ग्रास बना लेती थी। एक ऐसी घटना पर मैंने विशेष रूप से ध्यान दिया। हाल ही में मरे किसी निर्धन रोगी के कम्बल सड़क पर फेंक दिए गये थे। दो सुअरों के बच्चे वहां आये और उन कम्बलों को अपने थूथन से कुरेदते हुए उन्हें थोड़ी देर चबाते रहे, और एक घण्टे के भीतर ही लोट-पोट होते हुए तड़प कर तत्काल वहीं पर मर गये।"[1]

सुअर वाली कथा भले ही सत्य हो अथवा न हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोग हर जगह मक्खी-मच्छरों की तरह मर रहे थे। फ्लौरेन्स में जिसका वर्णन उपर्युक्त लेखक ने किया है, महामारी से 100,000 व्यक्ति मरे, लन्दन में प्रतिदिन 200 व्यक्ति मर रहे थे और पेरिस में 800। फ्रांस, इंग्लैंड, नीदरलैंड, बेल्जियम, हालैंड और जर्मनी की कुल जनसंख्या का लगभग आधे से एक तिहाई भाग पूर्णतः इस महामारी के उदर में समा गया। यद्यपि समूचे योरोप में

[1] *Stories of Baccaccio, The Decameron,* pp. 1, 2. Translated into English by John Payne. The Bibliophilist Library, 1903.

महामारी का प्रकोप 1348 से 1350 तक रहा पर अनेक स्थानों पर आने वाले वर्षों में बार-बार उसका आक्रमण उन लोगों पर होता रहा जो भाग्यवश पहले आक्रमणों से बच गये थे। यह हत्याकांड इतना व्यापक था कि एक आयरलैंड वासी साधु की लेखनी से निम्न निराशापूर्ण उद्गार फूट निकले। "इस इच्छा से कि मैंने जो कुछ लिखा है वह कहीं लेखक के साथ ही समाप्त न हो जाये और यह कृति नष्ट न हो जाये..... ***यदि कोई आदम का बेटा मृत्यु के मुख से बच जाये*** और मेरे अधूरे छोड़े हुए कार्य को पूरा करना चाहे, मैं उसके लिए यह चर्म-पत्र की पांडुलिपि छोड़ रहा हूं।"[1]

महामारी का प्रभाव कितना गहरा रहा होगा, जिसने इतने अधिक लोगों को काल का ग्रास बना लिया कि एक विद्वान लेखक के मन में यह सन्देह होने लगा कि आखिर कोई व्यक्ति इस संसार में जीवित भी रहेगा या नहीं। इस महामारी का पश्चिम योरोप के किसान की अवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा?

इतने अधिक लोगों के मर जाने के पश्चात् यह स्वाभाविक ही था कि बचे हुए लोगों के श्रम का मूल्य बढ़ जाता। श्रमिक अपने श्रम का मूल्य पहले से अधिक मांगने और पाने लगे। भूमि इस दैवी संकट से अछूती बची रही थी, पर इसका मूल्य तो उसके उत्पादन पर निर्भर करता था और उत्पादन का अनिवार्य अंग था श्रम। श्रमिकों की संख्या घट जाने के करण सापेक्ष मांग बढ़ गई। किसान का मूल्य जितना आज था, उतना पहले कभी नहीं रहा और वह इस वास्तविकता से परिचित था।

भूपति भी यह जानते थे। जिन भूपतियों ने पहले बेगार सेवा से मुक्ति देने से इन्कार कर दिया था, वे अपने हठ पर अब पहले से भी अधिक दृढ़ थे। जिन भूपतियों ने कृषक-दासों को बेगार से मुक्ति दे दी थी और बदले में मुद्रा शुल्क लेना आरम्भ कर दिया था, वे भी अनुभव कर रहे थे कि दैनिक श्रम का भाव बढ़ जाने के कारण अब रुपये के शुल्क पर पहले से कम श्रम खरीदा जा सकता था। महामारी के पश्चात् श्रम का मूल्य 50 प्रतिशत बढ़ गया था और जितने मूल्य में एक भूपति पहले तीस श्रमिकों की सेवायें प्राप्त कर सकता था अब उतने मूल्य पर बीस श्रमिकों की सेवायें ही प्राप्त कर सकता था। घोषणाएं की

[1]Quoted in J. Kulischer, *Allgemeine Wirtschaftsgeschichte des Mittelalters und der Neuzeit,* vol. I, p. 129. Oldenbourg, Berlin, 1928. (My italics.)

गई थीं कि जो भूपति निश्चित दर से अधिक मजदूरी देगा अथवा जो श्रमिक निश्चित दर से अधिक मजदूरी मांगेगा उसे दंडित किया जाएगा। पर वे घोषणाएं व्यर्थ थीं। आर्थिक शक्तियों की प्रगति उस जमाने में राजकीय कानूनों से नहीं रोकी जा सकती थी।

भूस्वामियों और भू-श्रमिकों में संघर्ष अनिवार्य था। श्रमिकों ने स्वतंत्रता का फल चख लिया था और उसके स्वाद ने उनके मन में और अधिक पाने की भूख जगा दी थी। भूतकाल में, उत्पीड़क शोषण से उत्पन्न घृणा ने हिंसक दास-विद्रोहों को जन्म दिया था, लेकिन वह विद्रोह स्थानीय चिंगारियां मात्र थीं जो अपने उत्ताप के उपरान्त भी सरलतापूर्वक बुझा दी गई थीं। 14वीं शताब्दी के किसान-विद्रोह नितान्त भिन्न थे। श्रम के अभाव ने कृषक श्रमिकों को महत्वपूर्ण स्थिति में ला खड़ा किया था और उन्हें उनकी शक्ति का आभास दे दिया था। लगभग सम्पूर्ण योरोप में एक के बाद एक विद्रोह उठ खड़े हुए और इन विद्रोहों में किसानों ने उन सुविधाओं को पाने के लिए उस शक्ति का प्रयोग किया जिन्हें वे किसी अन्य मार्ग से न पा सके थे अथवा जिन प्राप्त सुविधाओं की वह रक्षा न कर सके थे।

किसान विद्रोहों के कारणों पर इतिहासकारों में मतभेद है। एक मत के अनुसार भूपति किसानों को पुनः प्राचीन बेगार प्रथा में लौट आने के लिए विवश कर रहे थे। दूसरा मत है कि भूपति किसान को मुक्ति देने से इंकार कर रहे थे। किसान ने अपनी शक्ति को पहचाना और विद्रोह कर दिया। सम्भवतः दोनों ही मत ठीक हैं। कारण कुछ भी रहे हों, लेख पत्रों से स्पष्ट है कि दोनों ओर से हिंसक कार्य किये गये। आलेख जला दिये गये। सम्पत्ति नष्ट कर दी गई; किसानों और उन पर अत्याचार करने वाले उत्पीड़कों दोनों वर्गों की हत्यायें हुईं। विद्रोही किसान, जो दुर्भाग्यवश पकड़ लिये गये, मृत्यु "दंड" को प्राप्त हुए। एली के न्यायालय की विचार-सभा के आलेखों के अनुसार ऐडैम क्लिम एक ऐसा ही दुर्भाग्यशाली किसान था:

"एली द्वीप-समूह में कैम्ब्रिज विभाग के अभिद्रोहादि दुष्कर्मों के दंड के लिए अभिकथन कुमारी सेंट मार्गरेट 5 रिचर्ड द्वितीय के उत्सव (जुलाई 20) से पूर्व आगामी बृहस्पतिवार को न्यायकर्ताओं के समक्ष प्रस्तुत किये जायेंगे।

ऐडैम क्लिम को राज्य से विश्वासघात और विद्रोह करते हुए पकड़ा गया

और क्योंकि.... उसने विश्वासघात करते हुए अपने अन्य साथियों के साथ एली में विद्रोह किया, थामस सोमेनोर के अन्दर बलात् प्रवेश का घोर अपराध किया तथा वहां विभिन्न प्रलेखों एवं एली के बिशप, भूपति एवं नरेश की लाक्ष्य प्रतिलिपियों को निकाल कर तथा उन्हें जला कर भूपति नरेश को क्षति पहुंचाई।

उससे आगामी रविवार एवं सोमवार उपर्युक्त ऐडैम ने यह घोषणा करवाई कि अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ कोई भी राजकीय अधिकारी बिना शिरच्छेद के बच कर नहीं जाना चाहिए।

उपर्युक्त ऐडैम, उपर्युक्त वर्ष और दिवस पर विद्रोह के समय सशस्त्र घूम रहा था और विद्रोहियों को एकत्र कर आदेश दे रहा था कि किसी भी स्थिति में, मृत्यु के भय से भी दास अथवा स्वतंत्र कोई भी श्रमिक, सेवा अथवा बेगार के लिए अपने भूपति की आज्ञा का पालन न करें...। और इस प्रकार उसने विश्वासघात से राजकीय सत्ता ग्रहण की। उसे न्यायालय में लाया गया और उस पर अभियोग लगाया गया..... और वह इस अभियोग से इंकार करते हुए अपने को निर्दोष कहता है..... और तत्काल नरेश के नाम पर बारह (श्रेष्ठ और कानून का सम्मान करने वाले) सदस्यों की न्याय सभा निर्वाचित की गई, जिसने शपथ ग्रहण कर अभियोग की जांच पड़ताल कर निर्णय दिया कि ऐडैम उपर्युक्त आरोपों के लिए दोषी है। न्याय के आदेश से उपर्युक्त ऐडैम दंडित किया जाता है, और उसे फांसी दी जाती है। और यह भी ज्ञात हुआ कि ऐडैम के पास उपर्युक्त नगर में 32 शिलिंग की सम्पत्ति थी जिसे राजकीय सम्पत्ति अधीक्षक राल्फ अत्ते बिक ने जब्त कर लिया है और नरेश की ओर से शेष दंड की व्यवस्था की।"[1]

ऐडैम क्लिम फांसी पर चढ़ा दिया गया। सहस्रों अन्य किसानों को भी फांसी पर लटका दिया गया। किसान विद्रोह दबा दिए गए। पर भरसक प्रयत्न करने पर भी सामन्ती भूपतिगण भूमिसुधार सम्बन्धी विकास की प्रक्रिया को वापिस न लौटा सके। पुरातन सामन्ती ढांचा आर्थिक शक्तियों के दबाव से चूर-चूर हो चुका था। और ये नवीन शक्तियां किसी भी प्रकार दबाई न जा सकीं। 15वीं शताब्दी के मध्य तक योरोप के लगभग अधिकांश में बेगार सेवा के स्थान पर रुपये के भाड़े पर ली जाने वाली सेवा की व्यवस्था स्थापित हो

[1]Bland, Brown and Tawney, *op. cit.*, p.105.

चुकी थी और इसके अतिरिक्त अनेक किसानों ने दासता से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ली थी। (व्यापार के मुख्य मार्गों और नगर के स्वतंत्रता के प्रभाव से दूर स्थानों में कृषक-दास प्रथा अभी भी प्रचलित थी।) कृषक श्रमिक का मूल्य अब बेगार के टट्टू से अधिक था। अब वह सम्मान के साथ सिर ऊंचा कर चल सकता था।

भूमि का क्रय-विक्रय जो सामन्त समाज में एक असाधारण बात थी अब प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तु बन गई। पहले जहां भूमि पारस्परिक सेवाओं के आधार पर ही प्राप्त की जाती अथवा दी जाती थी, अब भूसंपत्ति के प्रति नयी धारणा उत्पन्न हुई। अधिकांश किसान अब स्वतंत्रता पूर्वक घूम सकते थे, अपनी भूमि को बेच सकते थे और इच्छानुसार किसी को उत्तराधिकार में दे सकते थे, यद्यपि उन्हें इसके लिए निश्चित शुल्क प्रदान करना पड़ता था। स्टीवनेज के न्याय आलेख के अनुसार, "एक अर्द्ध स्वतंत्र कृषक, जिसके पास कुछ भूमि उसके जीवन भर के लिए थी न्यायालय में आया और उसने वह भूमि जीवन भर के लिए (किसी अन्य को) दे दी और इसे न्यायालय में पंजीकृत कराने के लिए उसने भूपति को 6 दीनार शुल्क प्रदान किया।"[1]

अब किसी भी अन्य वस्तु की तरह भूमि का भी स्वतंत्रता पूर्वक क्रय-विक्रय और विनिमय किया जा सकता था। इस नयी स्थिति ने पुरने सामन्ती संसार का अंत कर दिया। परिवर्तन की गतिमान शक्तियां पश्चिम योरोप पर हावी हो गईं और उन्होंने एक नये युग का द्वार खोल दिया।

[1]Page, *op. cit.*, p. 85.

6. "और कोई अजनबी काम नहीं करेगा....."

उद्योगों में भी परिवर्तन हुए। पहले जो भी उद्योग-धन्धे थे, वे किसानों के अपने घरों में चलाये जाते थे। यदि किसी किसान के परिवार को फर्नीचर की आवश्यकता है तो उसे किसी बढ़ई को बुलाने की आवश्यकता नहीं थी। न ही वह किसी मुख्य बाजार पर जाकर किसी दुकान से फर्नीचर खरीद कर ला सकता था। किसान के परिवार के लोग ही स्वयं लकड़ी काट-छांट कर अपनी आवश्यकता का फर्नीचर तैयार कर लेते थे। अगर परिवार के किसी सदस्य को कपड़े की आवश्यकता है तो परिवार के लोग ही कात-बुन कर स्वयं अपने कपड़े सी लेते थे। उद्योग घरों में चलता था ओर उत्पादन का उद्देश्य केवल घर की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र था। भूपति के कृषक-दासों में कुछ केवल इसी प्रकार के कामों के लिए रखे जाते थे जबकि दूसरे खेती-बाड़ी का काम करते थे। धर्म-विहारों में भी कुछ कारीगर ऐसे थे जो किसी एक या दूसरे शिल्प में प्रवीणता प्राप्त कर वस्त्र बुनने, लकड़ी अथवा लोहे के काम मे कुशल कारीगर बन जाते थे। लेकिन यह भी व्यापारिक उद्योग नहीं था जो बाजार का सम्भरण कर सकता। यह भी केवल घर की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। शिल्पियों की स्वतंत्र आजीविका के लिए बाजार अभी बनना था।

नगरों के उत्थान और मुद्रा के उपयोग ने शिल्पियों को खेती-बाड़ी छोड़ कर अपने शिल्प से आजीविका उत्पन्न करने का अवसर प्रदान किया। बूचड़, नानबाई और मोमबत्ती बनाने वाले नगर में आकर दुकानें खोलने लगे और वे अपनी घरेलू आवश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु दूसरों की मांग को पूरा करने के लिए मांस काटने, रोटी पकाने अथवा मोमबत्तियां बनाने के व्यापार का काम करने लगे। वे एक छोटे मगर विकासोन्मुख बाजार के सम्भरण के लिए

व्यापार में लग गए।

अधिक पूंजी की आवश्यकता नहीं थी। रहने के मकान का एक कमरा ही शिल्पी के कारखाने का काम दे सकता था। उसकी आवश्यकता थी केवल अपने शिल्प में प्रवीणता की और उसकी बनाई हुई वस्तुओं को खरीदने वाले ग्राहकों की। अगर शिल्पी कुशल होता और नगरवासियों में अपनी बनाई वस्तुओं के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता तो उसकी वस्तुओं की मांग होने लगती और वह दो-एक सहायक रख कर अपना उत्पादन बढ़ा सकता था।

सहायक दो प्रकार के होते थे–शिशिक्षु और कर्मी। शिशिक्षु किशोर बालक होते थे जो स्वामी शिल्पी के साथ ही रहते, काम और व्यापार सीखते थे। शिशिक्षुता की अवधि शिल्प व्यवसाय के अनुसार भिन्न-भिन्न थी। यह एक वर्ष की भी हो सकती थी और बारह वर्ष की भी। शिशिक्षुता होना एक गम्भीर बात थी। इसका अर्थ था बालक और उसके माता-पिता का स्वामी शिल्पी के साथ एक प्रकार का अनुबन्ध जिसके अनुसार साधारण शुल्क (भोजन अथवा मुद्रा के रूप में) तथा परिश्रमी और आज्ञाकारी होने के वचन के बदले में शिशिक्षु अनुबन्ध काल में स्वामी शिल्पी के साथ ही रहता और खाता-पीता था और शिल्पी उसे व्यापार के समस्त रहस्यों का ज्ञान कराता था।

शिशिक्षु के रूप में निश्चित अवधि तक कार्य कर चुकने के पश्चात यदि शिशिक्षु परीक्षा उत्तीर्ण कर ले और उसके पास साधन हों तो वह स्वंय अपनी दुकान खोल सकता था। अगर उसके पास अपना कारोबार चलाने के लिए पर्याप्त धन न हो तो वह कर्मी बन जाता था और उसी स्वामी शिल्पी के पास मजदूरी पर काम करने लगता था अथवा किसी अन्य स्वामी की चाकरी खोज लेता था। कठोर श्रम और सावधानीपूर्वक बचाये गये मजदूरी के रुपए से प्राय: वह कुछ वर्षों में अपनी दुकान खोलने में सफल हो जाता था। उन दिनों व्यापार में प्रवेश करने और उत्पादन आरंभ करने के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता नहीं थी। यह मध्ययुग की विशिष्ट औद्योगिक इकाई–एक छोटा-सा घरेलू कारखाना होता था, जहां उसका स्वामी कुछ लोगों को रोजगार देकर स्वयं अपने उन सहायकों के साथ काम करता था। और वह स्वामी उन विक्रयार्थ वस्तुओं का केवल उत्पादन ही नहीं करता था अपितु अपने तैयार किए माल को बेचने का काम भी प्राय: वह स्वयं करता था। कारखाने की एक दीवार में ही कोई

खिड़की हो सकती थी जो सड़क की ओर खुलती हो और उसमें से विक्रयार्थ माल दिखाया जाता था और वस्तुत: बेचा भी जाता था।

औद्योगिक संगठन में इस नयी व्यवस्था को समझ लेना महत्वपूर्ण होगा। पहले जहां वस्तुओं का उत्पादन व्यापारिक विक्रय के लिए न होकर केवल घरेलू आवश्यकता की पूर्ति के लिए होता था, अब वह उत्पादन बाजार में बिक्री के लिए होने लगा। यह उत्पादन उन शिल्पियों द्वारा होता था, जो कच्चा माल भी रखते थे और अपने काम करने के औजार भी। साथ ही, वे निर्मित वस्तुओं की बिक्री भी करते थे। (आज कारखानों में काम करने वाले कर्मी न तो कच्चा माल ही अपने पास रखते हैं और न काम करने के औजार। वे तैयार किया हुआ माल नहीं अपितु केवल अपना श्रम बेचते हैं।)

इन शिल्पियों ने सौदागरों का उदाहरण ग्रहण किया जो उनके सम्मुख था और उन्होंने भी अपने संघ बनाए। नगर विशेष के एक ही शिल्प में लगे हुए समस्त कर्मियों ने अपने-अपने संगठन बनाए जो संघ कहलाए। आज जब एक राजनीतिज्ञ अथवा उद्योगपति "पूंजी और श्रम की सहभागिता" पर भाषण देता है तो पुराना अनुभवी कर्मी उस भाषण को सुन कर अपने कंधे झटका कर कहेगा: "नहीं, यह नहीं हो सकता।" वह उस पर विश्वास नहीं कर सकता। उसने अब तक यही जाना है कि मजदूरी देने वाले और मजदूरी पाने वाले के बीच बहुत बड़ी खाई है। वह जानता है कि मजदूर और मालिक के साझीदार होने की बातें कितनी ही क्यों न की जाएं पर उन बातों से स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यही कारण है कि वह कम्पनी-यूनियनों के प्रति शंकित हो जाता है। जहां तक उसका वश चलता है वह उस मजदूर संघ का सदस्य बनना कभी पसन्द नहीं करता, जिसमें उसके मालिक का विशेष हाथ होता है।

लेकिन मध्य युग के शिल्पी संघ भिन्न थे। शिशिक्षु, कर्मी और स्वामी शिल्पी–समान कार्य करने वाले सभी लोगों का एक ही संघ होता था। स्वामी और उसके सहायक कर्मी एक ही संगठन में रहकर समान हितों के लिए संघर्ष कर सकते थे। यह इसलिए सम्भव था क्योंकि उन दिनों मालिक और मजदूर का अन्तर इतना अधिक न था। कर्मी स्वामी के साथ ही रहता, वैसा ही भोजन करता, उसी ढंग से उसकी शिक्षा होती, वह उन्हीं बातों पर विश्वास करता और उन्हीं विचारों पर चलता था। शिशिक्षु अथवा कर्मी स्वयं स्वामी बन जाएं, यह

एक अपवाद नहीं, उस युग का सामान्य नियम था। जब तक यह स्थिति रही तब तक स्वामी ओर उसके कर्मचारी एक ही संघ के सदस्य बनते रहे। कालान्तर में जब स्थिति बदल गई तो हम देखते हैं कि कर्मचारी अपने स्वतंत्र संघ बनाने लगे। लेकिन संघ संगठन के प्रारंभिक युग में साज निर्माता संघ में सभी साजनिर्माता सम्मिलित थे। तलवार पालिश करने वालों के संघ में उस काम में लगे हुए सभी लोग सम्मिलित थे। इसी प्रकार किसी भी संघ में उस वर्ग के सभी लोग सम्मिलित होते थे, भले ही वे स्वामी-शिल्पी हों अथवा कर्मी अथवा शिशिक्षु हों। प्रत्येक शिशिक्षु के अधिकार वही थे जो किसी भी अन्य शिशिक्षु के थे। प्रत्येक कर्मी के अधिकार समान थे। प्रत्येक स्वामी-शिल्पी के अधिकार भी समान थे। शिल्पी संघों में विभिन्न श्रेणियां विद्यमान थीं और शिशिक्षु की निम्नतम श्रेणी से स्वामी-शिल्पी की उच्चतम श्रेणी तक पहुंचने में अनेक कर्मियों के लिए कोई बाधा न थी।

क्या आपने अंग्रेजी का टॉयर (Tawyer) शब्द सुना है? यह शब्द अब अप्रचलित हो चुका है क्योंकि शायद यह एक अप्रचलित व्यवसाय का बोधक है। इस शब्द का अर्थ है खटीक अथवा सफेद चमड़ा कमाने वाला। 14वीं शताब्दी में लन्दन में यह एक बहुत बड़ा व्यवसाय था और इन लोगों का एक अपना संघ भी था। इस संघ के 1346 के नियमों के अध्ययन से हम शिल्पी संघों के सम्बन्ध में कुछ बातों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

"(1)... यदि किसी संयोगवश इस व्यवसाय का कोई व्यक्ति वृद्धावस्था के कारण अथवा श्रम न कर पाने के कारण निर्धन हो जाता है और अगर वह प्रतिष्ठित व्यक्ति है... तो उसे प्रति सप्ताह...भरणपोषणार्थ 7 शिलिंग मिलेंगे।

(2) और कोई भी अजनबी...जब तक कि वह शिशिक्षु न रह चुका हो अथवा उक्त नगर की नागरिकता प्राप्त न कर चुका हो इस व्यवसाय में सम्मिलित नहीं होगा।

(3) और कोई भी व्यक्ति पहले स्वामी की अनुमति बिना किसी अन्य के कर्मी को उसके अनुबन्ध की अवधि में अपने पास नहीं रख सकेगा। और अगर शिल्पी के पास ऐसा काम होगा जिसे वह पूरा नहीं कर सकता... तो इस व्यवसाय के अन्य सदस्य उसकी सहायता करेंगे ताकि काम की हानि न हो।

(4) और अगर कोई सेवक अपने स्वामी के प्रति ऐसा आचरण करता है

जो उचित नहीं है अथवा उसके प्रति विद्रोह करता है तो जब तक वह महापौर अथवा नगर-उपाध्यक्ष के सम्मुख क्षमा-याचना न करे, उक्त व्यवसाय का कोई भी व्यक्ति उसे काम पर नहीं लगायेगा।

(5) और इस व्यवसाय के भद्रजन वर्ष में एक बार,.... उस वर्ष में व्यवसाय से सम्बन्धित प्रत्येक काम-काज की जांच-पड़ताल करने के लिए... दो व्यक्तियों का निर्वाचन करेंगे..... जो महापौर और उपाध्यक्षों के सम्मुख उपस्थित किये जायेंगे,.... और उनके सम्मुख मित्रता अथवा घृणा से मुक्त रह कर खोज-पड़ताल करने तथा निष्पक्षतापूर्वक व्यवसाय से सम्बन्धित समस्त त्रुटियों को महापौर और उपाध्यक्षों के सम्मुख प्रस्तुत करने की शपथ ग्रहण करेंगे।

साथ ही छल अथवा कपटपूर्वक प्राप्त की गई खालें जब्त कर ली जायेंगी।

(6) और जो व्यक्ति शिशिक्षु नहीं रहा है और जिसने इस व्यवसाय में नियमपूर्वक शिक्षा की अवधि पूर्ण नहीं की है, उसे व्यवसाय में स्वीकार नहीं किया जाएगा।''[1]

इस प्रकार के सहस्त्रों पुराने आलेखों का अध्ययन करने के पश्चात इतिहासज्ञ आज सैकड़ों वर्ष पश्चात शिल्पी-संघों के विकास की कहानी के सूत्र जोड़ सके हैं।

पहले नियम से स्पष्ट है कि संघ के सम्मुख सदस्यों के कल्याण की भावना विद्यमान थी। मित्रतापूर्ण भ्रातृत्व की भावना के साथ वे अपने संकट ग्रस्त सदस्यों की सहायता करते थे। अनेक संघ सम्भवत: संगठित ही इसलिए हुए थे कि वे संकट के समय एक-दूसरे की सहायता कर सकें। प्रसंगवश यह एक रोचक तथ्य है कि जिस बेकारी, बीमा और वृद्धावस्था पेंशन की आज इतनी चर्चा है, इसकी व्यवस्था आज से छ: सौ वर्ष पूर्व इन शिल्पी-संघों द्वारा अपने सदस्यों के लिए कर दी गई थी।

तीसरा नियम पुन: इस तथ्य का प्रमाण है कि इन संघों का निर्माण पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के लिए नहीं अपितु परस्पर मित्रता की भावना की वृद्धि के लिए हुआ था। विशेष रूप से इस व्यवस्था पर ध्यान दीजिए कि यदि एक खटीक किसी काम को नहीं निबटा पाता है तो अन्य खटीक उसकी सहायता करेंगे ताकि उसके व्यवसाय की प्रतिष्ठा नष्ट न हो। स्पष्टत: संघ के सदस्यों का

[1]Bland, Brown and Tawney, *op. cit.*, p.136.

व्यापारिक हित इन संघों का एक मुख्य आधार था।

शिल्पी-संघों का संगठन स्पष्टतः शिल्प-व्यवसाय को अपने हाथ में रखकर इस पर पूर्ण नियंत्रण रखने के उद्देश्य से हुआ था। दूसरे नियम को आप फिर पढ़ें। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि उससे स्पष्ट है कि शिल्प-संघ व्यापारी संघों की भांति नगर के सम्पूर्ण शिल्प पर अपना एकाधिकार प्राप्त करना चाहते थे और उन्होंने वह प्राप्त भी किया। नगर में किसी भी शिल्प-व्यवसाय को आरम्भ करने के लिए आपको इस शिल्पी-संघ का सदस्य बनना पड़ता था। कोई भी बाहरी व्यक्ति संघ की अनुमति के बिना अपना व्यवसाय नहीं चला सकता था। यहां तक कि बाल और फ्रैंकफुर्ट में भिखारियों का भी अपना संघ था जो वर्ष में दो दिनों के अतिरिक्त किसी भी बाहरी व्यक्ति को नगर में भिक्षा नहीं मांगने देता था।[1] संघ अपने एकाधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नहीं करते थे। इसी में उनका हित था और उन्होंने उस एकाधिकार को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया था। चर्च जैसी शक्तिशाली संस्था को भी संघ की व्यवस्था को स्वीकृति देनी पड़ी। 1498 में एक जर्मन नगर के सेंट योहान चर्च के प्रमुखों ने अपने खेत में पैदा हुए गेहूं और राई के आटे की रोटी बनवानी चाही। उन्हें इसके लिए नानबाई-संघ की स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ी। नानबाई-संघ ने अनुग्रह-पूर्वक अनुमति प्रदान की-"नानबाई संघ के स्वामी और समस्त सदस्य.... सद्भावनापूर्वक अनुमति प्रदान करते हैं कि पादरी और पुरोहित... संघ के एक नानबाई को अपने जौ, गेहूं और राई से रोटी पकाने के लिए रख सकते हैं।

....(और क्योंकि संघ के सदस्य अब चर्च को रोटी नहीं बेच सकेंगे अतः उस हानि की पूर्ति के लिए चर्च ने उन्हें)... 16 मार्क प्रदान किये।"[2]

संघ सदस्यों ने अपने नगर में अपने शिल्प पर एकाधिकार बनाये रखने के लिए संघर्ष किया था और वे किसी बाहरी व्यक्ति को अपने बाजार में अनाधिकार प्रवेश करने की स्वीकृति नहीं दे सकते थे। जब आप मध्ययुगीन इतिहास की पुस्तकों में दो नगरों के मध्य होने वाले भीषण युद्धों का वृतान्त पढ़ते हैं तो स्मरण रखें कि ये युद्ध प्रायः इसलिए लड़े गये थे कि संघ के सदस्य बाहरी प्रतिद्वन्द्विता सहन नहीं कर सकते थे।

[1]Cf. J. Kulischer, *op. cit.*, vol. I, p. 192.

[2]F. Philippi, *Die Aeltesten Osnabruckischen Gildeurkunden (bis 1500)*, pp. 75-76. Kisling, Osnabruck, 1890.

आज किसी वस्तु के निर्माण की नवीन अथवा श्रेष्ठ विधि का आविष्कारक अपनी सूझ पर पेटेण्ट प्राप्त कर लेता है और अन्य कोई उसका उपयोग नहीं कर सकता। लेकिन मध्ययुग में पेटेण्ट-विधान नहीं था और यह स्वाभाविक ही था कि संघ के सदस्य अपने एकाधिकार को बनाये रखने के लिए व्यापारिक रहस्यों को दूसरों से गुप्त रखने में अत्यन्त सतर्क रहते। फिर भी रहस्यों की जानकारी का प्रकट होना किस प्रकार रोका जा सकता था? वे दूसरों को अपने व्यापार के दांव-पेंच सीखने से किस प्रकार रोक सकते थे? 1454 में वेनिस के एक कानून से हमें कम से कम एक ऐसी विधि का सूत्र मिलता है: "यदि कोई शिल्पी नगर-तंत्र को हानि पहुंचाते हुए कोई भी कला अथवा शिल्प किसी दूसरे देश में ले जाएगा तो उसे वापिस लौटने की आज्ञा दी जाएगी और अगर वह आज्ञा का उल्लंघन करे तो उसके निकट सम्बन्धी बन्दी बना लिये जाएंगे। ताकि परिवार का भाव-बन्धन उसे वापिस लौटने को प्रवर्तित कर सके। अगर वह तब भी आज्ञा के उल्लंघन पर खड़ा रहे तो वह जहां कहीं भी हो, उसे गुप्त रूप से मरवा डालने के प्रयत्न किये जायेंगे।"[1]

एक ओर संघ इस बात पर दृढ़ थे कि कोई बाहरी व्यक्ति उनके एकाधिकार का अतिक्रमण न करे, दूसरी ओर वे इस बात में उतने ही सतर्क थे कि उनके अपने बीच भी परस्पर कोई ऐसा अनुचित आचरण न हो जिससे कि एक सदस्य दूसरे सदस्य के व्यापार को हानि पहुंचा सके। खटीक-संघ के तीसरे नियम का पहला वाक्य वस्तुतः परस्पर गला काटने की प्रवृत्ति पर रोक लगाता है। संघ का सदस्य किसी शिशिक्षु अथवा कर्मी को उसके स्वामी से पृथक फुसला नहीं सकता था। व्यापार प्राप्त करने के लिए किसी ग्राहक को किसी भी उपाय से बहकाने अथवा घूस देने की प्रथा पर बहिष्कार था, हालांकि जो आज बहुत प्रचलित है। 1443 में, फ्रांस के कोरबी नामक नगर के नानबाई-संघ ने आदेश दिया, " कोई भी व्यक्ति रोटी बेचने के लिए ग्राहक को पेय प्रस्तुत नहीं करेगा और न ही कोई अन्य शिष्टाचार प्रदर्शित करेगा। आदेश के उल्लंघन पर 60 सू जुर्माना देना होगा।"[2]

---

[1]G. Renard, *Guilds in the Middle Ages*, p. 36. G. Bell & Sons, Ltd., London, 1918.
[2]Thierry, *op. cit.*, p. 540.

पांचवे और छठे नियम को फिर पढ़ें। इन नियमों से स्पष्ट है कि संघों को जो एकाधिकार प्राप्त थे, उनके बदले में वे अच्छी सेवा करते थे। वे अपने सदस्यों के काम की श्रेष्ठता का ध्यान रखते थे ताकि ग्राहक को अच्छा माल मिल सके। इस नियम को अनिवार्य बनाकर कि प्रत्येक सदस्य ने अपना शिक्षण-काल पूरा किया है, वे यह निश्चित करना चाहते थे कि वह अपने व्यवसाय का ज्ञान रखता है। फिर उसके काम के सावधानीपूर्ण निरीक्षण द्वारा वे ग्राहक को घटिया माल की खरीद के विरुद्ध संरक्षण देते थे। संघ को अपनी प्रतिष्ठा का मान था और शिल्पी की हर बिक्री के साथ संघ की अधिकृत गारंटी थी कि माल प्रामाणिक है। भद्दे काम पर रोक लगाने और श्रेष्ठता का उच्च स्तर बनाये रखने के लिए संघ ने सहस्त्रों नियम-विनियम बना रखे थे। इन नियमों के उल्लंघन पर कठोर दण्ड दिए जाते थे। 1322 में लन्दन के शस्त्रकारों द्वारा बनाये हुए विनियम इस प्रकार थे......" और अगर किसी घर में बिक्री के लिए किसी प्रकार के ऐसे शस्त्रास्त्र पाये जाएं.... जो उचित गुण वाले न हों... तो वे शस्त्रास्त्र तत्काल ले लिये जाएंगे और महापौर एवं उपाध्यक्षों के सम्मुख उपस्थित किये जाएंगे जहां उनके विवेकानुसार उनके अच्छे या बुरे होने का निर्णय किया जाएगा।"[1]

संघ के निरीक्षक निरीक्षण के लिए नियमित दौरे करते रहते थे। और वे सदस्यों द्वारा व्यवहृत बाटों और पैमानों, कच्चे माल की किस्म और तैयार माल के विशिष्ट गुणों की परीक्षा करते थे। प्रत्येक वस्तु को भली भांति जांच कर उसे मुद्रांकित कर दिया जाता था। संघ के सदस्यों द्वारा निर्मित वस्तुओं के गुणों का कठोर परिनिरीक्षण आवश्यक समझा जाता था जिससे कि संघ की प्रतिष्ठा पर आंच न आने पाये और उसके परिणाम-स्वरूप व्यापार को हानि न पहुंचे। नगर-अधिकारी भी जनता के संरक्षण के लिए इसकी मांग करते थे। जनता के हितों की रक्षा के लिए कुछ संघ वस्तुओं पर "उचित मूल्य" की मुद्रा भी लगा देते थे।

किसी वस्तु के "उचित मूल्य" का क्या अर्थ था, यह समझने के लिए

[1]*Memorials of London and London Life in the XIIIth, XIVth and XVth Centuries,* p. 146. Selected, translated and edited by H.T. Riley. Longmans, Green and Company, London, 1868.

आपको सूदखोरी के सिद्धान्त की मध्ययुगीन धारणा को पुनः स्मरण करना होगा और यह कि उस युग में उचित और अनुचित की भावना का आर्थिक विचारों में कितना अधिक प्रवेश था। प्राचीन प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था की विनिमय प्रणाली में व्यापार लाभ कमाने के लिए नहीं, अपितु ग्राहक और विक्रेता दोनों की सुविधा के लिए होता था। वस्तुओं के विनिमय में दोनों में से किसी पक्ष से भी दूसरे की अपेक्षा अधिक लाभान्वित होने की अपेक्षा नहीं की जाती थी। मेरा ओवरकोट आपकी पांच गैलन मदिरा से समान रूप से बदला जा सकता था। क्योंकि ऊन का मूल्य और कोट बनाने में मैंने जितने दिनों का श्रम व्यय किया है, वे मिलाकर आपके अंगूरों और मदिरा निकालने में व्यय किये गये आपके समय के बराबर थे। अब जबकि मुद्रा का प्रचलन हो चुका था, तब भी यही उपादान वस्तु के मूल्य निर्धारण में अन्तर्निहित थे। शिल्पी जानता था कि उसके माल की लागत ओर उसकी मजदूरी का मूल्य क्या है और इन्हीं से उस तैयार वस्तु का मूल्य निश्चित होता था, जो उसे बेचनी थी। शिल्पी जो वस्तु बनाता अैर बेचता था, उसका उचित मूल्य ईमानदारी के साथ उसकी वास्तविक लागत के आधार पर निर्धारित होता था और वह वस्तु उसी मूल्य पर ही बेची जा सकती थी। उससे एक पैसा भी अधिक नहीं लिया जा सकता था। सेंट थामस ऐक्विनास इस विषय पर अत्यन्त दृढ़ थे: "अब जो सामान्य हित के लिए संस्थापित किया गया है (अर्थात व्यापार) वह दूसरे की अपेक्षा एक के लिए अधिक बोझिल न बने.... अतः चाहे किसी वस्तु की कीमत उसके मूल्य से बढ़ जाए अथवा कम हो, दोनों अवस्थाओं में न्यायतः जिस समानता की आवश्यकता है, वह नहीं रहती। परिणामतः किसी वस्तु को उसके मूल्य से सस्ता खरीदना अथवा मंहगा बेचना अपने आप में अनुचित और अवैधानिक है।"[1]

जो वंचक व्यापारी वस्तुओं को उचित मूल्य से अधिक कीमत पर बेचने का प्रयत्न करते थे, उनका क्या होता था? मध्ययुगीन नागरिक शीघ्र धनी होने की लालसा रखने वाले व्यापारी से परित्राण पाने के लिए क्या कर सकता था? एक घटना इस पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। "जब रोटी की कीमत बढ़ जाती है अथवा जब किसी दुस्साहसी व्यक्ति द्वारा बहकाये जाने पर लन्दन के फल-विक्रेता यह सोच लेते हैं कि वे 'अपनी ही सरलता के कारण... निर्धन हैं

[1]Monroe, *op. cit.*, p. 54, 55.

और अगर वे उसकी सम्मति के अनुसार चलेंगे तो वे धनी और शक्तिशाली बन जायेंगे' तथा जनता की असुविधा के बावजूद अपना संघ बना लेते हैं तो नगरवासी और किसान भी इस अंतिम आशा पर आश्वस्त नहीं बैठे रहते कि मांग और पूर्ति का सिद्धान्त उन्हें फिर ठिकाने लगा देगा। सभी अच्छे ईसाइयों के समर्थन से शक्ति पाकर वे आटा पीसने वाले को अपराधी के कठघरे में खड़ा करते हैं और महापौर के न्यायालय में फल-विक्रेताओं के साथ तर्क करते हैं। और हलके के पादरी कहावतों की पुस्तक के निम्न शब्दों को चुनते हुए छठे आदेश का उपदेश देते हैं: 'न हमें धन दो, न निर्धनता, लेकिन इतना दो कि भरण-पोषण के लिए पर्याप्त हो'।"[1]

इन विरोधी नागरिकों द्वारा लोभी फल-विक्रेताओं को महापौर के न्यायालय में लाया जाना यह सिद्ध करता है कि यह केवल संघ सदस्यों के विवेक पर ही नहीं छोड़ दिया जाता था कि उचित मूल्य रखे जाएं। इस तथ्य के बावजूद कि चर्च ने लालसा का तिरस्कार किया, "दुस्साहसी व्यक्ति" जो फल विक्रेताओं को धनी बनाने का बचन दे रहा था, एक नहीं अनेक थे। व्यापारियों पर पूर्णत: विश्वास नहीं किया जाता था। यह महत्वपूर्ण है कि जर्मनी में "विनिमय" और "वंचना" दोनों शब्दों का मूल धातु एक ही है। अत: उस काल में नगर-अधिकारियों के लिए यह एक सामान्य प्रथा बन गई कि वस्तुएं अनुचित कीमत पर न बेची जाएं, यह देखना उनके प्रमुख कर्त्तव्यों में माना जाए। उदाहरणार्थ, कार्लाइल के सहायक अमीन को पद-ग्रहण करते हुए शपथ ग्रहण करनी पड़ी, "तुम्हें यह देखना होगा कि इस बाजार में आने वाली हर प्रकार की खाद्य सामग्री अच्छी और स्वास्थ्यप्रद होगी और उचित मूल्य पर बेची जाएगी।"[2] जहां कोई भी संघ अपनी वस्तुओं के एकाधिकार का उपयोग उचित मूल्य रखने की अपेक्षा अतिरिक्त लाभ कमाने में करता, वहां नगर-अधिकारियों को अधिकार था कि वे उस संघ को दी गई सुविधाएं वापिस ले लें।

नगरों के विस्तार और व्यापार के व्यापक होने से पहले वस्तुओं के उचित मूल्य का विचार स्वाभाविक था। बाजार के विकास और उसके परिणामस्वरूप थोक उत्पादन ने आर्थिक विचारों में परिवर्तन ला दिया और उचित मूल्य का

[1] R.H. Tawney, *op. cit.*, p.55.

[2] W.J. Ashley, *An Introduction to English Economic History and Theory*, Book II, p. 60. 2 vols. G.P. Putnam's Sons, N.Y., 1913.

स्थान बाजार मूल्य ने ले लिया। स्मरण रखें कि किस प्रकार आर्थिक शक्तियों ने ब्याजवृत्ति के प्रति विचारों में परिवर्तन किया। उचित मूल्य के विचार के साथ भी वही हुआ। नवीन आर्थिक शक्तियों के प्रवाह में उचित मूल्य का विचार भी बह गया।

मध्ययुग के आरम्भिक काल में, बाजार केवल स्थानीय होते थे। जो नगरवासियों और आस-पास के ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। दूरस्थ नगरों और देश के अन्य भागों की हलचल से ये बाजार अप्रभावित ही रहते थे और इसलिए मूल्य केवल स्थानीय परिस्थितियों के आधार पर ही निर्धारित होते थे। लेकिन इन स्थानीय बाजारों की परिस्थितियों में भी परिवर्तन होता रहता था और तदनुसार मूल्यों में भी परिवर्तन होता था। यदि अंगूरों की फसल पर किसी बीमारी का आक्रमण हो तो उस वर्ष पहले की अपेक्षा अंगूरी मदिरा बहुत कम बनेगी और सम्भवत: वह इतनी भी न हो कि सबको मिल सके। अत: उस स्थिति में इस कमी के कारण मदिरा उन्हीं लोगों को बेची जाएगी जो उसके लिए अधिक मूल्य देने की सामर्थ्य रखते हों और अधिक मूल्य देने के इच्छुक भी हों। यह मूल्य-वृद्धि उस वृद्धि से निश्चय ही भिन्न थी जो अतिरिक्त लाभ कमाने के प्रयत्न में कुछ लोगों द्वारा भण्डार को छिपा कर मूल्य बढ़ा देने से होती है। अनापेक्षित और अनियन्त्रणीय परिस्थितियों के कारण मूल्य बढ़ जाने में और कुछ व्यापारियों के लोभ के कारण मूल्यों के बढ़ने में अन्तर है। यह प्राय: समझा ही जाता था कि दुष्काल में मूल्य बढ़ेंगे पर इसे अप्राकृतिक और पूर्णत: असाधारण परिस्थितियों का परिणाम समझा जाता था। यह वृद्धि उस उचित मूल्य में हस्तक्षेप नहीं करती थी जो कि "प्राकृतिक" मूल्य होता था और अतिरिक्त लाभ को न्याय संगत नहीं बताता था। अच्छे वर्ष की अपेक्षा बुरी फसल के वर्ष में अपने अनाज के लिए अधिक मूल्य प्राप्त करना किसान के लिए न्याय संगत समझा जाता था क्योंकि उसके पास बिक्री के लिए अनाज कम था। उचित मूल्य का विचार छोटे, स्थानीय और स्थिर बाजार के अर्थतन्त्र के अनुकूल था।

लेकिन यह विचार विशाल बाहरी अस्थिर बाजार की अर्थव्यवस्था के अनुकूल न था। आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन ने आर्थिक विचारों में भी परिवर्तन ला दिया। जब बाजार का क्षेत्र केवल नगर में निर्मित माल के ग्राहक

और विक्रेताओं तथा आस-पड़ोस के उत्पादन तक ही सीमित न रहा, जब बाहर से आने वाले व्यापारियों, दूर-दूर से आने वाले माल और एक व्यापक क्षेत्र से आने वाले ग्राहक और विक्रेताओं ने बाजार में नये प्रभाव उत्पन्न कर दिये तो स्थानीय परिस्थितियों का स्थायित्व अस्थिर हो उठा। यह अवस्था व्यापारिक मेलों से उत्पन्न हुई जहां उचित मूल्य के नियम लागू नहीं होते थे। व्यापार के विकास के साथ बाजार को प्रभावित करने वाली परिस्थितियां अधिक अस्थिर होने लगीं और उचित मूल्य व्यावहारिक नहीं रहा। इस नयी अवस्था में अन्ततः बाजार-मूल्य को स्थान मिला। यद्यपि यह परिवर्तन वास्तव में हो रहा था पर लोगों को उसे अनुभव करने में काफी समय लगा और उससे भी अधिक समय उन्हें उसे स्वीकार करने में लगा। विचार और प्रथाएं जिन परिस्थितियों में पनपती हैं, उनके समाप्त हो जाने के पश्चात भी ये लोगों के बीच घर किये रहती हैं; जब लोगों को ले जाने के लिए डांडी-कुर्सियों का उपयोग होता था, कुलियों की पोशाक बनाते हुए उसमें कुर्सी को संभालने के लिए एक विशेष प्रकार के पट्टे से बनाए जाते थे। परन्तु जब इन डाँडियों का प्रयोग बिल्कुल समाप्त हो गया तब भी कुलियों की पोशाक उसी प्रकार बनती रही। वह पट्टे कुलियों के सामान का आवश्यक अंग माने जाने लगे। उनकी उपयोगिता जब समाप्त हो चुकी थी, दर्जी तब भी उन्हें बनाते रहे।

विचार इसी प्रकार लोगों में घर कर लेते हैं। यही उचित मूल्य के विचार के साथ भी हुआ। यह विचार पुरातन स्थिर परिस्थितियों में विकसित हुआ था, जब कि मूल्य को प्रभावित करने वाली हर वस्तु स्थानीय समाज से उत्पन्न और उस समाज से सुपरिचित थी। और जब अनेकानेक दूरस्थ और अपरिचित प्रभाव स्थानीय बाजारों में प्रविष्ट होने लगे थे, यह विचार तब भी लोगों के मस्तिष्क में स्थिर रहा। समय के साथ-साथ नयी परिस्थितियों ने नया दृष्टिकोण उत्पन्न किया। यह नया दृष्टिकोण 14वीं शताब्दी में पेरिस विश्वविद्यालय के प्राचार्य जेहान बरीदान के लेखों में प्रतिबिम्बित है: "वस्तु का मूल्य केवल उसके अन्तर्हित गुण से नहीं आंका जा सकता.....। मनुष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है और वस्तुओं का मूल्यांकन इस आवश्यकता के सम्बन्ध से होना चाहिए।"[1]

1 V. Brants, *Les Theories Economiques aux XIII^e et XIV^e Siecles*, p. 69, Peeters, Louvain, 1895.

बरीदान यहां मांग और पूर्ति की बात कर रहा है। उसका तर्क है कि परिस्थितियों से अलग वस्तुओं का कोई अपना निश्चित मूल्य नहीं है। अतः उचित मूल्य समाप्त हो गया और उसका स्थान बाजार मूल्य ने ले लिया।

जिस प्रकार मूल्य की धारणा में परिवर्तन आया, उसी प्रकार व्यापारिक संघों के संगठन में भी परिवर्तन हुए। वस्तुतः इतिहास परिवर्तनों का आलेख ही तो है। इसीलिए यह अध्याय इस विवरण के साथ आरम्भ होता है कि व्यापारी संघ प्रणाली किस प्रकार काम करती थी और इस कहानी के साथ पूर्ण होता है कि किस प्रकार यह प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई।

संघ प्रणाली की दो मूलभूत विशेषताएं थीं—स्वामियों के बीच समानता और कर्मी के लिए स्वामी बनने की सरलता। साधारणतः संघ प्रणाली के उत्कर्ष-काल—13वीं-14वीं शताब्दी तक ये विशेषताएं विद्यमान रहीं। तत्पश्चात अपरिहार्य परिवर्तन घटित हुए।

कुछ व्यवसायी संघों में स्वामियों के बीच समानता भूतकाल की बात बन कर रह गई। कुछ स्वामी समृद्धिशाली बन गये और अपने हाथों में अधिक शक्ति प्राप्त कर अपने अन्य कम सौभाग्यशाली सहयोगियों को हीन दृष्टि से देखने लगे और अन्त में उन्होंने अपने सर्वथा पृथक संघ बना लिये। "बड़े" और "छोटे" संघ अस्तित्व में आये और हीनतर संघों के स्वामी बड़े संघों के शासक स्वामियों के लिए मजदूरी पर भी काम करने लगे। प्रत्येक शिल्पी-संघ अपने-अपने माल का स्वयं व्यापार करता था और इसके परिणामस्वरूप पूर्व व्यापारी संघों के सदस्य समाप्त होते चले गये जिनका पहले नगर के सम्पूर्ण व्यापार पर एकाधिकार होता था। परन्तु कुछ व्यापारियों ने सामान्य व्यापार छोड़कर किसी एक वस्तुविशेष का व्यापार आरम्भ कर दिया और इस प्रकार समाप्त होने की अपेक्षा वे विशाल व्यापारी-संस्थाओं के रूप में सम्पन्न हो गये। दूसरी ओर कुछ शिल्पी-संघों के धनी सदस्यों ने उत्पादन को छोड़ कर वाणिज्य पर अपने आपको केन्द्रित करते हुए शुद्ध व्यापारिक कम्पनियों का गठन कर लिया जिनमें कारीगरों का कोई स्थान न था। जैसे लन्दन की बारह लिवरी कम्पनियां, पेरिस की छः कोर-दे-मेतिये और फ्लौरेंस की आर्ती मैगियोरी। ये चुनी हुई शक्तिशाली और धन-सम्पन्न व्यापारी संस्थाएं थीं और सर्वसाधारण पर इन्होंने आधिपत्य प्राप्त कर लिया था। जहां पहले संघ का अधिकारी धनी अथवा निर्धन कोई भी

स्वामी-शिल्पी हो सकता था, अब भेदभाव रखा जाने लगा। "इस प्रकार फ्लौरेंस के पुराने कपड़ों के विक्रेताओं में से कोई भी फेरीवाला जो गली-गली में चिल्लाकर अपना माल बेचता था और कोई भी नानबाई जो अपनी पीठ अथवा अपने सिर पर रोटी लाद कर घर-घर में ले जाता था, अध्यक्ष नहीं चुना जा सकता था।"[1]

अपने व्यापारिक संघों के नियन्त्रण से पौर-शासन का पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लेना एक छोटा-सा कदम था और बड़े व्यापारी-संघों के सदस्यों ने यह नियंत्रण पा लिया। वे नगर के वास्तविक शासक बन गये और लगभग सर्वत्र ही सबसे अधिक धनी और प्रभावशाली लोग नगर-सभा के साथ कम या अधिक सम्बन्धित थे। भूमि पर जन्म की कुलीनता ने शासक-श्रेणी को जन्म दिया, नगरों में धन की कुलीनता का शासन सर्वोच्च था। "15वीं शताब्दी में डौरड्रेश्ट और हालैंड के नगरों में सर्वत्र पौर-प्रशासन पूर्णतः धनिक-तंत्र और पारिवारिक अल्पजन-तंत्र बन गया......... । नगर की सत्ता तथाकथित रिकहाईट और फ्रोटशैप अर्थात धन और बुद्धि के पास रही, मानो इन दोनों का सदैव का साथ हो! कुछ थोड़े से निश्चित संख्या के सदस्यों का एक निगम होता था जिसे नगर के अधिकारियों को मनोनीत करने, महापौर का निर्वाचन करने और इस माध्यम से नगर के प्रशासन का नियंत्रण करने का अधिकार होता था।"[2]

जो "हालैंड के नगरों में सर्वत्र" सत्य था, वही जर्मनी में भी सत्य था। लुबेक में, व्यापारी और धनी नागरिक ही नगर पर शासन करते थे...। परिषद विधि-व्यवस्था, उच्चतम न्यायालय और नगरवासियों पर कर-निर्धारण का नियंत्रण करती थी और असीमित अधिकारों के साथ नगर का शासन चलाती थी।"[3]

संघ प्रणाली के नष्ट होने का एक अन्य कारण स्वामी और कर्मी के बीच बढ़ता हुआ अन्तर था। शिशिक्षु-कर्मी-स्वामी—यह नियम था। अब यह हो गया शिशिक्षु-कर्मी, और बस समाप्त। कर्मी से स्वामी तक उन्नति करना नितान्त कठिन हो गया। ज्यों-ज्यों अधिक से अधिक लोग नगर की ओर मुड़ने लगे,

[1]G. Renard, *op. cit.*, p. 29.
[2]K. von Hegel, *Stadte und Gilden der germanischen volker im Mittelater,* vol II, p. 315. 2 vols. Duncker u. Humblot, Leipzig, 1891.
3 *Ibid.*, p. 452

पुराने स्वामी उन्नति की सीढ़ियों को अधिक से अधिक विषम बना कर अपने एकाधिकारों की रक्षा के लिए तत्पर होने लगे और उन्नति का मार्ग केवल कुछ अधिकार-विशिष्ट लोगों के लिए ही रह गया। स्वामी की परीक्षा अधिक कठोर हो गई और स्वामी बनने के लिए जो रकम आपको देनी पड़ती थी, वह केवल विशिष्टाधिकार प्राप्त लोगों को छोड़ कर अन्य सबके लिए बढ़ा दी गई। सर्वसाधारण के लिए वैधानिक बन्धन अधिक कठोर हो गये और स्वामी बनना कठिनतर होता गया। कुछ विशिष्टाधिकार प्राप्त लोगों को विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं। और उनके लिए स्वामी बनना अपेक्षाकृत अधिक सरल था। सन् 1400 में अमीन्स नगर में चित्रकार और मूर्तिकारों के संघ के परिनियम के अनुसार यह आवश्यक था कि एक साधारण शिशिक्षु ने तीन वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की हो, वह अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति प्रस्तुत करे और 25 लीव्र शुल्क प्रदान करे। लेकिन, "अगर स्वामी के पुत्र उक्त नगर में अपना शिल्प आरम्भ करना चाहें और चलाना चाहें तो उन्हें अनुमति मिल सकती है। उनके लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि उन्हें कार्य का अनुभव हो और वह 10 लीव्र शुल्क प्रदान करें"।[1] जन-साधारण के लिए इस मार्ग-अवरोध का अन्तिम परिणाम हमें पेरिस के गमछा-बुनकर संघ के परिनियम में मिलता है जिनके अनुसार "केवल स्वामी बुनकर के पुत्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति स्वामी नहीं बन सकता था"।[2]

जब कर्मियों ने देखा होगा कि स्वामी बनकर अपनी स्थिति को उन्नत करने के उनके अवसर समाप्त होते जा रहे हैं तो उन्होंने कैसा अनुभव किया होगा? स्वाभाविक था कि उन्होंने प्रतिवाद किया। उनके सम्मुख यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया कि उनके स्वामियों के अधिकार और हित उनके अधिकारों और हितों के विरुद्ध थे। वे इस विषय में क्या कर सकते थे? उन्होंने अपने कर्मियों के पृथक संघ बनाये। "उन्होंने श्रम पर एकाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न किया जैसे कि स्वामियों ने एक या दूसरे उत्पादन पर अपना एकाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार जब तक कि जिले का कोई भी निवासी बाजार में मिल सकता हो, पेरिस के कील-निर्माताओं के लिए कहीं बाहर से किसी कर्मी

[1] Thierry. *op. cit.*, vol. 2, p.5
[2] Renard, *op. cit.*, p. 39.

को लाकर मजदूरी पर लगाना वर्जित था।... तूलूज के नानबाई कर्मियों और मोची कर्मियों ने अपने स्वामियों की संस्थाओं के विरुद्ध अपने सहकारी संघ स्थापित कर लिये...।"[1]

ये कर्मी-संघ आज के श्रमिक संघों की भांति अपने सदस्यों के लिए अधिक से अधिक मजदूरी पाने का प्रयत्न करते रहते थे और आज के श्रमिक संघों की भांति ही अपने प्रयत्नों में इन्हें स्वामियों का विरोध भी सहना पड़ता था। स्वामी नगर-अधिकारियों तक शिकायत पहुंचाते थे जो उनके अनुकूल रह कर कर्मी-संघों को अवैध घोषित कर देते थे। एक पुराने आलेख के अनुसार 1396 में लन्दन में ऐसा ही हुआ। आलेख में स्वामी पर्याणकारों (जीनसाजों) और उनके कर्मियों के बीच झगड़े की चर्चा है: "किसी सद्भावना के छल से उस व्यवसाय के अनेक कर्मचारियों (आज इन्हें "लालभाई" कहा जाएगा) ने कर्मियों को प्रभावित कर अपनी मजदूरी की अत्यधिक वृद्धि के उद्देश्य से अपने संघ बनाये हैं.... (महापौर और नगर-उपाध्यक्षों द्वारा) यह निर्णय किया गया है कि जिस प्रकार इसी नगर के अन्य व्यवसायों के कर्मचारी रहते हैं, उसी प्रकार उक्त व्यवसाय के कर्मचारी भी अपने व्यवसाय के स्वामियों के अभिशासन और अधिकार में रहेंगे और वे इन अधिकारों से बंधे हुए हैं। भविष्य में वे इस प्रकार की किसी बिरादरी, सभा अथवा संघ जैसी अवैधानिक कार्यवाही नहीं करेंगे। यह दण्डनीय होगा।"[2]

फ्रांस में ऐसी ही घटना घटी। 1541 में लियन नगर के सभासदों, उपाध्यक्षों और निवासियों ने फ्रैन्सिस प्रथम को शिकायत की कि "पिछले तीन वर्षों में कुछ कर्मचारियों और दुष्जीवी मुद्रक कर्मियों ने..... अधिकांश कर्मियों को विद्रोही बना दिया है और उन्होंने अपने स्वामी मुद्रकों को ऊंची मजदूरी देने और आज तक पुरानी प्रथा के अनुसार वे जो भोजन करते आ रहे हैं, उससे अच्छा भोजन देने को विवश करने के लिए अपने आपको संबद्ध कर लिया है....."। जिसके परिणामस्वरूप उक्त नगर लियन में मुद्रण व्यवसाय पूर्णत: नष्ट हो रहा है...."।[3] क्रोधित अभ्यर्थियों ने केवल शिकायत ही नहीं की अपितु

[1] *Ibid*., p.19.

[2] Bland, Brown and Tawney, *op. cit.*, pp. 139-141.

[3] *Recueil General des anciennes Lois Francaises*, vol. XII, Part 2, pp. 763-5. Edited by MM. Jourdan, Decrusy, Isambert. Plon Freres, Paris.

इसका प्रतिकार भी सुझाया जिसे फ्रैन्सिस ने उदारतापूर्वक कानून बना दिया। उस कानून के अनुसार "उक्त मुद्रण-व्यवसाय के कर्मी और शिशिक्षु कोई शपथ ग्रहण नहीं करेंगे, एकाधिकार स्थापित नहीं करेंगे, अपने बीच कप्तान अथवा सरदार नहीं बनायेंगे... न ही कोई झंडा या बिल्ला रखेंगे, न वे स्वामी के मकान और रसोई के बाहर तथा अन्यत्र कहीं न्यायालय के अधिकरण और अनुमति के बिना पांच से अधिक संख्या में एकत्र होंगे। अन्यथा वे एकाधिकार के पक्षपाती होने के रूप में कारावास, निष्कासन और दण्ड के भागी होंगे.....।

उक्त कर्मियों को किसी भी आरम्भ किये हुए काम को पूरा करना होगा और वे उसे अधूरा नहीं छोड़ेंगे। न ही वे हड़ताल करेंगे।"[1]

आप अनुमान लगा सकते हैं कि अधिक मजदूरी के लिए झगड़े, महामारी के तत्काल पश्चात विशेष रूप से अधिक बढ़े होंगे। मजदूरों की मांग अत्यधिक बढ़ रही थी, अतः मजदूरी का ऊंचा चढ़ना अनिवार्य था। जिस प्रकार गांवों में मजदूरों को महामारी से पूर्व स्तर तक रखने के लिए कानून बनाये गये, उसी प्रकार उन्हीं उद्देश्यों के साथ नगरों में भी वैसे ही कानून बनाये गये। इंग्लैंड में 1349 के श्रमिक कानून के अनुसार "कोई भी व्यक्ति किसी व्यक्ति को उसकी निश्चित मजदूरी, भत्ते, किराये अथवा वेतन से अधिक नहीं देगा। न ही देने का वचन देगा।... न ही कोई व्यक्ति अधिक मांगेगा या स्वीकार करेगा। कानून भंग करने पर इस प्रकार प्राप्त रकम का दुगुना दण्ड किया जाएगा....। पर्याणकार, चर्मकार, खटीक, मोची, दर्जी, लुहार, बढ़ई, राजगीर, खपरैल डालने वाला, नाविक, गाड़ीवान और अन्य कामगार और कोई भी कर्मचारी अपने परिश्रम और शिल्प की मजदूरी उससे अधिक नहीं लेगा, जो वह अब तक लेता आया है।"[2]

फ्रांस में भी 1351 में, इसी प्रकार का कानून बनाया गया "जो लोग पहले अंगूर तोड़ने का काम करते थे, वे अंगूरों की देखभाल करेंगे और महामारी से पूर्व उन्हें इस काम की जो मजदूरी मिलती थी, अब उसकी एक तिहाई मजदूरी उन्हें अधिक मिलेगी और उन्हें यह मजदूरी स्वीकार करनी होगी। यदि उन्हें इससे अधिक का वचन दिया जाए, तब भी वे इससे अधिक नहीं ले सकेंगे। ...यदि कोई भी निश्चित मजदूरी से अधिक देगा, और कोई भी लेगा... देने वाले और

---

[1]*Ibid.*
[2]Bland, Brown, and Tawney, *op. cit.*, pp. 165, 166.

लेने वाले दोनों को 60 सू का दण्ड देना होगा... और यदि वे जुर्माने की रकम न भर सकेंगे तो उन्हें रोटी और पानी पर चार दिन की कैद दी जाएगी...।"[1] यहां ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि कानून यहां उचित प्रतीत होता है पर यह निश्चित था कि दण्ड-शुल्क का भुगतान न होने से कारावास अधिकांशत: निर्धनों को ही मिलने वाला था। यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार लोगों को बन्दीघरों में डाल देने से मजदूरों की कमी पूरी नहीं हो सकती थी।

ये नियम सफल नहीं हुए। स्वामी अधिक देते थे और मजदूर अधिक मांगते और पाते थे। यद्यपि कर्मचारी संघ भंग कर दिये गये और उनके सदस्यों पर जुर्माने किये गये। उन्हें बन्दीघरों में डाला गया पर कर्मचारी संघों के स्थान पर अन्य संस्थाएं उठ खड़ी हुईं और बेहतर मजदूरी और अवस्था के लिए हड़तालें होती रहीं। वस्तुत: कर्मी लोग उन अनेक अन्य कर्मचारियों से कहीं अच्छी अवस्था में थे जिन्हें उन संघों में सम्मिलित होने की स्वीकृति नहीं थी; जिन्हें किसी व्यवसायी संघ में कोई अधिकार न था और जो केवल इन धनी उद्योगपतियों की दया पर जीवित थे, जिनके लिए वे दयनीय परिस्थिति में अधपेट मजदूरी पर काम करते थे। ये लोग घृणित, अस्वास्थ्यकारी, गन्दी झोंपड़ियों में रहते थे। न तो इन लोगों के पास वह कच्चा माल होता, जिस पर ये काम करते थे और न इनके पास औजार ही होते जिनसे वे काम करते थे। ये लोग वर्तमान सर्वहारा वर्ग के पूर्वज थे जिनके पास उनके श्रम के अतिरिक्त कुछ न था और जो अपनी आजीविका के लिए अपने स्वामी और बाजार की अनुकूल स्थिति पर निर्भर करते थे। उस काल के नगरों में दोनों छोर थे–निर्धन और दलित जीवन (फ्लौरेन्स नगर के उत्कर्षकाल में लगभग 20,000 से अधिक भिखारी थे) और चोटी पर वास्तविक विलासमय सम्पन्न जीवन।

सामन्ती महाप्रभुओं से नगरों की स्वतंत्रता के संघर्ष में धनी और निर्धन, व्यापारी, स्वामी और कर्मी सभी नगरवासियों ने मिलकर मोर्चा लिया था। परन्तु विजय का फल केवल उच्च वर्ग के उद्योगों को चखने को मिला, निम्न वर्ग के लोगों ने अनुभव किया कि उन्होंने केवल अपने स्वामी बदल लिये हैं। जहां पहले राजसत्ता सामन्त महाप्रभुओं के हाथों में थी, अब वह धनी नागरिकों के हाथों में केन्द्रित हो गई। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन शक्तिशाली शासकों के

1 *Ordonnances, op. cit.*, p. 367

विरुद्ध छोटे शिल्पों की ईर्ष्या और आक्रोश के साथ मिलकर निर्धनों के असंतोष ने उपद्रवों की एक श्रृंखला को जन्म दिया जिसने किसान विद्रोहों की भांति समूचे योरोप को अपनी लपेट में ले लिया। यह वर्ग-संघर्ष था, निर्धन का धनवान के विरुद्ध, अधिकार-विहीन वर्ग का अधिकार-विशिष्ट वर्ग के विरुद्ध। कुछेक स्थानों में निर्धनों ने विजय पाई और कुछ थोड़े वर्षों तक नगर को अपने अधिकार में भी रखा और अपने पराभव से पूर्व उन्होंने कुछ अत्यावश्यक सुधार भी किये। अन्य स्थानों पर यद्यपि विजय उनकी हुई, पर उनकी परस्पर फूट ने उन्हें शीघ्र ही पुनः पराभूत कर दिया। अधिकांश स्थानों में, विजय आरम्भ में ही धनिकों के हाथों में रही। यद्यपि उस विजय से पूर्व तक वे संयुक्त दलित वर्गों की शक्ति के भय से अत्यन्त चिन्ताकुल रहे।

इस विप्लव काल के पश्चात व्यापारी-संघों का पतन आरम्भ हुआ। स्वतंत्र नगरों की सत्ता निर्बल पड़ चुकी थी। एक बार पुनः नगरों का नियन्त्रण उन लोगों के हाथ में गया जो असंगठित समाज को संयोजित कर एक राष्ट्रीय राज्य का गठन कर रहे थे। और इस बार यह नियन्त्रण जिन ड्यूक, राजकुमार अथवा राजाओं के हाथों में पहुंचा वे पूर्ववर्ती समस्त राज-सत्ताओं से अधिक शक्तिशाली थे।

7. राजसत्ता का उद्भव

अगर इस प्रकार की कोई पुस्तक 10वीं अथवा 11वीं शताब्दी में लिखी गई होती तो लेखक के लिए काफी सुविधा थी। इस पुस्तक की अधिकांश सामग्री अत्यंत प्राचीन लेखों के अध्ययन पर आधारित है। ये लेख प्राय: विदेशी भाषाओं, लेटिन, प्राचीन अथवा आधुनिक फ्रांसीसी या प्राचीन अथवा आधुनिक जर्मन में हैं। परन्तु मध्ययुग के प्रारम्भ के इतिहास-लेखक को भूतकाल के आलेखों का अध्ययन करते हुए वे समस्त आलेख उस भाषा में मिलते जिससे वह भली भाँति विज्ञ था और वह भाषा थी लैटिन। भले ही वह लन्दन में रहता हो या पेरिस में, हैम्बुर्ग में या ऐम्स्टरडैम या रोम में–उसे कोई अन्तर नहीं पड़ता था। लैटिन समस्त विद्वानों की सार्वदेशिक भाषा थी। उस युग में बालक स्कूलों में अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मनी, डच अथवा इतालवी भाषा नहीं पढ़ते थे। वे लैटिन पढ़ते थे। लोगों की बोलचाल की भाषाएं अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मनी आदि थीं पर काफी समय तक लेखन-कार्य में इन भाषाओं का व्यवहार नहीं होता था। इंग्लैंड के मठ में जिस प्रकार एक साधु बाइबिल पढ़ता था स्पेन के अन्दर स्पेन का साधु भी उन्हीं लैटिन शब्दों में बाइबिल का पाठ करता था।

यदि आप उस युग के किसी विश्वविद्यालय में जाते तो आप देखते कि समस्त पश्चिमी योरोप से विद्यार्थी वहां आकर बिना किसी कठिनाई के परस्पर बातचीत और अध्ययन करते थे। विश्वविद्यालय वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं थीं।

चर्च भी सार्वदेशिक था। प्रत्येक व्यक्ति जो अपने आपको ईसाई कहता था, कैथोलिक चर्च में पैदा हुआ था। कोई अन्य चर्च नहीं था। भले ही आप चाहें अथवा न चाहें, आप चर्च को कर देते थे और आपको उसके विधि-नियमों के अधीन चलना पड़ता था। चर्च के अनुष्ठान जैसे जिनेवा में थे, साउथऐम्पटन में भी लगभग वैसे ही थे। धर्म के क्षेत्र में राज्य की सीमा रेखाएं नहीं थीं।

आज अधिकांश लोग सोचते हैं कि शिशु देश-भक्ति की जन्मजात प्रवृत्ति को लेकर पैदा होता है। निःसन्देह, यह सत्य नहीं है। अधिकांशतः राष्ट्रीय वीरों के महान कार्यों की कथाएं पढ़ने अथवा सुनने से राष्ट्र-भक्ति का उदय होता है। 10वीं शताब्दी में बालकों के अपने स्कूलों की पुस्तकों में अपने देश के जहाजों द्वारा शत्रुओं के जहाज डुबो देने जैसे चित्र पढ़ने को नहीं मिलते थे। कारण स्पष्ट है। उस युग में देशों का रूप वह नहीं था जो आज है।

पूर्व अध्याय से आपको स्मरण होगा कि उद्योग घर की सीमा को तोड़ कर नगर की ओर मुड़ चला था। यह स्थानीय था, राष्ट्रीय नहीं। चेस्टर के व्यापारी-संघ के लिए उसके एकाधिकार में हस्तक्षेप करने वाला लन्दन का माल भी उतना ही विदेशी था, जितना कि पैरिस से आने वाला माल। थोक व्यापारी समस्त संसार को अपना प्रान्त अनुभव करता था और वह संसार के किसी एक भाग में अपने पांव जमाने का जितना प्रयत्न करता था, उतना ही किसी दूसरे भाग में भी करता था।

परन्तु मध्ययुग के अन्त तक, लगभग 15वीं शताब्दी तक आते-आते परिस्थिति बदल चुकी थी। राष्ट्रों का उदय हो चुका था। राष्ट्रों के आधार पर विभाजन स्पष्ट हो चुका था, राष्ट्रीय साहित्य का विकास हो रहा था। उद्योग के लिए राष्ट्रीय विधान स्थानीय व्यवस्था का स्थान ले रहा था। राष्ट्रीय कानून, राष्ट्रीय भाषा और यहां तक कि राष्ट्रीय चर्च भी अपना अस्तित्व बना रहे थे। लोग अब अपने लिए मैड्रिड या केण्ट या बर्गन्दी के नहीं अपितु स्पेन या इंग्लैंड या फ्रांस के नागरिक के रूप में सोचने लग गये थे। अब वे किसी नगर-विशेष अथवा सामन्ती प्रभु-विशेष के प्रति नहीं अपितु अपने राजा के प्रति निष्ठा अनुभव करते थे जो समस्त राष्ट्र का अधिपति था।

राष्ट्रीय राज्यों का यह उदय किस प्रकार हुआ? इसके कई कारण थे-राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक , आर्थिक। इस रोचक विषय पर पूरे ग्रन्थ लिखे गए हैं। हम केवल कुछ कारणों पर ही, मुख्यतः आर्थिक कारणों पर विचार कर सकेंगे।

मध्यवित्त वर्ग का उदय 10वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी के इस युग का महत्वपूर्ण विकास है। जीविका के साधनों में जो परिवर्तन हुआ उनसे इस वर्ग के उद्भव को पोषण मिला और फिर इस नये वर्ग का आगमन समाज की

जीवन पद्धति के परिवर्तन का कारण बना। पुरानी व्यवस्था में जो पुरानी संस्थाएं अपना उद्देश्य पूरा कर चुकी थीं, वे क्षीण होकर नष्ट हो गईं। नई संस्थाएं उनका स्थान लेने के लिए प्रकट हुईं। इतिहास का यह नियम है।

जिनके पास धन अधिक है, वही इस बात की चिन्ता सबसे अधिक करते हैं कि उनके जिले में पर्याप्त आरक्षी-दल है अथवा नहीं। जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया अथवा माल भेजने के लिए राजपथों का उपयोग करना है वही सबसे जोर से चिल्लाते हैं कि राजपथ चुंगी और डाकुओं से मुक्त होने चाहिए। असुरक्षा और अस्तव्यस्तता व्यापार के लिए बुरी हैं। मध्य-वर्ग सुरक्षा और व्यवस्था चाहता है।

वे किसका आश्रय लेते? सामन्ती प्रणाली में सुरक्षा और व्यवस्था का दायित्व कौन लेता? पूर्व काल में अभिजात वर्ग अथवा सामन्ती महाप्रभु संरक्षण देते रहे हैं पर इन महाप्रभुओं की अवैध लूट के विरुद्ध ही नगरों का संघर्ष रहा है। सामन्ती सेना ही थी जो लूटमार, विनाश और चोरी करती थी। अभिजात प्रभुओं के सैनिक नियमित सैनिकवृत्ति न पाने पर नगरों में लूट-मार करते और जो भी हाथ लगता, चुरा लेते थे। विरोधी महाप्रभुओं के परस्पर संघर्ष का अर्थ प्राय: स्थानीय आबादी का विनाश होता था, भले ही विजय किसी भी पक्ष की हो। व्यापार के राजपथों के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न महाप्रभुओं की उपस्थिति ही व्यापार को कठिन बना रही थी। आवश्यकता थी एक केन्द्रित सत्ता की, एक राष्ट्रीय राज्य की। एक सर्वोच्च शक्ति जो सामन्ती अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलने की सामर्थ्य रखती हो। पुराने महाप्रभु अपना दायित्व पूर्ण नहीं कर पा रहे थे। उनका समय बीत चुका था। एक शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति के लिए समय पूर्णत: परिपक्व था।

मध्ययुग में राजा की सत्ता का अस्तित्व केवल सिद्धान्त में था। पर वास्तव में यह सत्ता अत्यन्त दुर्बल थी। बड़े-बड़े सामन्त व्यवहारत: स्वतंत्र थे। उनकी शक्ति को भंग करना आवश्यक था और वह शक्ति भंग हुई।

वे कदम जिनसे केन्द्रीय सत्ता अपनी राष्ट्रीय शक्ति का उपयोग करने में समर्थ हो सकी, बहुत धीमे और अनियमित थे। यह विकास एक सीढ़ी की तरह नहीं था जिसमें निश्चित दिशा में एक कदम पर दूसरा कदम स्थिरतापूर्वक चढ़ता चला जाता है। यह एक ऊबड़-खाबड़ सड़क की भांति था, जहां पांव बार-बार

रपट जाता है इस विकास में वर्ष, दो वर्ष पचास अथवा सौ वर्ष नहीं अपितु शताब्दियां लग गईं पर अन्ततः यह यात्रा पूर्ण हुई।

भूपति भूमि और कृषक-दासों पर अपना अधिकांश स्वामित्व खोकर निर्बल होते जा रहे थे। उनकी शक्ति को चुनौती मिली नगरों से और अंशतः वह शक्ति टूट गई। कुछ स्थानों पर परस्पर युद्धों से वे स्वयं एक दूसरे का मूलोच्छेद करके आगन्तुक केन्द्रीय सत्ता पर अनुग्रह कर रहे थे।

महाप्रभु भूपतियों के विरुद्ध नगरों के संघर्ष में राजा नगरों का शक्तिशाली मित्र था। जिससे भी जागीरदारों की शक्ति कम होती, उससे राजा की शक्ति दृढ़ होती थी। उसकी सहायता के बदले में नगर-निवासी उसे रुपये के ऋण की सहायता देने के लिए प्रस्तुत रहते थे। यह महत्वपूर्ण था क्योंकि रूपये के बल पर ही वह अपने सरदारों की सैनिक सहायता से अपने को मुक्त रख सकता था। वह एक प्रशिक्षित सेना को किराये अथवा वेतन पर स्थायी रूप से अपनी सेवा में रख सकता था। जो भूपति अथवा जागीरदार की राजनिष्ठा पर आश्रित न थी। वह एक श्रेष्ठ सेना भी होती क्योंकि उसका एकमात्र कर्तव्य लड़ना ही था। सामन्ती सेनाएं प्रशिक्षित नहीं होती थीं न ही वह कोई नियमित संगठन था जिसमें वे परस्पर सहयोगपूर्वक काम कर सकें। भली भांति प्रशिक्षित और अनुशासित तथा आवश्यकता पड़ने पर सदैव तत्पर सेना, जो केवल लड़ने के लिए वेतन देकर रखी गई थी, एक बहुत बड़ी उन्नति थी।

फिर सैनिक हथियारों में प्राविधिक उन्नति से भी नये प्रकार की सेना का गठन आवश्यक हो गया था। बारूद और तोप का उपयोग होने लगा था। और उन हथियारों के प्रभावशाली उपयोग के लिए शिक्षित सहयोग वांछनीय था। सामन्ती योद्धा यद्यपि अपने शस्त्रास्त्र तो ला सकता था पर तोप और बारूद वह आसानी से नहीं ला सकता था।

राजा व्यापारी और औद्योगिक वर्ग के प्रति आभारी था जिसने उसके लिए नवीनतम हथियारों से सज्जित स्थायी सेना रखना सम्भव बनाया। समय-समय पर राजा ने उन्नतिशील धन-सम्पन्न वर्ग से ऋण और उपहारों की मांग की। 14वीं शताब्दी का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है जिसमें इंग्लैंड के राजा ने लन्दन नगर की सहायता मांगी है: "हमारे प्रभु राजा का लिपिक सर रौबर्ट द ऐश्बी लन्दन के गिल्ड हाल में आया और उसने राजा की ओर से महापौर ऐन्ड्रयू

औब्री के नाम सन्देश दिया कि वह और नगर के समस्त उपाध्यक्ष... हमारे स्वामी राजा और उसकी परिषद् के सम्मुख उपस्थित हों..... और राजा ने तब मौखिक रूप से उस खर्च की चर्चा की जो उसने अपने समुद्र पार के भागों में हुए युद्ध में किया था और अभी करना था। और उसने उनसे 20,000 पौण्ड ऋण देने की प्रार्थना की।..... उन्होंने सर्व सम्मति से उसे 5,000 मार्क ऋण देने की सहमति प्रकट की; और कहा कि वे उससे अधिक रकम नहीं दे सकते हैं.... जबकि हमारे प्रभु राजा ने उसे पूर्णत: अस्वीकार कर दिया और उसने उस स्वामिभक्ति और राजनिष्ठा का वास्ता देते हुए जिसमें वे सब उससे बंधे हुए थे, महापौर, उपाध्यक्षों और साधारण सदस्यों को आदेश दिया कि वे उक्त विषय पर उचित विचार करें, और यद्यपि यह अत्यन्त कठिन था पर वे हमारे प्रभु राजा को 5,000 पौण्ड देने के लिए सहमत हो गये। जिसे राजा ने स्वीकार कर लिया......। बारह व्यक्ति चुने गये जिन्होंने उक्त नगर और उपनगरों के समस्त निवासियों पर उनकी अवस्था की मांग के अनुसार रकम निश्चित करने और उसे वसूल कर हमारे प्रभु राजा को ऋण में देने की शपथ ग्रहण की।"[1]

एक क्षण के लिए भी न सोचें कि रुपया देते हुए लोगों ने आनन्द अनुभव किया होगा। नहीं। उन्होंने उक्त तथा ऐसे अन्य ऋण राजा को इसलिए दिये क्योंकि बदले में उन्हें कुछ निश्चित सुविधाएं प्राप्त होती थीं। उदाहरणार्थ, व्यापार के लिए केन्द्रीय सत्ता द्वारा पारित निम्न प्रकार के कानूनों (1389) का होना एक निश्चित लाभ था: "यह फर्मान जारी किया जाता है कि समस्त इंग्लैंड राज्य में एक ही माप और बाट रखे जायेंगे.... और कोई भी व्यक्ति अगर अन्य बाटों और मापों का प्रयोग करता हुआ पाया जायेगा तो उसे छ: मास का कारावास दण्ड दिया जाएगा।"[2]

इसके अतिरिक्त एक साधारण सामन्ती जागीरदार के डाकू-दलों से मुक्ति पाने के लिए भी यह रुपया देना उनके लिए सार्थक था। वे उस सत्ता का समर्थन पाने के लिए धन देने को प्रस्तुत थे, जिसने उन्हें असंख्य सामन्ती दादाओं की निरन्तर यातनाओं और उनकी क्षोभकारी मांगों से मुक्ति दिलाई। अन्तत: किसी

[1] *Memorials of London and London Life, op. cit.*, pp. 208-10.

[2] *The Statutes of the Realm from Original Records and Authentic Manuscripts*, vol. II, p. 63. London, 1816.

ऐसे नेतृत्व के साथ अपने को संयुक्त कर लेना आर्थिक दृष्टि से भी लाभप्रद था जो बदले में निम्न प्रकार के कानून बना कर उन्हें लागू कर सके, जैसा कि 1439 में फ्रांस में बनाया गया था।

"दीर्घकाल से जो सशस्त्र दल लोगों पर जीते चले आ रहे हैं और अब भी जी रहे हैं, उनके द्वारा किये गये अत्याचारों और उनकी लूट को समाप्त करने, उनके प्रतिकार और निवारणार्थ......

राजा निषेधाज्ञा जारी करता है..... कि उसकी आज्ञा, अनुज्ञा, स्वीकृति अथवा अनुमति के बिना...... सशस्त्र सेना के संगठन, संचालन, नेतृत्व अथवा स्वागत करने वाले...... किसी भी व्यक्ति को तथा उसकी सन्तान को..... राजद्रोह के अपराध में दण्डनीय मानते हुए समस्त राज्य सम्मानों तथा विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया जाए और उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति जब्त कर ली जाए, चाहे वह कैसी भी सम्पत्ति क्यों न हो।

इसी अपराध के अन्तर्गत दण्डनीय मानते हुए राजा समस्त सरदारों और युद्ध-व्यवसायियों को निषेधाज्ञा देता है कि वे सौदागरों, मजदूरों, पशुओं, घोड़ों अथवा अन्य भारवाही पशुओं को चाहे वह चरागाहों में हों अथवा गाड़ियों में जुते हों, नहीं ले जायेंगे, न उन्हें कष्ट देंगे और न वे गाड़ियां, माल और उनके द्वारा ले जाया जाने वाला अन्य सौदागरी सामान रोक रखेंगे और न ही वे उन्हें किसी प्रकार का मुक्ति-धन प्राप्त करने के लिए पकड़ेंगे। अपितु वे उनसे बिना कुछ मांगते हुए किसी प्रकार की बाधा पहुंचाये बिना उन्हें शान्ति और सुरक्षा-पूर्वक काम करने, आने-जाने और अपने माल और सौदागरी सामान को ले जाने देने का दायित्व ग्रहण करेंगे।"[1]

पहले राजा की आय का स्रोत उसके अपने राज्य का राजस्व हुआ करता था। कर-निर्धारण की कोई राष्ट्रीय पद्धति न थी। 1439 में फ्रांस का राजा सम्पत्ति अथवा आय पर नियमित कर ***ताइल*** का आरम्भ करने में समर्थ हुआ जो नकद मुद्रा के रूप में दिया जाता था। इससे पूर्व, आपको स्मरण होगा जागीरदारों की सेवाएं भूमि के अनुदान द्वारा प्राप्त की जाती थीं। अब मुद्रा-व्यवस्था के विकास के साथ इसकी आवश्यकता समाप्त हो चुकी थी। अब

[1] *Ordonnances des Roys de France de la Troisieme Race, op. cit.*, vol. XI, (1782), pp. 306-13.

समस्त राज्य में राज्याधिकारियों द्वारा कर उगाहे जा सकते थे और उन अधिकारियों को भी उनका वेतन भूमि के रूप में नहीं रुपयों में दिया जाता था। देश के प्रत्येक भाग में नियुक्त वेतन-भोगी कर्मचारी राजा के लिए प्रशासन का कार्य चला सकते थे जो सामन्ती काल में भूमि के अनुदान के बदले अभिजात-वर्ग द्वारा चलाया जाता था। यह परिवर्तन महत्वपूर्ण था।

राजाओं के लिए यह अत्यन्त स्पष्ट था कि उनकी शक्ति उनके आर्थिक साधनों पर निर्भर थी। यह भी नितान्त स्पष्ट हो चुका था कि उनके कोषागारों में धन का प्रवाह व्यापार और उद्योग की समृद्धि के साथ ही हो सकता था। अत: राजाओं ने व्यापार और उद्योग की उन्नति में रुचि दिखाई। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक नगर-विशेष में छौटे-छोटे वर्गों के एकाधिकार के निर्माण और पोषण के लिए बनाई गई व्यापारी-संघों की व्यवस्था व्यापार और उद्योग के विकास में श्रृंखला बन कर जकड़ी हुई थी।

सम्पूर्ण राष्ट्र को एक इकाई मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति असंख्य और परस्पर-विरोधी स्थानीय व्यवस्थाओं को उखाड़ फेंकना चाहता था और इस प्रकार नगरों की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हुई। उदाहणार्थ यह उपहासजनक था कि 1443 में फ्रैंकफुर्ट के चमड़े के व्यापारी मेले में भाग लेने के लिए बर्लिन के जूता-निर्माताओं को राजा का आदेश प्राप्त करना आवश्यक था"।[1] राष्ट्रीय राजतन्त्र की बढ़ती हुई शक्तियों के साथ राजा सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए स्थानीय एकाधिकारों को समाप्त करने लगे। इंग्लैंड राज्य का 1436 का एक अध्यादेश इस प्रकार है: "जबकि स्वामी संरक्षक व्यापारी-संघ के लोग, धार्मिक-संघ और अन्य संयुक्त कंपनियां... अनेक अवैधानिक और अनुचित अध्यादेश जारी करते हैं... और जबकि विचार, दण्ड और सुधार केवल राजा के अधिकार में हैं.. हमारे प्रभु राजा ने जनसाधारण की प्रार्थना पर अपने धार्मिक और लौकिक सचिवों की सम्मति तथा सहमति से उसी संसद द्वारा प्रदत्त अधिकार से यह आदेश जारी किया है कि स्वामी संरक्षक और प्रत्येक ऐसे व्यापारी-संघों, संस्थाओं अथवा संयुक्त कम्पनियों के लोग... अपने समस्त पेटेण्ट-पत्रों और अधिकार-पत्रों को नगर-शासक के सम्मुख आलेख में पंजीकृत

[1]G. Schmoller, *The Mercantile System and Its Historical Significance*, p. 22. The Macmillan Company, N.Y., 1910.

करने के लिए... लाया करेंगे... और इसके अतिरिक्त उक्त अधिकार से ही यह आदेश भी जारी करते हैं कि आज से कोई भी स्वामी, संरक्षक अथवा लोग ऐसे किसी अध्यादेश को न तो जारी करेंगे और न प्रयोग में लायेंगे... जिसका औचित्य...नगरशासक के साथ... विचार-विमर्श कर उससे स्वीकृत न करा लिया गया हो।''[1]

और इससे भी बहुत दूर तक जाने वाला फ्रांस के राजा द्वारा पारित कानून उस देश में राजतन्त्र की बढ़ती हुई शक्ति का एक वास्तविक प्रमाण है: ''चार्ल्स, दैवी कृपा से फ्रांस का राजा... अपनी वृहत्-परिषद के साथ दीर्घ विचार-विमर्श के पश्चात् यह आदेश जारी करता है... कि हमारे उक्त नगर पेरिस में आज से किसी भी व्यवसाय में स्वामी नहीं रहेंगे।... लेकिन हम चाहते हैं कि और आदेश देते हैं कि प्रत्येक व्यवसाय में उक्त नगर-अध्यक्ष द्वारा चुने हुए व्यवसाय के कुछ वरिष्ठ लोग होंगे.. और आज से वे शिल्प-बन्धुत्व अथवा अन्य किसी प्रकार की कोई सभा स्थापित नहीं कर सकेंगे... जब तक कि वह सभा हमारी सम्मति, स्वीकृति अथवा अनुमति से स्थापित न की गई हो... अथवा उसके लिए हमारे नगर-अध्यक्ष की स्वीकृति न प्राप्त की गई हो... इस आदेश का विरोध हमारे तथा फ्रांस की राज-सत्ता के प्रति विद्रोह समझा जाएगा तथा विद्रोही को मृत्यु-दण्ड मिलेगा और उसकी सम्पत्ति जब्त करली जाएगी।''[2]

शक्तिशाली नगरों की एकाधिकारात्मक सत्ता को यह मोड़ देना एक साधारण बात न थी। जर्मनी और इटली में जहां नगरों की शक्ति बहुत सुदृढ़ थी शताब्दियों के उपरान्त ही ऐसी केन्द्रीय सत्ता का उदय हुआ जो उन्हें झुकाने में समर्थ हुई। मध्ययुग के ये सबसे अधिक शक्तिशाली और धन-सम्पन्न समुदाय उस एकता को प्राप्त करने में सबसे पीछे क्यों रहे जो परिवर्तनशील आर्थिक परिस्थितियों के साथ बढ़ने के लिए आवश्यक थी, उसका एक कारण यह था। अन्य प्रदेशों में, यद्यपि कुछ नगरों ने अपनी सत्ता पर इस नियन्त्रण का विरोध किया और उसके लिए संघर्ष भी हुए, परस्पर ईर्ष्या और द्वेष के कारण वे राष्ट्रीय शक्तियों के विरुद्ध संगठित न हो सके और सौभाग्यवश अन्ततः पराजित हुए।

[1]*Statutes of the Realm, op. cit.*, vol II, pp. 298-9.

[2]*Documents Relatifs a l'histoire de L'Industrie et du Commerce en France*, vol. II, pp. 123-124. Publies par M.G. Fagniez. Picard, Paris, 1898. vol. II, 1900.

इंग्लैंड, फ्रांस, नीदरलैंड और स्पेन में राज्य ने नगरों को आर्थिक जीवन की एक इकाई के रूप में बदल दिया।

यह सत्य था कि नगरों और व्यापारी-संघों ने अपने अनन्य स्वत्वों को बनाये रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न किये। पर उनके ये प्रयत्न राजकीय सत्ता के आश्रय में ही होते रहे। राष्ट्रीय राज्य सर्वोच्च स्थान पा चुका था क्योंकि एक शक्तिशाली शासन और आर्थिक गतिविधि के व्यापक क्षेत्र के लाभ मध्यवित्त वर्ग के अपने हित में थे। राजा उस धन पर आश्रित थे जो वे मध्यवित्त वर्ग से प्राप्त करते थे और अपने बढ़ते हुए राज्य के संचालन के लिए इस वर्ग की सम्मति और सहयोग पर उनकी निर्भरता अधिक से अधिक बढ़ती गई। उनके न्यायाधीश, मंत्री और राज्य कर्मचारी सामान्यत: इसी वर्ग से आते थे। 15वीं शताब्दी के फ्रांस में जेक्विस सूर राजा का सलाहकार बना जो लायन्स का बैंकर था और अपने समय के बससे अधिक धनी व्यक्तियों में से एक था। इंग्लैंड के ट्यूडर काल में एक वकील थॉमस क्रॉमवेल और रेशमी बालों का एक व्यापारी थौमस ग्रेशैम राज्य के मंत्री बने। "राजवंश और उद्योगों में लगे हुए मध्यवित्त वर्ग के बीच एक मूक समझौता-सा प्रतीत होता था। उन्होंने अपने सामाजिक और राजनीतिक प्रभाव, अपनी-प्रतिभा के स्रोत और अपना धन राजतन्त्र की सेवा में भेंट कर दिया। बदले में, राजा ने उनके हित में आर्थिक और सामाजिक सुविधाओं का ढेर लगा दिया। राज्य ने साधारण श्रमिक वर्ग को उनके अधीन कर पूर्णत:.... उनकी सेवा में बांध दिया।"[1]

यह उस लोकोक्ति का एक सजीव उदाहरण था: "तुम मेरी पीठ की मालिश करो, मैं तुम्हारी करूंगा।"

समय का एक रोचक लक्षण इंग्लैंड से जर्मन-डच व्यापारी संघ के जर्मन व्यापारियों और वेनिस-निवासियों का निष्कासन था। लन्दन में संघ के ठिकाने का नाम स्टीलयार्ड था। विदेशियों ने इस देश के आयात-निर्यात पर सदैव अपना नियन्त्रण रखा था। पूर्वापर राजाओं से वे धन पैदा करने वाली सुविधाएं खरीदते रहे थे। 15वीं और 16वीं शताब्दी में अंग्रेज व्यापारियों ने अभ्युदय की ओर कदम बढ़ाया। महत्वाकांक्षी व्यापारी विशेष रूप से सजीव जागृत मनुष्यों का समूह था

[1]P.Boissonnade, *Le Socialisme d' Etat (1453-1661)*, pp. 9-10. Champion, Paris, 1927.

जो विदेशियों के हाथों में पड़े हुए लाभप्रद व्यापार में प्रवेश पाना चाहते थे। आरम्भ में, इन्हें अधिक सफलता नहीं मिली क्योंकि राजा को उस रुपये की चाह थी जो वह इन सुविधाओं को प्रदान करने के बदले प्राप्त करता था और उनके विरुद्ध कोई कठोर कदम अन्य शक्तियों के साथ संघर्ष उत्पन्न कर सकते थे। परन्तु महत्वाकांक्षी अंग्रेज व्यापारी प्रयत्न करते रहे और 1534 में वेनिस-निवासियों को इंग्लैंड में अपनी सुविधाओं से वंचित होना पड़ा। छः वर्ष पश्चात जर्मनों ने राजा से शिकायत की, "यद्यपि कितने ही समय से जर्मन-डच व्यापारियों को यह सुविधा प्राप्त रही है... और महामहिम सम्राट ने उन सुविधाओं की पुनः स्वीकृति देते हुए वचन दिया है कि उक्त व्यापारियों और उनके माल पर किसी प्रकार का अनुचित कर, चुंगी अथवा आदान थोपा नहीं जाएगा... तथापि लन्दन के धातु कुतरने वालों और वस्त्र धोने वालों के पक्ष में... यह आदेश जारी किया गया है कि अब ऐसी व्यवस्था की गई है कि कोई भी जर्मन-डच व्यापारी जब्त हो जाने के भय से बिना कटा या सिला हुआ वस्त्र इंग्लैंड राज्य से बाहर ले जाने का साहस नहीं कर सकेगा।"[1]

जर्मन-डच व्यापारी ऊन खरीदते थे और जर्मनी तथा फ्लैण्डर्स में उसके वस्त्र तैयार करते थे। अतः महत्वाकांक्षी अंग्रेज व्यापारियों के संरक्षण के लिए इंग्लैंड का वस्त्र-उद्योग उठ खड़ा हुआ। अंग्रेज वस्त्र-निर्माताओं और महत्वाकांक्षी व्यापारियों ने मिल कर (राज्य में मंत्री के पद पर कार्य कर रहे रेशमी वस्त्रों के व्यापारी ग्रेशैम की सहायता से) इस संघर्ष में विजय प्राप्त की। जर्मन-डच व्यापारियों की सुविधाएं धीरे-धीरे कम होती गईं और 1597 में लन्दन का सबसे शक्तिशाली व्यापारी केन्द्र स्टीलयार्ड बन्द हो गया।

किसान, जो शान्तिपूर्वक अपने खेत जोतना चाहते थे, शिल्पी, जो शान्तिपूर्वक अपना शिल्प-कार्य करना चाहते थे ओर सौदागर जो शान्तिपूर्वक व्यापार करना चाहते थे—सभी ने एक ऐसी शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का स्वागत किया जो अनेकता के स्थान पर एकता और दर्जनों स्थानीय व्यवस्थाओं के स्थान पर एक व्यापक व्यवस्था स्थापित कर सकी होगी। राष्ट्रीय एकता के निर्माण के इन अनेक कारणों में से राष्ट्रीयता की भावना का उद्‌भव हुआ। जोन-आफ-आर्क के जीवन-संघर्ष और उसकी मृत्यु के इतिहास में यह भावना

[1] *Tudor Economic Documents, op cit.*, vol. II, p.31.

स्पष्ट पारिलक्षित होती है। फ्रांस में सामन्ती प्रभु-वर्ग विशेषरूप से शक्तिशाली था और इंग्लैण्ड के साथ शतवर्षीय युद्ध में बर्गन्दी के ड्यूक, जो सबसे अधिक शक्तिशाली थे, अंग्रेजों के साथ मिल गये और उन्होंने फ्रांस की राज-शक्ति को कई बार बुरी तरह पराजित किया। जोन ने, जो बर्गन्दी को फ्रांस का ही एक अंग देखना चाहती थी, ड्यूक को लिखा: "कुमारी जीनी आपसे आशा करती है.. ... कि तुम फ्रांस के राजा के साथ दीर्घ, श्रेष्ठ और स्थिर शान्ति स्वीकार करो। सम्पूर्ण विनय के साथ में तुमसे प्रार्थना करती हूं, अनुरोध और आग्रह करती हूं कि तुम फ्रांस की पवित्र राज-सत्ता के साथ और अधिक युद्ध न करो।"[1]

इस प्रकार जोन ने इस भावना के साथ अनेकों को अपनी तरह फ्रांस के नाम पर दीवाना बनाते हुए अपनी सेवाएं देश के लिए अर्पित कर दीं जिससे उसने फ्रांस की सेना के हृदय में अटूट विश्वास जगाया, फ्रांसीसी होने की भावना में विश्वास पैदा किया और राजा के युद्ध को उसने समस्त फ्रांस का युद्ध बना दिया। किसी सामन्त प्रभु की सेवा में लगा हुआ एक सिपाही जब जोन को इस प्रकार की विज्ञप्ति देते हुए सुनता था कि "किसी भी फ्रांसीसी का रक्त बहता हुआ देख कर घृणा से मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं"[2] तो वह अपने महाप्रभु के प्रति निष्ठा से ऊपर उठ कर अपने देश फ्रांस के साथ अपने सम्बन्ध को सोचने लगता था। परिणामत: राष्ट्रीयता की भावना ने स्थानीयता की भावना को दबा दिया और एक शक्तिशाली सत्ताधीश के अधीन संगठित राज्य का युग आरम्भ हुआ।

कुमारी जोन पर लिखे गये बर्नाड शा के उत्कृष्ट नाटक सेंट जोन में राष्ट्रीयता की इस उभरती हुई भावना के प्रभाव पर एक महत्वपूर्ण संदर्भ मिलता है। एक अंग्रेज पादरी और एक अंग्रेज सामन्त फ्रांसीसी सामन्त की सैनिक क्षमता पर विवाद कर रहे हैं:

"पादरी: वह केवल एक फ्रांसीसी है, श्रीमान्।

सामन्त: फ्रांसीसी! यह शब्द तुमने कहां से ले लिया? जिस प्रकार हमारे लोग अपने आपको अंग्रेज कहना आरम्भ कर रहे हैं, उसी प्रकार क्या बर्गन्दी,

---

[1]Lang, *The Maid of France,* p. 165. Longmans, Green and Company, London. 1929.
[2]*Ibid.*, p. 110.

ब्रितानी, पिकार्दी और गैष्काएं आदि प्रदेशों के लोग अपने आपको फ्रांसीसी कहना आरम्भ कर रहे हैं? ये लोग वस्तुतः इंग्लैण्ड और फ्रांस को अपना देश कहते हैं। अगर यह देश उनका है तो भला बताओ अगर इस प्रकार सोचने का रिवाज चल पड़े, तो मेरा और तुम्हारा क्या होगा?

पादरी: क्यों स्वामी, उससे हमें कुछ हानि है क्या?

सामन्त: मनुष्य दो प्रभुओं की सेवा नहीं कर सकता। अगर इस प्रकार की अपने देश की सेवा की भावना उनमें पनपने लगी तो उनके सामन्त-प्रभुओं और चर्च की प्रभुता को अलविदा!''[1]

यह दूरदर्शी सामन्त निस्सन्देह ठीक था। राज-सत्ता का एक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी चर्च ही शेष रह गया था और उन दोनों का संघर्ष अनिवार्य था। राष्ट्रीय नरेशों के मस्तिष्क में राज्य के दो अधीशों का कोई स्थान न था। पोप के पास जो सत्ता थी, उसने उसे किसी भी सामन्ती प्रभु से अधिक खतरनाक बना दिया था। पोप और राजा के बीच बार-बार संघर्ष हुए। उदाहरणार्थ, एक प्रश्न यह था कि कोई स्थान रिक्त होने पर पादरियों और बिशपों की नियुक्ति कौन करे? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण था क्योंकि ये पद पर्याप्त आय के स्रोत थे। जन-साधारण से चर्च को प्राप्त होने वाले कर से यह अदायगी होती थी। यह धन बहुत अधिक था और राजा और पोप दोनों चाहते थे कि उनके अनुयायी ही इस धन के भागी बनें। स्वभावतः राजा इन रुपया बनाने वाले पदों को लोभी दृष्टि से देखते थे और उन्होंने इन नियुक्तियों के पोप के अधिकार में अड़ंगे लगाये।

चर्च अत्यन्त धनी था। अनुमान लगाया गया है कि यह कुल भूमि के तीसरे से आधे भाग तक का स्वामी था। फिर भी उसने राष्ट्रीय सरकार को कर देने से इन्कार कर दिया। राजाओं को रुपये की आवश्यकता थी। वे अनुभव करते थे कि राज्य-संचालन के व्यय की सहायता के लिए चर्च के धन पर, जो पहले ही अपरिमित था और निरन्तर बढ़ रहा था, कर लगना ही चाहिए।

झगड़े का एक अन्य कारण यह था कि कुछ अभियोग नियमित न्यायालयों से न चलाये जाकर चर्च के न्यायालयों में चलाये जाते थे। कई बार चर्च न्यायालय के निर्णय राज-न्यायालय के निर्णयों के विपरीत पड़ते थे। साथ ही यह

[1] G.B. Shaw, *Saint Joan*, Scene 4.

भी उतना ही महत्वपूर्ण प्रश्न था कि जुर्मानों और घूस की रकम राज्य को मिले अथवा चर्च को।

इस पर पोप के इस अधिकार से भी कठिनाई उत्पन्न हो जाती थी कि वह देश के आन्तरिक राष्ट्रीय कार्यों में भी हस्तक्षेप कर सकता था। इस प्रकार चर्च राजसत्ता का राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी भी था।

फिर यह एक अतिराष्ट्रीय सत्ता थी जो प्रजा की भक्ति को विभाजित कर देती थी। यह सत्ता धन और भूमि से अकल्पनीय रूप से सम्पन्न थी और इसकी सम्पत्ति की आय राजकोष में जाने के स्थान पर रोम की भेंट बन कर देश से बाहर चली जाती थी। राजा अकेला ही केवल चर्च का विरोधी न था। पोप बोनिफेस अष्टम ने 1296 में स्वयं लिखा था: "जन-साधारण पादरियों के बुरी तरह विरोधी हैं और एक पुरानी परम्परा है जो आज के युग के अनुभव से भी स्पष्टत: पुष्ट हो रही है।"[1]

चर्च के भ्रष्टाचार अलक्ष्य नहीं रह सके। चर्च के उपदेशों और उसके व्यवहार में अन्तर इतना अधिक था कि मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी उसे देख सकता था। हर उपाय से रुपया एकत्र करने पर केन्द्रित होना, चाहे वह उपाय कितना ही गर्हित क्यों न हो, आम चर्चा का विषय बन चुका था। ईनियस सिलवियस, जो बाद में पोप पायस द्वितीय बना, लिखता है: "रोम में धन के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता"[2] और चासर के समकालीन पियरे बरकोयरी ने लिखा: "चर्च का रुपया गरीबों पर नही अपितु पादरियों के अपने भाई-भतीजों पर खर्च होता है।"[3]

14वीं शताब्दी के एक चारण गीत में जन-कवि ऊपर से नीचे तक हर श्रेणी के पादरियों के प्रति जन-भावना का चित्रण निम्न शब्दों में करता है:

मैं देखता हूं पोप को,
उसके पवित्र विश्वासों की विडम्बना को।
धनी उसकी कृपा पाता है सदैव,

[1]G.G. Coulton, *Encyclopaedia, Britannica,* vol. XIX, p. 34. 14th Edition. Article on the Reformation.
[2]*Ibid.*
[3]G.G. Coulton, *op., cit.,* p. 301.

निर्धन पर उसका अनुग्रह सदा ही है बाधित।
संघर्षरत है वह धन-संचय में हर उपाय से
ईसा के बंदों को आज्ञानुवर्ती बनाने में
जिससे कि वह स्वर्ण वस्त्रों में विश्राम पा सके....।

कार्डिनल पादरी भी उससे कम नहीं।
प्रति उषा बेला में संन्ध्या की ढाल तक
बिताते हैं समय उत्सुकता से खोजते हुए उपाय
हरेक को किस प्रकार सौदे में पैरा जाए....।

हमारे बिशप भी हैं डूबे हुए उसी पाप पंक में!
जो अच्छा कमाते हैं, कुछ जीविका बनाते हैं
अपने उन पादरियों का रक्त वे चूसते हैं।
स्वर्ण के मूल्य पर उनकी अधिकार-मुद्रा
किसी भी अभिलेख पर मुद्रित हो सकती है,
चाहे फिर उस अभिलेख में कुछ भी लिखा हो
निश्चय ही, केवल ईश्वर रोक सकता है
उन्हें उनकी चोरी से....।

और जो छोटे पादरी हैं, जो साधारण लिपिक हैं,
उनमें से कितनों के काम और दैनन्दिन जीवन
अनुकूल हैं उनके उपदेशों के प्रभु ही जानता है...।
विद्वान और अज्ञानी दोनों तुले हुए हैं
प्रत्येक संस्कार को व्यवसाय बनाने को,
जन-समाज के पवित्र व्रतों को भी ....।

यह सत्य है कि साधु और योगी प्रदर्शन करते हैं
अपनी कठोर साधनाओं का जो वे अपनाते हैं।
उनके मिथ्याचार का यह सबसे निरर्थक प्रदर्शन है।

वस्तुतः संयम के दाम्भिक प्रदर्शन के उपरान्त भी
साधारण से अधिक सम्पन्न जीवन वे जीते हैं।
गृहस्थ से बहुत अधिक सुख वे भोगते हैं ...।[1]

मार्टिन लूथर ने 1517 में विटेनबर्ग के चर्च द्वार पर अपने "95 सिद्धान्त" कील से गाढ़े थे। इससे शताब्दियों पूर्व ही चर्च की अनेकानेक कलंक-कथाएं और उसके भ्रष्टाचार सर्वसाधारण के ज्ञान की वस्तु बन चुके थे। प्रौटेस्टेण्ट सुधार आन्दोलन से पूर्व भी धार्मिक सुधार होते रहे हैं। फिर क्या कारण है कि एक सार्वभौम चर्च के स्थान पर राष्ट्रीय चर्च की स्थापना और पश्चिमी कैथोलिक चर्च में दरारें इसी समय पैदा हुईं और पहले नहीं?

पहले के धार्मिक सुधारकों ने भ्रम से कुछ अधिक सुधार करने की भूल की। जबकि लूथर, कैल्विन और नौक्स ने ऐसा नहीं किया। इंग्लैण्ड में वाइक्लिफ किसान-विद्रोह का आध्यात्मिक नेता रहा है और बोहेमिया में इसने न केवल रोम का ही प्रतिरोध किया अपितु अभिजात वर्ग की सत्ता और विशेषाधिकारों को चुनौती देते हुए उसने साम्यवादी ढंग के किसान आन्दोलन को भी प्रेरणा दी। स्वभावतः इसका अर्थ यह था कि इन आन्दोलनों का केवल चर्च द्वारा ही नहीं अपितु लौकिक राज्याधिकारियों द्वारा भी विरोध हुआ। और परिणाम यह हुआ कि इन आन्दोलनों का दमन कर दिया गया। लूथर और उसके अनुगामी सुधारकों ने समानता के भयंकर सिद्धान्तों के उपदेश देकर शासक-श्रेणी का सहयोग नहीं खोया। लूथर आमूल परिवर्तन का प्रचारक नहीं था। उसने दलित वर्ग के साथ खड़े होकर अपनी सफलता के अवसरों को नष्ट नहीं किया। इसके विपरीत जब उसने अभी अपना सुधार आन्दोलन आरम्भ ही किया था, उसके थोड़े समय पश्चात् ही जब अंशतः उसी के उपदेशों के प्रभाव से जर्मनी में व्यापक किसान-विद्रोह फूट पड़ा, तो उसने उसे दबाने में सहयोग दिया। चर्च का यह विद्रोही कहा करता था: "मैं सदैव उनके साथ हूं जो विद्रोह की भर्त्सना करते हैं और उनके विरुद्ध हूं जो उसका कारण बनते हैं।"[2] चर्च की

[1] J.H. Robinson, *op. cit.*, vol. 1, pp. 375-377.
[2] J.S. Shapiro, *Social Reform and the Reformation*, p. 78. Columbia University Press, 1909.

शासन-समिति के प्रति अत्यन्त क्रुद्ध यह सुधारक लिख सकता था: "ईश्वर विद्रोहियों को विद्रोह करने की अनुमति देने की अपेक्षा, चाहे विद्रोही कितने ही न्याययुक्त क्यों न हों, सरकार के अस्तित्व का दुख सहन करना अधिक पसन्द करता है चाहे वह सरकार कितनी ही बुरी क्यों न हो।"[1] 1525 में जब विद्रोही किसान चिल्ला रहे थे: "यीशु ने सब मनुष्यों को स्वतंत्र बनाया है" लूथर अभिजात सामन्तों को निम्न प्रकार उत्साहजनक शब्दों के साथ उनका उन्मूलन करने में प्रवृत्त कर रहा था: "जो एक विद्रोही का वध करता है.. जो उचित है। अतः जो भी कर सके, प्रहार कर, शस्त्र भोंक कर अथवा गला घोंट कर, गुप्त रूप में अथवा प्रकट में मार डालना चाहिए... अगर तुम इस संघर्ष में मारे जाओ, तुम वास्तव में अभिनन्दनीय हो, क्योंकि उससे श्रेष्ठ मृत्यु नहीं हो सकती।"[2]

अतः लूथर की सफलता का एक कारण यह था कि उसने विशेषाधिकार प्राप्त को स्थान-च्युत करने के प्रयत्न की भूल नहीं की। सुधार के आगमन का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण इस तथ्य में निहित था कि लूथर, कैल्विन और नौक्स ने अपने अनुयायियों को जो उपदेश दिए, वे उनकी राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल थे और वह युग राष्ट्रीयता के विकास का युग था। क्योंकि रोम के प्रति यह धार्मिक विरोध राष्ट्रीयता के हितों के अनुकूल था अतः इसे सफल होने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस समय जबकि पोप की शक्ति के विरुद्ध राष्ट्रीय राज्य का संघर्ष अधिकाधिक गम्भीर होता जा रहा था, लूथर का "जर्मन अभिजात वर्ग के नाम सन्देश" राजवंश को उत्साह-जनक सम्मति देता है: "क्योंकि ईश्वर ने लौकिक शक्तियों को दुष्टों को दण्ड देने और साधुओं के परित्राण के लिए निर्दिष्ट किया है, अतः हमें व्यक्ति के सम्मान से निरपेक्ष होकर इन शक्तियों को सम्पूर्ण ईसाई जगत् में अपने कर्त्तव्य का पालने करने देना चाहिए, भले ही इसका प्रहार स्वयं पोप, बिशप, पादरियों, साधुओं, साध्वियों अथवा अन्य किसी पर भी क्यों न होता हो।"[3] और उस कर्त्तव्य के एक अंश के रूप में विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति पाने की धूर्ततापूर्ण ध्वनि भी उस सन्देश में व्यक्त की गई थी। इसी में यह संकेत

[1] *Ibid.*, p.80.

[2] *Ibid.*, pp.85, 86.

[3] *Address to the German Nobility.* Buchheim's translation in Harvard Classics, vol. 36, p.281.

भी निहित था कि चर्च की भूमि और कोष छीन लिये जायें। अन्तिम बात विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। "कुछ लोग सोचते हैं, तीन लाख से अधिक व्यापारी व्यर्थ ही प्रतिवर्ष जर्मनी से रोम भेजे जाते हैं।... दीर्घकाल से जर्मनी के शासक सम्राट और राजवंशी पोप का समस्त मठों से वार्षिक कर-भाग, याने प्रत्येक मठ की प्रथम वर्ष की आय का अर्ध-भाग का उपयोग शर्मनाक भ्रष्टाचार में होता है। उन्हें (शासकों को) अपनी भूमि और जन को इस प्रकार अनुचित और दयनीय रीति से नष्ट नहीं होने देना चाहिए, अपितु एक राजकीय अथवा सामाजिक कानून द्वारा उन्हें इस कर की राशि को देश में ही रख लेना चाहिए अथवा उसे पूर्णतः समाप्त कर देना चाहिए।"[1]

लोगों को आप यह बतलाएं कि जो विदेशी उनके अपने देश में उनकी सत्ता को चुनौती देते हैं, उनसे मुक्ति पाना न केवल उनका अधिकार ही है अपितु कर्त्तव्य भी, फिर उस विदेशी की अपार धन-सम्पदा का चकाचौंध उनकी आंखों के सम्मुख लाकर उनमें लालच भी पैदा करें तो आग भड़क ही उठेगी। लेकिन चर्च अपनी शक्ति खो बैठता अगर प्रौटेस्टेण्ट सुधार उस समय न हुआ होता जब वह हुआ। एक तो यह है कि उसकी महान उपयोगिता कम हो रही थी। पहले चर्च अपनी धर्म-विश्रान्ति का आश्रय दे कर समाज को सामन्ती युद्धों से राहत प्रदान करता था, अब राजा इन उत्पीड़ित युद्धों को रोकने में अधिक समर्थ थे। पहले शिक्षा पर चर्च का पूर्ण नियन्त्रण था, अब व्यापारियों द्वारा स्थापित स्वतन्त्र विद्यालय आरंभ हो चुके थे। पहले चर्च का कानून सर्वोच्च था, अब पुराने रोमन कानून, जो व्यापारी समाज के अधिक अनुकूल थे, पुनः शक्ति प्राप्त कर रहे थे। पहले राज्य-संचालन के लिए शिक्षित व्यक्ति चर्च से ही प्राप्त हो सकते थे, अब राज-वर्ग व्यापारी क्षेत्र में प्रशिक्षित नए वर्ग पर निर्भर कर सकता था, जो राष्ट्र के व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं के प्रति अधिक चतुर था।[2]

उस नवीन विकासोन्मुख मध्य-वित्त समाज ने अनुभव कर लिया कि पुरानी सामन्ती प्रणाली उसकी भावी प्रगति की अवरोधक थी। इस विकासोन्मुख मध्य-वित्त वर्ग ने अनुभव किया कि इसकी भावी उन्नति में बाधा कैथोलिक

---

[1] *Ibid.*, pp. 292, 293.

[2] W.Cf. Cunningham, *Western Civilization in Its Economic Aspects (Medieval and Modern Times).* Cambridge University Press, 1913.

चर्च है जो उस सामन्ती प्रणाली का गढ़ है। चर्च सामन्ती व्यवस्था की आक्रमण से रक्षा करता था। वह स्वयं उस सामन्ती व्यवस्था का एक शक्तिशाली अंग था। सामन्ती भूपति की भांति चर्च लगभग तिहाई भूमि का स्वामी था और देश के धन का एक बहुत बड़ा भाग खींच हड़प कर ले जाता था। उससे पहले कि जागृत मध्य-वित्त वर्ग समाज प्रत्येक देश में सामन्तवाद का मूलोच्छेद कर सके, सामन्तवाद की केन्द्रीय संस्था चर्च पर आक्रमण करना अनिवार्य था। और ऐसा आक्रमण हुआ भी।[1]

संघर्ष को धार्मिक आवरण प्राप्त हुआ। यह प्रोटेस्टेण्ट सुधार कहलाया। निष्कर्ष रूप में, यह सामन्तवाद के विरुद्ध जागृत मध्य-वित्त वर्ग का प्रथम निर्णायक संग्राम था।

[1]Cf.F. Engels,*Socialism, Utopian and Scientific*, pp. 24. 25. Kerr edition.

8. "धनी....."

जब संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसीडेंट ने 31 जनवरी, 1934 के मध्यान्ह 3 बजकर 10 मिनट पर एक घोषणा पर हस्ताक्षर किये कि डालर में स्वर्ण भार कम कर 15.8 से 15.24 कर दिया जाए तो वे स्पेन की पुरानी प्रथा का आचरण कर रहे थे। पुरानी अंग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मन प्रथा भी इसी प्रकार थी। मुद्रा-अवमूल्यन शताब्दियों पुरानी प्रथा है। मध्ययुग के राजा, मिदास की भाँति स्वर्ण-स्पर्श चाहते थे और उसके अभाव में उन्होंने द्रव्य-प्राप्ति के सुविधाजनक प्रत्युपाय के रूप में मुद्रा-अवमूल्यन का मार्ग अपनाया।

जब प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने डालर का स्वर्ण अंश घटाया तो उनका मुख्य उद्देश्य था मूल्य-वृद्धि। यह एक नैमित्तिक तथ्य था कि इस मुद्रा-अवमूल्यन से संयुक्त राज्य के कोष को, 2,790,000,000 डालर का लाभ प्राप्त हुआ। तथापि, मध्ययुग के राजाओं के लिए मुख्य उद्देश्य लाभ की प्राप्ति ही थी। वे मूल्य-वृद्धि नहीं चाहते थे। परन्तु इसके उपरान्त भी मुद्रा-अवमूल्यन के परिणामस्वरूप मूल्य बढ़ जाते थे।

मुद्रा-अवमूल्यन का अर्थ क्या है और यह किस प्रकार सत्ताधारी को तत्काल लाभ प्रदान कर मूल्य स्तर में वृद्धि करता है?

अवमूल्यन का अर्थ केवल किसी सिक्के के स्वर्ण अथवा रजत अंश को कम कर देना है। पहले एक सिक्के में जितनी चांदी थी, उसे जब राजा दो सिक्कों में बांट कर उसके स्थान पर किसी हल्की अथवा मूल्यहीन धातु को डाल देता था तो वह पुराने एक के स्थान पर दो सिक्के प्राप्त कर लेता था। कहने के लिए मूल्य वही था पर वास्तव में उस सिक्के का मूल्य अब पहले से केवल आधा रह गया था। अब यूँ समझ लीजिए कि पहले आप बारह अण्डे देकर बदले में एक रोटी प्राप्त कर सकते थे तो आप उसी रोटी को केवल छः अण्डों के बदले प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते भले ही अब आप छः

को ही दर्जन कहने लगें। इसी प्रकार आप अवमूल्यित मुद्रा से वह कुछ नहीं पा सकते थे जो आप पहले पुरानी मुद्रा से प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि आप अब पहले की अपेक्षा कम चांदी दे रहे थे। अतः जो रोटी आपको उसके बदले में मिलेगी, वो भी छोटी होगी। प्रचलन में मुद्रा का मूल्य उसके धातु-परिमाण पर निर्भर करता था, अतः इस तथ्य के बावजूद कि उसे उसी नाम से पुकारा जाए, सिक्कों में सोना अथवा चांदी जितना कम होता, उसका मूल्य उतना ही कम होता था। यह कहना कि किसी सिक्के का मूल्य कम है, केवल यह कहना है कि यह कम वस्तु खरीद सकता है। दूसरे शब्दों में मूल्य बढ़ जाता है।

निस्सन्देह राजा जो देखता था, वह यही था कि मुद्रा-अवमूल्यन से उसे तत्काल लाभ मिल जाता था। जब मुद्रा का मूल्य शीघ्र बदलता है तो व्यापार को हानि प्रहुंचती है, जब मूल्य बढ़ते हैं तो निर्धन और सीमित आय वाले लोग संकट में पड़ जाते हैं। ये तथ्य राजा के लिए चाहे कम महत्व रखते हों पर प्रजा के कुछ लोगों के लिए अत्यन्त महत्व रखते थे। अधिकांश लोग, जिनमें राजा भी थे, प्रायः मुद्रा-अवमूल्यन और मूल्य-वृद्धि के परस्पर सम्बन्ध को नहीं देख पाते थे पर कुछ ऐसे भी लोग थे जो इस सम्बन्ध को समझते थे। फ्रांस में अक्तूबर 1358 से मार्च 1360 के कुछ ही मास के भीतर रजत-मुद्राओं के मूल्य में सत्रह परिवर्तन होने के पश्चात उस पर एक पैरिस-निवासी ने लिखा: स्वर्ण और रजत-मुद्राओं की अतिशय दर के परिणामस्वरूप सामान्य व्यवहार के लिए आवश्यक खाद्य-पदार्थ, विक्रय-वस्तुएं और वाणिज्य-माल भी इतने मंहगे हो गये हैं कि सामान्य लोगों के लिए अपने अस्तित्व को बनाये रखने के साधन पाना भी दुश्कर हो रहा है।''[1]

लिशू के विशप निकोलस ओरेस्मे ने 1377 में मुद्रा पर एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा जिसमें उसने संकेत दिया कि मुद्रा का अवमूल्यन, जों राजा को अस्थायी रूप से लाभ देता है, एक प्रकार से लोगों को धोखा देना है। ''गेहूं, मदिरा और अन्य कम महत्व की वस्तुओं के माप प्रायः राजा की राज-मुद्रा द्वारा चिन्हित होते हैं और अगर कोई उनके साथ ठगी करता पाया जाए तो वह एक बदनाम जालसाज समझा जाता है। इसी प्रकार एक पुराने सिक्के पर अंकित मुद्रालेख

---

[1]E. Levasseur, *Histoire des classes ourvrieres et de L'industrie en France avant 1789.* 2 vols. vol. I, p. 685. Rousseau, Paris, 1900, 1901.

उसके मूल्य और भार का सूचक होता है। फिर उस राजा पर कौन विश्वास करेगा जो अपनी राज-मुद्रांकित मुद्रा के भार अथवा उसके खरेपन को कम करता है? ...मेरी राय में, प्राकृतिक उपयोग के अतिरिक्त मुद्रा से लाभ कमाने के तीन मार्ग हैं। पहला है विनिमय की कुशलता, और मुद्रा का अभिरक्षण और पणन, दूसरा है व्याज-वृत्ति, तीसरा है मुद्रा में परिवर्तन। पहला हीन है, दूसरा निकृष्ट है और तीसरा निकृष्टतम।"[1]

लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् एक अंग्रेज लेखक रिचर्ड कैण्टिलोन ने कीमतों पर मुद्रा-अवमूल्यन के प्रभाव का कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकाला है: "प्रत्येक युग का इतिहास बतलाता है कि जब भी राजाओं ने अंकित मूल्य वही रखते हुए मुद्रा का अवमूल्यन किया है, समस्त कच्चे माल और उत्पादन का मूल्य मुद्रा के अवमूल्यन के अनुपात में बढ़ा है।"[2]

आप सम्भवत: कोपरनिकस को एक महान् वैज्ञानिक के रूप में जानते हैं जिसने 1530 में इस सिद्धान्त की स्थापना की थी कि पृथ्वी सूर्य के इर्द-गिर्द घूमती है। लेकिन कोपरनिकस मुद्रा का भी विद्यार्थी था। उसने अपने देश पोलैण्ड की मुद्रा-व्यवस्था में परिवर्तन का समर्थन किया। उसने अनुभव किया कि अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राएं वाणिज्य के मार्ग में बाधक थीं अत: उसने विभिन्न छोटे-छोटे जागीरदारों को सिक्के ढालने की अनुमति देने के स्थान पर सिक्कों की एक एकीकृत व्यवस्था पर बल दिया और अत्यधिक बल के साथ उसने इस बात का समर्थन किया कि मुद्रा का अवमूल्यन नहीं होना चाहिए। उसने लिखा: "जितने भी असंख्य संकट साधारणत: राज्यों, शासनों और लोक-तन्त्रों के ह्रास का कारण बनते हैं, उनमें से, मेरी राय में निम्न चार सबसे अधिक विकट हैं—बाढ़, महामारी, बंजर धरती और मुद्रा का अवमूल्यन।"[3] इन अध्येताओं के मुद्रा के अवमूल्यन के विरोध के कुछ कारण ओरेस्मे द्वारा प्रकट किये गये कारणों के समान हैं "किसी भी राजा के लिए अपने राज्य की मुद्रा

[1]Monroe, pp. 92.95.

[2]R. Cantillon, *Essaisur la Nature du Commerce en General* (1775), p. 113. Edited with an English translation by H. Higgs. Macmillan & Company, Ltd., London, 1931.

[3]*Traictic de la premiere Invention des Monnoies de Nicole Oresme et Traite de la Monno de Copernic*, publies et annotes par M.L. Wolowski, p. 49. Guillaum n, Paris, 1864.

का स्थिर मूल्य न रखने की छूट तथा उसे दिन-प्रतिदिन घटने-बढ़ने देना, गर्हित और अशोभनीय है...। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप लोग यह निश्चित कर पाने में असमर्थ हो जाते हैं कि किसी स्वर्ण अथवा रजत मुद्रा का वास्तविक मूल्य क्या है और फलस्वरूप उन्हें अपनी बिक्री के माल में मुद्रा पर इतना सौदा करना पड़ता है जो उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है; और जिसे अत्यन्त स्थिर होना चाहिए, वही पूर्णत: अस्थिर और अव्यवस्थित हो जाता है... इस प्रकार के परिवर्तनों और अवमूल्यन के परिणामस्वरूप राज्य में सोने और चांदी का परिमाण कम होने लगता है और सावधानी बरतने के बावजूद उन्हें ऐसे देशों में ले जाया जाता है जहां उनका मूल्य अधिक हो...। अत: जहां अवमूल्यन होता है, उस देश में मुद्रा के पदार्थ कम होने लगते हैं.... पुन: इन परिवर्तनों और अवमूल्यन के फलस्वरूप अन्य देशों के व्यापारी उन देशों को अपने पण्य लेकर आना बन्द कर देते हैं... जहां वे जानते है कि ऐसी निकृष्ट मुद्रा प्रचलित है। ...फिर इस देश में भी, जहां ऐसे परिवर्तन होते रहते हैं वाणिज्य-माल का आवागमन इतना विश्रृंखल हो जाता है कि वणिक और शिल्पी यह नहीं समझ पाते कि वे परस्पर कैसा व्यवहार करें।''[1]

राजा के मंत्री मुद्रा के अवमूल्यन के इन परिणामों से चिन्तित थे। वे व्यापार को उन्नत होता देखना चाहते थे और वे नहीं चाहते थे कि व्यापारियों और बैंकरों द्वारा अन्य देशों को सोने-चांदी के निर्यात से देश में धातुओं का अपर्याप्त संग्रह और भी कम होता जाए। साधारणत: निर्धन व्यक्ति ही मूल्यों के घटने-बढ़ने के दुष्प्रभाव का शिकार बनता है क्योंकि वह इतना कार्य-व्यस्त होता है कि न तो उसके पास अपनी रक्षा के लिए समय होता है और न साधन ही। जानकार व्यक्ति–मुद्रा व्यवसायी-अपने धन का ध्यान रखते थे और प्राय: ऐसे अवसरों पर लाभ भी कमा लेते थे। अनेक देशों में सोने और चांदी के निर्यात के विरुद्ध बार-बार कानून बनाये गये थे जो व्यापार के विकास के लिए उस समय अत्यन्त आवश्यक थे। 1477 में इंग्लैंड में एक ऐसा ही कानून पारित हुआ था ''जबकि.. राजा हेनरी षष्ठ के द्वितीय वर्ष में एक अध्यादेश द्वारा यह जारी किया गया था कि कोई सोना-चांदी इस देश से बाहर नहीं ले जाया ज़ाएगा.

---

[1]Monroe, *op. cit.*, pp. 97-98.

.. और इस अध्यादेश और आदेश के विरुद्ध एवं इसी विषय से सम्बन्धित अन्य आदेशों की अवहेलना कर... इस राज्य को साधनहीन करते हुए स्वर्ण और रजत मुद्राएं, देश के सोने-चांदी के बर्तन और पात्र राज्य से बाहर ले जाए और भेजे जाते हैं। अगर इसके तत्काल उपाय न किये गये तो यह अन्ततः राज्य-कोष को क्षीण कर देगा। (अतः) यह आदेश जारी किया जाता है कि.... देश की किसी भी प्रकार की मुद्रा के सिक्के अथवा अन्य राज्यों, भूमि अथवा जागीरों में प्रचलित सिक्के अथवा सोने-चांदी के बर्तन...कच्ची ईंटें, स्वर्ण आभूषण... या चांदी राजा की अनुमति के बिना... कोई भी व्यक्ति राज्य से बाहर नहीं ले जाएगा और न ले जाने देगा।"[1]

राजाओं ने न केवल देश के सोने-चांदी के भण्डार को देश के भीतर ही रखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया, अपितु उन्होंने खनिकों को विशेष सुविधाएं प्रदान कर सोने-चांदी के भण्डार की वृद्धि का भी प्रयत्न किया: "हमारे राज्य में खुली हुई अथवा खुलने वाली खानों में निरन्तर काम करने वाले प्रत्येक खनिक-स्वामी अथवा मजदूर को.. स्वतंत्रतापूर्वक बिना कोई शुल्क दिए अपने खर्च पर खानें खोलने का काम करने की स्वीकृति है; और कोई भी व्यक्ति चाहे वे धार्मिक अथवा सांसारिक शासक, व्यापारी अथवा हमारे राज्याधिकारी ही हों, जो कहते हैं कि उक्त खानों में उनका अधिकार है, न तो उनके काम में किसी प्रकार की बाधा डालेंगे और न ही कोई हस्तक्षेप करेंगे।"[2]

उस समय जब कि व्यापार के अधिक विकास के लिए सोना-चांदी इतने आवश्यक हो रहे थे, व्यापार के विकास की आवश्यकता ने स्वयं इन धातुओं के विशाल भण्डार की खोज का मार्ग दिखलाया और उन खोजों से व्यापार के और भी अधिक विकास का पक्ष प्रशस्त हुआ। आज हम चार सौ वर्ष के दृष्टिकोण के साथ कोलम्बस की खोज के वास्तविक मूल्य का महत्व आंक सकते हैं, लेकिन पन्द्रहवीं शताब्दी के लोगों की दृष्टि में कोलम्बस एक असफल व्यक्ति था क्योंकि वह हिन्दुस्तान की खोज में सफल न हो सका था। सोलहवीं शताब्दी में ही, जब कि स्पेन के लिए मेक्सिको और पेरू में चांदी का स्रोत खुल गया, उसकी खोज का महत्व समझा गया।

[1] *Statuts of the Realm, op. cit.* vol. II, p.454.
[2] Recueil General, *op. cit.*, vol. XII, part I, pp. 179-183

अगर माल पर्वतों और रेगिस्तान में सहस्रों मील तक ऊँट, खच्चर और घोड़ों की पीठ पर लाद कर भेजा जाए, मार्ग के कुछ भागों में उसे मनुष्यों की पीठ पर ले जाया जाये, मार्ग में दुष्ट कबीलों के आक्रमण का निरन्तर भय बना रहे, समुद्री मार्गों पर विनाशपूर्ण तूफानों और हत्यारे समुद्री डाकुओं का भय बना रहे, स्थान-स्थान पर विचित्र सत्ताधारी शासकों द्वारा प्रत्येक मार्ग पर भारी चुंगी कर मांगे जाएं और अन्तिम बन्दरगाह पर पहुंच कर माल उन व्यापारी दलों को बेचना पड़े जिनका उस स्थान के व्यापार पर पूर्ण एकाधिकार है और जो इसलिए पहले से ही ऊंचे दामों को और अधिक लाभ पर बांध देते हैं तो माल की कीमत प्रतिषेधात्मक हो जाएगी। पन्द्रहवीं शताब्दी में पूर्व से आने वाले माल का पश्चिम में यही हाल हुआ जिसकी वहां अत्यधिक मांग थी। पूर्वी मसाले, बहुमूल्य मणियां, औषधियां, इत्र, रेशम पश्चिम के बन्दरगाहों तक जब पहुंचते थे, जहां वेनिस की नौकाएं उस माल को ढोने के लिए तत्पर रहती थीं, उनका मूल्य बहुत चढ़ जाता था। और जब वेनिस के सौदागर उस माल को दक्षिण जर्मनी के नगरों के व्यापारियों को, जो सम्पूर्ण योरोप के मुख्य वितरक थे, बेचते थे, वस्तुओं के दाम आकाश को छूने लगते थे।

अन्य देशों के सौदागर पूर्वी व्यापार के भारी लाभ को केवल वेनिस के सौदागरों के पास जाते देख सन्तुष्ट नहीं थे। वे उसमें हिस्सा चाहते थे। वे जानते थे कि पूर्वी माल से रुपया बनाया जा सकता है पर वे वेनिस के एकाधिकार को तोड़ नहीं सके। पूर्वी भूमध्यसागर वेनिस का सरोवर था और वहां वे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सकते थे।

लेकिन वे इण्डीज द्वीपसमूह को अन्य भागों से पहुंचने का प्रयत्न कर सकते थे। जिन पर वेनिस का नियन्त्रण न हो। दिक्-सूचक-यन्त्र जिसका प्रयोग पहले 13वीं शताब्दी में इतालवी जहाजियों द्वारा किया जाता था, अब तख्ते पर जड़ा जाने लगा था; वेध-यन्त्र के उपयोग द्वारा अक्षांश का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव हो गया था; इतालवी नाविकों ने सुनी-सुनाई और कल्पनाओं से बनाये गये नक्शों के स्थान पर वास्तविक पर्यवेक्षण द्वारा नक्शे बनाना आरम्भ कर दिया था। अत: अब यह बिल्कुल आवश्यक नहीं रह गया था कि समुद्र-यात्रा में तट के समीप ही रहा जाए। सम्भवत: मनुष्य में पर्याप्त साहस हो तो मसालों, सोने और मणियों के कोषागार पूर्व के लिए नया मार्ग खोजा जा सकता था।

जहाज प्रत्येक दिशा में वीरतापूर्वक यात्रा करने लगे थे। कोलम्बस की समुद्री यात्रा उस समय की ऐसी अनेकानेक यात्राओं में से केवल एक थी। अन्य साहसी नाविकों ने किसी उत्तर-पूर्वी मार्ग को पाने की आशा में अपनी दिशा उत्तर-ध्रुवीय सागर की ओर मोड़ दी। कुछ अन्य नाविकों ने अफ्रीका के समुद्र-तट के साथ-साथ दक्षिण की ओर मार्ग निकाला। अन्त में, 1497 में वास्कोडिगामा ने दक्षिण-पूर्वी मार्ग पर अफ्रीका महाद्वीप की परिक्रमा करते हुए 1498 में हिन्दुस्तान के कालीकट नामक बन्दरगाह पर लंगर डाला। इण्डीज द्वीपसमूह के लिए सीधा जल-मार्ग खोज लिया गया।

क्या इसका अर्थ यह था कि अन्य दिशाओं में खोज बन्द हो गई? नहीं। कोलम्बस बार-बार प्रयत्न करता रहा। उसने अमरीका महाद्वीप को पार कर जाने के प्रयत्न में अन्य समुद्री यात्राएं कीं। अनेक नाविक महाद्वीप के पश्चिम अभिमुख होकर उत्तर की ओर बढ़े। कुछ अन्य दक्षिण की ओर बढ़ चले। लक्ष्य एक था—खोज-खोज—यहां तक कि 1609 में भी हेनरी हडसन पूर्व के पथ की खोज में लगा हुआ था।

इन मार्गों की खोज सार्थक भी थी। पूर्व के पथ की यात्रा विशाल धन की प्राप्ति का प्रलोभन था। हिन्दुस्तान की पहली समुद्र-यात्रा में वास्को-डि-गामा का लाभ 6000 प्रतिशत था। आश्चर्य यह है कि अन्य जहाजों ने भी इसी प्रकार की संकटपूर्ण लेकिन लाभप्रद यात्राएं कीं। व्यापार दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा था। वेनिस मिश्र के सुल्तान से प्रतिवर्ष 420,000 पौण्ड काली मिर्च खरीदा करता था। अब पुर्तगाल को वापस लौटती हुई एक नाव पर ही 200,000 पौण्ड का माल था। पूर्व का पुराना मार्ग तुर्कों ने छीन लिया था, वेनिस के सौदागर माल बहुत ऊंचे दामों पर बेचते थे पर उससे क्या? गुड-होप अन्तरीप से होकर जाने वाले पूर्व के मार्ग ने व्यापारियों को तुर्कों की सद्भावना के होने न होने से मुक्त कर दिया और वेनिस के एकाधिकार को भी भंग कर डाला।

अब वाणिज्य की धारा की दिशा परिवर्तित हो चुकी थी। पहले वेनिस और दक्षिण जर्मनी के नगरों को उनकी औद्योगिक स्थिति के कारण दूर पश्चिम के देशों की अपेक्षा प्राथमिकता प्राप्त थी। अब अन्धमहासागर के तटवर्ती देश लाभ में थे। वेनिस और इससे वाणिज्य के रूप में सम्बद्ध अन्य नगर अब वाणिज्य के मुख्य मार्ग से हट चुके थे। जो पहले व्यापार का राजपथ था वह अब उपमार्ग

बन चुका था। अन्धमहासागर नया राजपथ बना और पुर्तगाल, स्पेन, हालैंड और फ्रांस वाणिज्य की चोटी पर जा बैठे।

इतिहास का यह युग "वाणिज्य-क्रांति" के नाम से जाना जाता है और इसके कारण स्पष्ट हैं। जैसा कि हमने देखा, मन्द गति से बढ़ता हुआ वाणिज्य अब वामन के डग भरने लगा था। न केवल योरोप का पुराना संसार और एशिया के कुछ भाग ही अपितु अमरीका और अफ्रीका का सम्पूर्ण नया संसार उद्यमी व्यापारियों के लिए खुला पड़ा था। अब व्यापार का क्षेत्र नदियों और भूमध्य और बाल्टिक जैसे भू-मेखलित सागरों तक ही सीमित नहीं रहा था। जहां पहले "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार" का अर्थ था एशिया के कुछ भागों के साथ योरोप का व्यापार, अब इस शब्द का प्रयोग समुद्री मार्गों द्वारा चार महाद्वीपों को घेरे हुए एक अत्यन्त व्यापक क्षेत्र के लिए होने लगा था। नयी खोजों ने पश्चिम योरोप के समस्त आर्थिक जीवन में चमत्कार-पूर्ण विकास के युग का द्वार खोल दिया था। बाजार का विस्तार सदैव आर्थिक गतिविधि के लिए सबसे बड़ी प्रेरणा रही है। इस युग में बाजार का विस्तार जिस तीव्र गति के साथ हुआ वह अपूर्व था। व्यापार के लिए नये-नये स्थान, अपने देश के माल के लिए नये बाजार, देश में लाने के लिए नया माल—यह सब अत्यन्त संक्रामक और उत्तेजनापूर्ण था और यह सब एक ऐसे युग में हुआ जो व्यापार की भारी हलचल, नयी-नयी खोजों, आविष्कारों और विकास का युग था।

खतरनाक पर उत्तेजनापूर्ण और भारी लाभप्रद अवसरों का लाभ उठाने के लिए व्यापारियों की कम्पनियां स्थापित की गईं। नई-नई कम्पनियों में से एक सबसे पुरानी और प्रसिद्ध कम्पनी के नाम का अर्थ था "अज्ञात स्थानों, द्वीपों, रियासतों और क्षेत्रों की खोज के लिए साहसी व्यापारियों की कम्पनी और रहस्य"। अब यह नाम ही पूरी तरह समझ पाना कठिन है पर यह नाम तो आधी कहानी भी नहीं कहता। क्योंकि एक बार किसी स्थान की "खोज" हुई तो वहां दुर्ग स्थापित किए जाते थे, "थाने" पर सशस्त्र सैनिक टुकड़ियां रखी जाती थीं, वहां के मूल निवासियों के साथ मामले तय किए जाते थे, वास्तविक व्यापार का काम होता था। बाहरी लोगों को व्यापार से बाहर रखने के मार्ग अपनाए जाते थे और उन लम्बी और खर्चीली आरम्भिक तैयारियों का तो कहना ही क्या? जैसे कि जहाज बनवाना या खरीदना; मांझियों का किराए पर प्रबन्ध करना, अनिश्चित

और संकटपूर्ण यात्रा के लिए भोजन तथा अन्य आवश्यक सामग्री बटोरना, आदि।

उस सबके लिए रुपये की आवश्यकता थी—बहुत अधिक रुपये की। कोई भी एक अकेला व्यक्ति ऐसे संकटपूर्ण अभियान के लिए जितना रुपया लगाने का खतरा ले सकता था अथवा लेता उससे कहीं अधिक रुपये की आवश्यकता थी।

व्यापारी संस्थाओं के प्रथागत रूप, जो प्राचीन व्यापार और मार्गों के अनुसार विकसित हुए थे, अब नयी परिस्थितियों के अनुकूल न थे। दूर-स्थित अज्ञात देशों के अजनबी लोगों के साथ अपरिचित परिस्थितियों के बीच होने वाले व्यापार ने नए प्रकार के व्यापारिक संगठन की आवश्यकता को प्रकट किया और जैसा कि सदैव होता है, आवश्यकता ने नए प्रकार के संगठन खड़े कर दिए।

जो एक, दो अथवा तीन व्यक्ति अलग-अलग नहीं कर सकते थे, अनेक व्यक्ति एक संगठन के रूप में मिलकर, एक होकर, एक सामान्य व्यवस्था के साथ सम्भव बना सकते थे। अमरीका, अफ्रीका, एशिया आदि देशों के साथ व्यापार जैसी विशाल योजनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धन एकत्र करने की समस्या का हल कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों के व्यापारियों ने संयुक्त पूंजी पर स्थापित कम्पनियों के रूप में दिया। पहली अंग्रेजी कम्पनी जो संयुक्त पूंजी पर स्थापित की गई थी, मर्चेण्ट एंडवेचरर्स थी। इसके 240 अंशधारी थे जिनमें से प्रत्येक का भाग 25 पौंड था। यह उन दिनों एक बड़ी रकम थी। पूंजी के हिस्सों को अनेक व्यक्तियों को बेच कर आवश्यक पूंजी एकत्र की जाती थी जिससे बड़े-बड़े व्यापार, शत्रुपोतों से सुरक्षा और उपनिवेशों की स्थापना के अभियान कार्यान्वित किए जाते थे। ये संयुक्त पूंजी कम्पनियां आज के बड़े-बड़े निगमों का पूर्वरूप थीं। आज की तरह उस समय कोई भी व्यक्ति हिस्से खरीद कर संयुक्त पूंजी कम्पनी का भागीदार बन सकता था। समुद्री डाकुओं के विरुद्ध ड्रेक के एक अभियान में जहाजों को दिए गए ऋण के बदले स्वयं रानी एलिजाबेथ के भी कुछ हिस्से थे। इस एक अभियान में लाभांश 4,700 प्रतिशत था। इससे रानी ने लगभग 250,000 पौंड अपने हिस्से के प्राप्त किये।[1]

---

[1] Cf. W.R. Scott, *The Constitution and Finance of English, Scottish and Irish Joint Stock Companies to 1720.* 3 vols. vol. 1, p. 81. Cambridge, 1910-1912.

इन लुटेरे अभियानों में रानी की गुप्त भागीदारी इतनी गुप्त नहीं थी जैसा कि सेविल के दिनांक 7 दिसम्बर, 1569 के एक समाचार-पत्र से ज्ञात होता है: "इस समस्त समस्या का सबसे अधिक सन्तापजनक अंग यह है कि ये डाकू रानी की सहायता और गुप्त अनुमति के बिना इस प्रकार की विशाल और भलीभांति सज्जित नौ सेना का गठन नहीं कर सकते थे। यह उस समझौते के विरुद्ध है जिसके अनुसार हमारे राजा ने एक विशेष राजदूत इंग्लैंड की रानी के दरबार में भेजा था। विश्वास के मूल्य को न समझना ही इस देश का स्वभाव एवं इनकी प्रवृत्ति है। अतः रानी बहाने बना रही है कि जो कुछ हुआ है, वह उसकी इच्छा और जानकारी के बिना हुआ है।"[1]

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में स्थापित इन कम्पनियों में से कुछेक के नाम ही यह बताते हैं कि धन का व्यापार अथवा बस्तियां बसाने का काम कहाँ होता था। "ईस्ट इंडिया" कम्पनियां सात थीं जिनमें से अंग्रेजी और डच कम्पनियां सबसे प्रसिद्ध हैं। चार "वेस्ट इण्डिया" कम्पनियां थीं जिनकी स्थापना हालैंड, फ्रांस, स्वीडन और डेनमार्क में हुई थी। "लीवैण्ट" एवं "अफ्रिकन" कम्पनियां भी लोकप्रिय थीं। "प्लिमथ" और "वरजीनिया" कम्पनियों में, जो इंग्लैंड में स्थापित की गई थीं, अमरीकनों की विशेष रूप से रुचि हो सकती है।

आप यह अनुमान सरलतापूर्वक लगा सकते हैं कि कोई भी कम्पनी जो ऐसे व्यय-साध्य और संकटपूर्ण अभियानों का आयोजन करेगी, अपनी सरकार से व्यापार के लिए अधिक से अधिक सुविधाएं पाने का प्रयत्न करेगी। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण सुविधा थी व्यापार में एकाधिकार। कम्पनी अपने विशेष क्षेत्र में किसी भी बाहरी व्यापारी के साथ संघर्ष पसन्द नहीं कर सकती थी। यह समझा जाता था कि मुख्यतः इन्हीं व्यापारी कम्पनियों की साहसपूर्ण रहनुमाई के कारण ही व्यापार के क्षेत्र में व्यापक उन्नति हो सकी थी। आज कुछ इतिहासकार इस पर सन्देह प्रकट करते हैं। उनका तर्क है कि कम्पनियों के बाहर अनेक स्वतन्त्र व्यापारी व्यापार में प्रवेश पाने में प्रयत्नशील थे और उनका अस्तित्व यह बताता है कि अगर इन कम्पनियों को एकाधिकार प्राप्त न होता तो सम्भवतः व्यापार का परिमाण कहीं और अधिक होता।

[1]*The Fugger News Letters*. Edited by V. Von Klarwill Translated by P. de Chary. 1st series, 1924; 2nd series 1926. 2nd series, No. 11. Bodley Head, London.

कुछ भी हो, हम जानते हैं कि कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य व्यापार द्वारा अपने अंशधारियों को लाभ पहुंचाना था। जहाँ उत्पादन की वृद्धि और व्यापक बिक्री द्वारा यह सम्भव था, उन्होंने यही मार्ग अपनाया। निम्न बात के प्रसंग में देखा जाए तो हमारी ए.ए.ए. की ''जीतने की'' मुहिम बड़ी ही दकियानूसी मालूम होगी: डच लोगों ने ''मूल शासकों को अन्य द्वीपों में लौंग और जायफल का निर्मूलन करने के लिए 3,300 पौण्ड की पेन्शन दी थी और ऐम्बोयना में खेती पर पूरा बल दिया जहां वे स्वयं अपना नियन्त्रण स्थापित करने में समर्थ थे। जहां तक पूर्व भारतीय व्यापार का सम्बन्ध था, वे इसे बढ़ाने में उत्सुक नहीं थे। उन्होंने अपने आपको वहीं तक सीमित रखा जहां वे लाभ की ऊंची दर प्राप्त कर सकते थे।''[1]

इस तथ्य के बावजूद कि उक्त विशेष अवस्था में ''लाभ की उच्च दर'' व्यापार की वृद्धि से नहीं अपितु व्यापार को सीमित रखने से प्राप्त हो सकती थी, साधारणत: व्यापार के विकास में अत्यधिक लाभ था। वाणिज्य का यह स्वर्ण-युग था। इस युग में कितनों के भाग्य बन गये। पूंजी एकत्र हुई जिसे सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के विशाल औद्यागिक विकास का आधार तैयार करना था।

इतिहास-ग्रन्थ इस या उस राजा के युद्धों, उसकी विजयों और महत्वाकांक्षाओं का लम्बा-चौड़ा ब्यौरा तैयार करते हैं। इन सबको महत्व देना पूर्णत: गलत है। जो पृष्ठ वे इन राजाओं की कहानियों से भरते हैं, उन्हें वे राज-सिंहासन के पीछे की वास्तविक शक्तियों-उस युग के धनी व्यापारियों और साहूकारों पर लगा कर अधिक सार्थक कर सकते हैं। इन सिंहासनों की वास्तविक शक्ति वही थी क्योंकि राजा को प्रत्येक अवसर पर उनकी आर्थिक सहायता की आवश्यकता पड़ती थी। 16वीं और 17वीं शताब्दी के लगभग दो सौ वर्षों में युद्ध लगभग निरन्तर जारी रहे। युद्धों में व्यय अनिवार्य था और यह व्यय-भार उन्हें ही सहना पड़ता था जिनके पास धन था और वे थे व्यापारी और साहूकार।

स्पेन का चार्ल्स पंचम अथवा फ्रांस का फ्रैंसिस प्रथम पवित्र रोम-साम्राज्य का राजमुकुट धारण करे या नहीं उसका निर्णय किया गया, फगर के एक

[1]W. Cunningham, *op.* vol. II, p. 175.

विशाल श्रेष्ठी-परिवार के प्रमुख एक साधारण जर्मन साहूकार जैकब फगर द्वारा। चार्ल्स को राजमुकुट 850,000 फ्लोरिन्स में पड़ा जिसमें से 543,000 फ्लोरिन्स जैकब से ऋण में लिये गये थे। इस दृश्य के सूत्रधार जैकब के प्रभाव का अनुमान हम चार्ल्स को लिखे एक पत्र की ध्वनि से लगा सकते हैं जो उसने चार्ल्स को उस समय लिखा था जब चार्ल्स ऋण में लिया हुआ धन वापिस लौटाने में देरी कर रहा था। केवल ऋणदाता होने के कारण जैकब को ऐसी भारी शक्ति प्राप्त हुई कि वह इस प्रकार का पत्र लिखने का साहस कर सका। "...फिर हमने महामहिम के प्रतिनिधि को धन की एक भारी रकम उधार दी है जिसके लिए हमें स्वयं उसका एक बहुत बड़ा भाग अपने मित्रों से लेना पड़ा है। यह भली भाँति विदित है कि महामहिम सम्राट रोम के राजमुकुट को मेरी सहायता के बिना प्राप्त नहीं कर सकते थे और मैं इसे आपके प्रतिनिधि के अपने हाथों से लिखे हुए पत्रों द्वारा सिद्ध कर सकता हूं। इस विषय में मैंने अपने लाभ की चिन्ता नहीं की। (इस पर विश्वास करने की आवश्यकता नहीं।) यदि मैंने अपने आस्ट्रिया के घराने को छोड़ कर फ्रांस की ओर कदम बढ़ाये होते तो मैं कहीं अधिक धन और सम्पत्ति प्राप्त कर सकता था। उस स्थिति में आस्ट्रिया के घराने को और स्वयं महामहिम को कितनी बड़ी हानि उठानी पड़ती, आप उसे अच्छी प्रकार जानते हैं।"[1]

सोलहवीं शताब्दी में शायद ही कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना हुई हो जिसके साथ फगरों का अप्रत्यक्षतः भी सम्बन्ध न रहा हो। उन्होंने पन्द्रहवीं शताब्दी में एक व्यापारी संस्थान के रूप में ऊन और मसालों का व्यापार आरम्भ किया। लेकिन उनका भाग्य नक्षत्र साहूकार के रूप में चमक उठा। वे अन्य व्यापारियों, राजाओं और राजकुमारों को ऋण देते थे और बदले में उन्हें व्यवहारतः सभी प्रकार के आयप्रद उद्योगों, खदानों, व्यापारिक अभियानों, भूमि आदि से लाभांश प्राप्त होता था। यहां तक कि पोप भी उनका ऋणी था। सभी स्थानों पर उनकी कोठियां और प्रतिनिधि थे। 1546 के स्थिति-विवरण के अनुसार फगर के ऋणियों में जर्मन सम्राट, ऐण्टवर्प नगर, इंग्लैंड और पुर्तगाल के राजा तथा नीदरलैंड की रानी थी। उनकी कुल पूंजी पांच करोड़ गल्डन थी। इतिहास की

[1]R. Ehrenberg. *Capital and Finance in the Age of the Renaisance,* p. 80. Harcourt, Brace and Company, Inc., N.Y.

कालरेखा जो इस युग को किसी नामधारी राजा के काल के रूप में नहीं अपितु फगरों के युग के रूप में अंकित करती है, सत्य के अधिक निकट है।

यद्यपि उस काल के साहूकारों में फगरों का स्थान सर्वोच्च था पर लगभग वैसे ही महत्वपूर्ण अन्य साहूकार भी थे। एक अन्य ज़र्मन साहूकार संस्थान वेल्सर ने चार्ल्स पंचम को 143,000 फ्लोरेन्स तक की सहायता दी थी। इनकी भी व्यापार-उद्योगों, खदानों और भूमि में काफी बड़ी पूंजी लगी हुई थी। होश्टेटर, हाउक और इम्होफ भी इसी प्रकार के व्यापारी और साहूकारी व्यवसाय चलाते थे। इस काल के इतालवी साहूकारों में फ्रेस्कोबाल्दी, गाल्तेरोती और स्त्रोजी प्रधान थे। एक या दो शताब्दी पूर्व पेरूजी और मेदिनी के नाम भी महत्वपूर्ण थे। व्यापारी और साहूकारी गतिविधियों में भारी वृद्धि का एक सर्वश्रेष्ठ माप फगरों के साथ अन्य साहूकार-परिवारों की सम्पत्ति की तुलना से देखा जा सकता है:

"1300	पेरूजी	800,000 डालर
1440	मेदिनी	7,500,000 डालर
1546	फगर्स	40,000,000 डालर [1]"

उस समस्त साहूकारी और व्यापारी गतिविधि का केन्द्र था ऐण्टवर्प। जब व्यापार की धारा भूमध्यसागर से हट कर अटलाण्टिक सागर की ओर मुड़ चली तो इटली के वे नगर जो कभी व्यापार के मुख्य केन्द्र थे अपना महत्व खो बैठे और उनका स्थान ऐण्टवर्प ने ले लिया। नगर बहुत बड़ा नहीं था। कुल आबादी थी 100,000। इसकी महत्ता का कारण था सब प्रकार के नियन्त्रणों से उसका मुक्त होना। मध्ययुग के अन्य नगर जब विदेशी व्यापारियों के लिए अपने द्वारों के भीतर व्यापार को कठिन बना रहे थे, ऐण्टवर्प ने मुक्त हृदय से सबका स्वागत किया। यह सत्यत: एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केन्द्र था। कोई भी व्यक्ति व्यापार कर सकता था और प्रत्येक व्यक्ति ने वहां व्यापार किया। उसके सभा-भवन में, जहां व्यापारी, आढ़ती और साहूकार व्यापार के प्रसंग में मिला करते थे, दीवार पर निम्न वाक्य अंकित था: "हर भाषा और राष्ट्रीयता के प्रत्येक व्यापारी के

[1] C.J. Hayes, *A Political and Social History of Modern Europe.* 2 vols. p. 66, footnote. The Macmillan Company, N.Y. Revised edition, 1921.

प्रयोग के लिये।" यह निमन्त्रण संसार के प्रत्येक भाग के व्यापारी ने स्वीकार किया। ऐण्टवर्प अंग्रेजी वस्त्रों के व्यापार का केन्द्र था और पूर्वी मसालों का वह सबसे महत्वपूर्ण बाजार था। वेनिस-निवासियों ने जब अपना मसालों का एकाधिकार खो दिया, तो वह पुर्तगालियों के हाथ आ गया और पुर्तगालियों ने अपना समस्त कारोबार ऐण्टवर्प नगर के द्वारा ही किया। यहीं एक अत्यधिक महत्वपूर्ण परम्परा का विकास हुआ जिसने यह सिद्ध किया कि व्यापार ने कितने बड़े-बड़े डग भरे हैं। यह थी प्रमाणिक और मान्यता प्राप्त वस्तुओं की नमूनों द्वारा बिक्री। क्रेता को दिये जाने वाले समस्त माल को लिये फिरने के स्थान पर आधुनिक ढंग के दलालों और आढ़तियों का प्रादुर्भाव हुआ। वे मान्यताप्राप्त वस्तुओं के केवल नमूने दिखा कर माल बेच देते थे। व्यापारी मेलों के लिए, जिनका महत्व इसलिए बढ़ा था कि उनमें अस्थायी रूप से व्यापार के समस्त नियन्त्रण हटा दिये जाते थे, इन सदैव मुक्त बाजारों ने एक सांघातिक आघात का काम किया। आधुनिक विनिमय ने पुराने बाजार को समाप्त कर दिया।

ऐण्टवर्प इतने महत्व का व्यापारिक केन्द्र था कि उसके साथ ही यह मुख्य आर्थिक केन्द्र भी बन गया। यहीं प्रमुख जर्मन और इतालवी साहूकार संस्थानों ने अपने मुख्य कार्यालय स्थापित किये और रुपये का लेन-देन वास्तविक व्यापार से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया। इसी समय में, ऐण्टवर्प में वित्त के आधुनिक साधनों का नित्यप्रति के व्यवहार में प्रयोग आरम्भ हुआ। इस युग के साहूकारों ने माल के बदले रुपये का भुगतान करने के मार्गों और साधनों को सुगम और तेज बनाने के उपाय निकाले। यदि एक देश का व्यापारी किसी दूर देश के व्यापारी का माल खरीदता है या ऐसा कहिए कि इंग्लैण्ड का व्यापारी इटली के एक व्यापारी से माल खरीदता है तो वह उसका दाम किस प्रकार चुकाये? क्या अंग्रेज व्यापारी इतालवी व्यापारी को स्वर्ण अथवा रजत भेजे? यह संकटपूर्ण और व्यय-साध्य है। कोई हुण्डी-व्यवस्था निकालनी ही होगी जो स्वर्ण के इस लदान को अनावश्यक बना दे। अतः दोनों व्यापारी इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि अंग्रेज व्यापारी इतालवी व्यापारी को अपने ऋण के बदले में एक पत्र दे दे जिसमें वह लिख देगा कि उसे उसके माल के बदले में इतना देना है। फिर, किसी अन्य सौदे में सम्भवतः किसी अन्य इतालवी व्यापारी को माल के बदले किसी अंग्रेज व्यापारी को कुछ देना हो तो वह बदले में उसे उसी प्रकार ऋण

स्वीकार करते हुए पत्र लिख देगा। अब, किसी केन्द्रीय भुगतान स्थान पर कोई रुपया इंग्लैण्ड से इटली या इटली जैसे दूरस्थ स्थानों के बीच भेजे बिना दोनों ऋणों को निबटाया जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था शताब्दियों पूर्व निकाली जा चुकी थी। सोलहवीं शताब्दी का एक लेखक लिखता है: "जहां तक उक्त देश के लायन्स (एण्टवर्प की तरह का एक व्यापारिक केन्द्र) के व्यापारियों और अन्य देशों तथा नगरों के बीच भुगतान का सम्बन्ध है, अधिकांश भुगतान कागजों पर ही हो जाता है। यह इस प्रकार है कि तुम्हें मुझे कुछ देना है और दूसरी ओर मुझे तुम्हें कुछ देना है, हम दोनों अपना देन-लेन रद्द कर आपस में हिसाब बराबर कर लेते हैं। और इस प्रकार उक्त भुगतान में रुपये का बहुत कम ही प्रयोग होता है।"[1]

रुपये की वास्तविक अदला-बदली के बिना व्यापार करने के इस चमत्कार की व्याख्या कैण्टिलोन ने भी की है: "अगर इंग्लैण्ड को व्यापार के भुगतान के रूप में फ्रांस का 100,000 औंस रजत देना है, अगर फ्रांस को 100,000 औंस हालैण्ड का देना है और हालैंड को 100,000 इंग्लैण्ड का देना है तो ये तीनों रकमें इन तीनों राज्यों के अपने-अपने साहूकारों द्वारा हुण्डी के भुगतान से निबटाई जा सकती हैं और किसी को भी रजत देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।"[2]

यह सब अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है। उसका महत्व इसलिए है कि इससे हमें ज्ञात होता है कि आर्थिक तन्त्र बढ़ते हुए व्यापार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सोलहवीं शताब्दी के व्यापारी और साहूकारों द्वारा चलाया जाता रहा है। यह ठीक है कि बदलती हुई अवस्थाओं के साथ नये और बेहतर ढंग उस समय से अपनाये जाते रहे हैं लेकिन नींव शताब्दियों पूर्व विद्यमान थी।

उपयोग के लिए नयी धरती की प्राप्ति, व्यापार की निरन्तर वृद्धि और साहूकारों की बढ़ती हुई समृद्धि के साथ अगर यह समझा जाए कि इतिहास में फगरों का यह युग समृद्धि और मनुष्य-मात्र की खुशहाली का स्वर्ण-युग था यह आपकी भूल होगी।

---

[1]Levasseur, *op. cit.*, vol. II, p.45.
[2]Cantilon, *op. cit.*,p. 257.

9. ....निर्धन, भिखारी, चोर

फगरों का युग भिखारियों का युग भी था। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भिखारियों की संख्या के अंक आश्चर्यचकित कर देने वाले थे। 1630 से दस वर्ष तक पेरिस की एक चौथाई आबादी भिखारियों की थी। ग्रामीण क्षेत्रों में भी यह संख्या इतनी ही थी। इंग्लैण्ड में भी अवस्था उतनी ही बुरी थी। हालैण्ड भिखारियों से भरा प्ड़ा था। स्विट्जरलैण्ड में सोलहवीं शताब्दी में "जब इन भिखारियों से पिण्ड छुड़ाने का कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता था, जो धनवानों के घरों को घेर लेते और सड़कों और जंगलों में झुण्ड बना कर घूमते फिरते थे, तो धनवान इन अभागे गृहहीनों के विरुद्ध शिकार-दल तक संगठित करते थे।"[1]

कुछ के लिए विशाल समृद्धि के युग में व्यापक दरिद्रता की क्या व्याख्या की जा सकती थी? जैसा कि सदैव होता है, युद्ध इसका एक कारण था। अनेक लोग सोचते हैं कि 1914-1918 के विश्वयुद्ध ने योरोप के उन भागों में जहां युद्ध का प्रकोप था, संहार और संताप का अभूतपूर्व तांडव दिखाया। लेकिन इस युग के युद्ध उससे भी कहीं अधिक विनाशकारी थे। जर्मनी ने 1618-1648 तक के तीस वर्षीय युद्ध में जो अनुभव प्राप्त किये सम्भवत: उससे अधिक भयंकर अनुभव पहले कभी न किये गये होंगे। "कुल आबादी का लगभग दो तिहाई भाग पूर्णत: इस युद्ध की भेंट चढ़ कर नष्ट हो गया। जो बच गये, उनके दयनीय दु:खों की कोई सीमा ही न थी। साम्राज्य के हर छ: गांवों में पांच गांव नष्ट हो गये थे। एक स्वतन्त्र रियासत के बारे में हम पढ़ते हैं कि वह दो वर्ष में अट्ठाईस बार लूटी गई थी। सैक्सोनी में भेड़ियों के दल निश्शंक घूमा करते थे क्योंकि उत्तर में लगभग एक तिहाई कृषि-भूमि जनहीन हो चुकी थी।"[2]

---

[1]G. Renard and G. Weulersse, *Life and Work in Modern Europe (Fifteenth to Eighteenth Centuries)*, p. 287. Alfred A. Knopf, N.Y., 1926.
[2]Quoted in Hayes, *op. cit.*, p. 229.

अतः लोगों के भयंकर दुःखों और कष्टों का एक कारण था युद्ध। एक अन्य कारण था अमेरिका। इस नये संसार ने भिखरियों के युग की सृष्टि में एक अप्रत्यक्ष पर महत्वपूर्ण भाग लिया। किस प्रकार?

हालैण्ड, इंग्लैण्ड और फ्रांस के व्यापारी व्यापार से अपना भाग्य-भण्डार भर रहे थे। स्पेन-निवासियों ने अपने कोष में धन की वृद्धि का एक सुगम मार्ग खोज निकाला था। यद्यपि उसके अन्वेषकों को इंडीज द्वीप-समूहों का मार्ग खोजने में सफलता नहीं मिली जिससे वे व्यापार द्वारा लाभ कमा सकते थे पर संयोगवश उन्होंने उत्तर और दक्षिण अमेरिका को पा लिया। मेक्सिको और पेरू मे सोने और चांदी की बहुमूल्य खानें थीं जिनमें से वे मनचाहा निकाल ला सकते थे। स्पेन के विशाल जंगी जहाज बोझ से लाद दिए जाते थे और वह बाजार में लाभ पर बेचे जाने वाले व्यापारी माल का बोझ नहीं होता था। वह बोझ था सोने और चांदी की ईंटों का, विशेष रूप से चांदी का। सैक्सोनी और आस्ट्रिया की खानें भी चांदी का भण्डार उगल रही थीं पर इस नये संसार से जितना धन स्पेन में उमड़ रहा था उसकी तुलना में वह बहुत ही कम था। अनुमान लगाया गया है कि 1545 से 1600 के 55 वर्षों में अमेरिकन खानों से लगभग 2,000,000 पौंड प्रतिवर्ष स्पेन आता था। और लगता था कि ज्योंही एक खान की सम्पत्ति समाप्त होती दिखाई देती थी, किसी नयी खान की खोज उस प्रवाह को निरन्तर बनाये रखती थी। 1500 से 1520 तक स्पेनी खानों ने केवल 45,000 किलोग्राम चांदी निकाली थी; लेकिन 1545 से 1560 के 15 वर्षों में इसका उत्पादन छः गुना बढ़ गया जो 270,000 किलोग्राम था और 1580 से 1600 के 20 वर्षों में उत्पादन 340,000 किलोग्राम हो गया जो 1520 के उत्पादन से लगभग आठ गुना था।

वर्ष	स्पेनी खानों की चांदी का उत्पादन
1500 से 1520	———
1545 से 1560	————————
1580 से 1600	——————————

चांदी का यह विशाल भण्डार जो अमेरिका से लाद लाद कर स्पेन में लाया गया, क्या स्पेन में ठहर सका? नहीं। जितनी तेजी से यह धन आया उतनी

ही तेजी के साथ यह समस्त योरोप में घूमने लगा। स्पेन के राजा एक के बाद एक अनेक मूर्खतापूर्ण युद्धों में उलझते रहे। इन युद्धों में उन्होंने रसद और सैनिकों पर अपार धन व्यय किया। स्पेन निवासी चांदी खा नहीं सकते थे। उन्होंने चांदी बेच कर वस्तुएं खरीदीं। खरीद से उनकी बिक्री कम थी और उनका धन उनके हाथों से निकल कर उन व्यापारियों की जेबों में समाने लगा, जो उन्हें वस्तुएं बेचते थे।

योरोप में आ रहे चांदी के इस अभूतपूर्व प्रवाह का परिणाम क्या हुआ? इससे कीमतों में रोमांचक वृद्धि हुई। किसी एक या दूसरी वस्तु में दो-एक पेनी की वृद्धि नहीं अपितु हर वस्तु की कीमत में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। कीमतों में यह एक वास्तविक क्रांति थी जैसी कि संसार के इतिहास में पिछले हजार वर्षों में केवल तीन या चार बार ही हुई थी। 1500 में वस्तुओं की जो कीमतें थीं, 1600 के आते न आते वे उससे दो गुनी से अधिक हो गईं और 1700 में ये कीमतें इस क्रांति के आरम्भ की कीमतों से लगभग साढ़े तीन गुना से भी अधिक बढ़ गईं।

हमने देखा कि अवमूल्यित मुद्रा किस प्रकार रुपये के मूल्य को कम कर देती है। अथवा दूसरे शब्दों में कीमतों में वृद्धि होती है। प्रचलित मुद्रा की संख्या में वृद्धि भी वही परिणाम प्रकट करती है। रुपया भी अन्य किसी वस्तु के समान है जिसकी लोगों को आवश्यकता होती है और जिसकी पूर्ति असीमित नहीं है। हम सब वायु चाहते हैं पर इसका भण्डार इतना विशाल है कि इसका कोई आर्थिक मूल्य नहीं। हमें इसके लिए कुछ देना नहीं पड़ता। हम पानी बेचने और खरीदने की बात नहीं सोच सकते लेकिन सूखे और गर्म देशों में, रेगिस्तानी क्षेत्रों में पानी भी बिकता है क्योंकि वहां मांग की अपेक्षा पूर्ति सीमित है। जब वस्तुओं के लेन-देन में विनिमय प्रणाली का प्रयोग होता था, उस समय अगर मदिरा की उपज अच्छी होती है और गेहूं की फसल खराब तो हम समझ सकते हैं कि एक व्यक्ति को गेहूं की उसी मात्रा के लिए पहले की अपेक्षा अधिक मदिरा देनी पड़ती। मुद्रा पर भी यही सिद्धान्त लागू होता है। यदि यह उन वस्तुओं की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है जिनके साथ इसका विनिमय होता है तो उन वस्तुओं की तुलना में इसका मूल्य कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में कीमतें बढ़ जाती हैं। रुपये के मूल्य में गिरावट का अर्थ है कीमतों में वृद्धि और रुपये के मूल्य में वृद्धि

का अर्थ है कीमतों में गिरावट। यह परिवर्तन मुद्रा के वितरण में अपेक्षाकृत कमी या वृद्धि द्वारा लाया जाता है।

इस प्रकार योरोप में मूल्यवान धातुओं के आने वाले प्रवाह के साथ वस्तुओं की कीमतें ऊंची चढ़ने लगीं। किस प्रकार? यहां तक कि लोगों की सामान्य चर्चा का विषय यही बन गया: "वे पुराने दिन मुझे याद हैं जब मक्खन इससे चौथाई कीमत पर मिलता था जो तुम्हें आज देनी पड़ती है। और अण्डे वे तो मानों मुफ्त ही मिलते थे।"

अमरीका का धन पहले स्पेन में आया और वहीं सबसे पहले कीमतों की यह ऊंची उड़ान दिखाई दी। एक इंग्लैंडवासी निकोलस क्लीनीर्ट्स 1536 में पुर्तगाल और स्पेन की यात्रा करते हुए वहां की ऊंची कीमतों को देखकर आश्चर्य-स्तम्भित रह गया। दाढ़ी बनवाने की कीमत इतनी अधिक थी कि उसने अपने घर पत्र लिखते हुए उस पर निम्नलिखित कौतुकपूर्ण टिप्पणी लिखी: "सालामानका में दाढ़ी के लिए आधा रील देना आवश्यक नहीं था क्या? इसे देख कर कोई भी व्यक्ति फ्लैण्डर्स की अपेक्षा स्पेन में दाढ़ी रखने वालों की विशाल संख्या देखकर आश्चर्य नहीं करेगा।"[1]

जब अमेरिका की चांदी स्पेन से सम्पूर्ण योरोप में फैल गई तो जिन ऊंची कीमतों ने फ्लैण्डर्स के उक्त यात्री को आश्चर्यचकित कर दिया था, वे अब प्रत्येक देश में प्रत्यक्ष होने लगीं। औसत व्यक्ति इसका कारण नहीं समझ पा रहा था। वह नहीं जानता था कि वह मूल्य-क्रांति अन्तर्राष्ट्रीय थी और केवल उसके देश के विशिष्ट भाग तक ही सीमित न थी। वह भुनभुनाया और कारण की खोज में इस या उस आकांक्षी व्यक्ति की दुष्टता पर दोषारोपण करने लगा। सोलहवीं शताब्दी में लिखी गई ***ए डिस्कोर्स ऑफ द कामन वील ऑफ दिस रेल्म ऑफ इंग्लैंड*** नामक पुस्तक में लेखक बताता है कि किस प्रकार किसान आरोप लगाता है कि भूमिपतियों द्वारा लगाये गये अत्यधिक किरायों के कारण ही कीमतें चढ़ रही हैं और भूमिपतियों का तर्क है कि ऊंचे किराये इस कारण हैं क्योंकि कृषि उत्पादन की वस्तुओं की कीमतें बहुत बढ़ गई हैं।

"खेतिहर–मैं समझता हूं, श्रीमान, कि यह मंहगाई इस कारण है कि आप

[1]*La Reponse de Jean Bodin a M. de Malestroit* (1568). Nouvelle edition par H. Hauser. Colin. Paris, 1932. Introduction, p. 16.

लोगों ने अपनी भूमि की कीमतें इतनी ऊंची रखी हैं कि उन पर बसने वाले लोगों के लिए मंहगा बेचना आवश्यक हो गया है... अन्यथा वे अगली बार अपना किराया भी न निकाल सकेंगे।

"सामन्त–और मैं कहता हूं कि यह तुम खेतिहरों का लोभ है जिससे हम सब किराये बढ़ाने के लिए विवश हो गये हैं क्योंकि हमें तुम लोगों से मिलने वाली सभी वस्तुएं मंहगी मिलती हैं, जैसे अनाज, पशु, बत्तखें, सुअर, मुर्गे, चूजे, मक्खन, अण्डे आदि। कोई भी वस्तु क्यों न हो पिछले आठ वर्षों से हम जिन दामों में खरीदते रहे हैं, आज तुम हर वस्तु उससे डेढ़ गुनी कीमत पर बेच रहे हो। तुम्हारे नगर के पड़ोसी क्या तुम्हें नहीं बतला सकते कि इन आठ वर्षों में कोई बढ़िया से बढ़िया अपनी पसन्द का सुअर या बत्तख तुम चार पेन्स में खरीद सकते थे और आज वही मुझे सात पेन्स का पड़ता है। एक अच्छा मुर्गा पहले 3 या 4 पेन्स में, चूजा एक पेनी में और मुर्गी 2 पेन्स में मिलती थी। अब मुझे इनकी दोगुनी कीमत देनी पड़ती है। अन्य वस्तुओं जैसे भेड़ या गाय के मांस की भी यही अवस्था है।"[1]

निःसंदेह, उस युग के कुछ विचारक ऐसे थे जो आर्थिक विषयों को केवल मनुष्य के पाप-पुण्यों के साथ जोड़ने की मध्ययुगीन प्रवृत्ति त्याग चुके थे। जीन वोदिन और कैण्टिलोन जैसे लोग इस तथ्य को स्वीकार कर चुके थे कि कीमतों में वृद्धि "अच्छे" या "बुरे" लोगों से प्रभावित न होकर एक निर्वैयक्तिक विधान की शक्ति से परिचालित होती है। बोदिन ने सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा था: "मैं समझता हूँ, मंहगाई तीन कारणों से होती है। मुख्य और मूलकारण (जिसकी ओर अब तक किसी का ध्यान नहीं गया था) सोने और चांदी का अतुलित भण्डार जो आज इस राज्य में इतना अधिक है कि गत 400 वर्षों से कभी नहीं रहा!......."[2]

बोदिन ने जब अपना महान ग्रन्थ लिखा, उसके पश्चात दूसरों के मस्तिष्क में भी यह बात उठने लगी कि सोने और चांदी के आने वाले प्रवाह और ऊंची कीमतों में एक परस्पर सम्बन्ध है। एक व्यापारी जेरार्द द मालिने द्वारा 1601 में

[1]*A Discourse of the Common Weal of This Realm of England* (1581). p. 19. Edited by Elizabeth Lamond, Cambridge Univ. Press, 1893.
[2]Bodin, *op. cit.*, p.9

लिखी गई पुस्तक ***ए ट्रीटाइज आफ द कैंकर आफ इंग्लैण्ड्स कामनवेल्थ*** में एक सन्दर्भ है..."मुद्रा की अधिकता साधारणतः वस्तुओं को काफी मंहगा कर देती है और इसी प्रकार मुद्रा की कमी साधारणतः वस्तुओं को काफी सस्ता कर देती है।... इस प्रकार मुद्रा की कमी या अधिकता के अनुसार वस्तुएं साधारणतः मंहगी या सस्ती होती हैं। गत वर्षों में वेस्ट इण्डीज द्वीप समूह से ईसाई देशों में जो शुद्ध सोना चांदी आता रहा है, उसके अतुलित भण्डार ने यहां हर वस्तु को मंहगा कर दिया है।"[1]

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में जिस बात पर उग्र वाद-विवाद होता रहा, अठारहवीं शताब्दी में वह सब लोगों पर पूर्णतः स्पष्ट हो चुकी थी। कैण्टिलोन के अनुसारः "अगर सोने और चांदी की खानें प्राप्त हो जाएं और उसमें से पर्याप्त मात्रा में धातुएं निकाली जा सकें तो वह समस्त धन, चाहे ऋण के रूप में दिया जाए अथवा खर्च किया जाए, वितरण में आएगा और वितरण के प्रत्येक रूप में उत्पादन और व्यापार की समस्त वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हुए बिना नहीं रहेगी। सभी इस बात पर सहमत हैं कि मुद्रा की अधिकता हर वस्तु की कीमतें बढ़ा देती है। गत दो शताब्दियों में अमेरिका से योरोप में लाई गई मुद्रा की मात्रा अनुभव से भी इस सत्य का समर्थन करती है।"[2]

कीमतों की इस वृद्धि के परिणाम क्या निकलते हैं? कौन लाभ उठाता है और किसे हानि होती है? जो लोग लाभ में रहे, वे थे व्यापारी। उनके खर्च बढ़ गये पर साथ ही व्यापार से उनकी आय में और भी वृद्धि हुई। जो उन्होंने खरीदा उसके लिए उन्हें अधिक देना पड़ा; पर जो उन्होंने बेचा, उससे उन्होंने इतना वसूल किया जो वे पहले कभी नहीं कर सकते थे। लाभ उठाने वाला दूसरा वर्ग वह था जिसके खर्च वही रहे, पर जिसके उत्पादनों की कीमतें बढ़ गईं। इन्होंने पूर्व निश्चित किरायों पर लम्बे समय के लिए भूमि के पट्टे लिए थे और अब मक्खन, अण्डे, गेहूं, जौ आदि काफी बढ़ी हुई कीमतों पर बेच सकते थे।

दूसरी ओर ऐसे बहुत से वर्ग थे जिन्हें मूल्य-क्रांति के परिणामस्वरूप गहरा आघात पहुंचा। उदाहरणार्थ सरकारों के लिए खर्च पूरा करना भी अत्यन्त कठिन होने लगा। उनकी आय निश्चित थी जबकि उनके व्यय निरन्तर बढ़ रहे

[1] *Tuder Economic Documents, op., cit,* vol. III, pp. 386, 387.
[2] Cantillon, *op. cit.,* pp. 159, 161.

थे। यह एक परिवर्तन का युग था जबकि राष्ट्रीय राज्य उभर रहे थे और सरकारी आर्थिक संगठन इन नयी परिस्थितियों के संदर्भ में पुराना हो चुका था और साथ ही नयी परिस्थितियों के अनुकूल भी न था। यह धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा था पर इसी बीच वह कई स्थानों पर बुरी तरह चरमरा उठा और मूल्य क्रांति ने उसकी कठिनाइयों को और बढ़ा दिया। रुपये की तंगी ने राजाओं को अधिक से अधिक उदीयमान धनी वर्ग के हाथों में डाल दिया और यही समय था जब धनिकों द्वारा राजाओं से अनेक प्रकार की सुविधाएं निचोड़ ली गईं। इस प्रकार उस युग की वे क्रांतियां जिनसे नागरिकों के हाथों में बढ़ती हुई राजनीतिक शक्ति आई मूल्य-क्रांति से घनिष्ठता से सम्बन्धित थीं।

मजदूरी पेशा लोगों को भी संकट का सामना करना पड़ा। कीमतों की वृद्धि का समय प्रायः सदैव ही मजदूरी की वृद्धि का भी समय होता है। अतः यह अपेक्षा की जा सकती है कि अन्त में सब कुछ ठीक ही रहेगा। पर वस्तुतः ऐसा नहीं होता। इस तर्क की एक महत्वपूर्ण दुर्बलता यह है कि मजदूरी कभी भी उतनी नहीं बढ़ती जितनी कि कीमतें। मजदूरी की वृद्धि के लिए प्रायः संघर्ष करना पड़ता है। यह वृद्धि प्रायः सुचिन्तित जन-आन्दोलन के द्वारा ही प्राप्त की जाती है, जिसे प्रतिरोध सहन करना पड़ता है जबकि कीमतें बाजार की गतिविधि के साथ बढ़ती हैं। श्रमिक इस वृद्धि के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। जबकि 15वीं शताब्दी के अन्त में फ्रांस में एक श्रमिक अपनी एक दिन की मजदूरी से 4.3 किलोग्राम मांस खरीद सकता था, एक शताब्दी के पश्चात् वह 1.8 किलोग्राम ही खरीद सकता था। पहले उसे 100 लीटर अनाज के लिए केवल 4 फ्रैंक खर्च करने पड़ते थे, एक शताब्दी के पश्चात इतना अनाज 20 फ्रैंक में भी नहीं खरीदा जा सकता था। रोजर्स अनुमान लगाता है कि इंग्लैंड में 1495 में, एक किसान 15 सप्ताह में एक वर्ष के लिए परिवार के आवश्यक सामान जुटाने जितना कमा लेता था, लेकिन 1610 में वह पूरे वर्ष भर श्रम करके भी उतना नहीं कमा पाता था। और "एक रटलैंडवासी शिल्पी..1495 में दस सप्ताह के परिश्रम से जितना प्राप्त कर लेता था उतना ही कमाने के लिए ... 1610 में.... उसे 43 सप्ताह परिश्रम करना पड़ता था।"[1] श्रमिक वर्ग के लिए इसका अर्थ यह था कि या

[1]J.E. Thorold Rogers. *Six Centuries of Work and Wages,* pp. 389-392 G. P. Putnam's Sons, N.Y., 1884.

तो वह तंगी स्वीकार करे या ऊंचे खर्चों को पूरा करने के लिए ऊंची मजदूरी के लिए संघर्ष करे अथवा भिखारी बने। मूल्य क्रांति के फलस्वरूप तीनों बातें सम्मुख आई।

अन्य वर्ग, जिसे हानि उठानी पड़ी, निश्चित आय वाला वर्ग था जो वार्षिक वृत्ति, निवृत्ति-वेतन (पेन्शन) अथवा निश्चित ब्याज पर दिए गए ऋणों की आय पर निर्भर करता था। जैसे कि उदाहरणार्थ, एक कुमारी रीनेर्सेस का उल्लेख किया जा सकता है जिसने 14वीं शताब्दी के अन्त में जीवन भर की वार्षिक-वृत्ति पाने के लिए अपना सारा रुपया लगा दिया था।

"हम हालबेरस्टाट नगर के सभासद, महापौर और संघ-स्वामी ज्ञापित करते है कि हम... 500 मार्क रकम के बदले जो हमें नकद प्रदान की गई है. ..कुमारी अल्हीदे रीनेर्सेस को 50 मार्क प्रतिवर्ष का शुल्क देना स्वीकार करते हैं।"[1]

सम्भवत: कुमारी रीनेर्सेस ने इस वार्षिक वृत्ति को लेकर सोचा होगा कि उसका बुढ़ापा अच्छी तरह कट जाएगा। ठीक ही है। पर अगर वह कीमतों की इस वृद्धि के युग में जीवित रहती, तो उसे भूखों मरने का दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव प्राप्त होता क्योंकि उसकी आय तो वही रहती पर जो वस्तुएं वह उस रकम से खरीद सकती थी वे बहुत मंहगी हो चुकी थीं। अत: वह उससे बहुत कम खरीद पाती। उसकी नामित आय तो वही रहती पर उसकी वास्तविक आय कम हो जाती। मूल्य-वृद्धि के युग में निश्चित आय वाले लोगों के साथ सदैव यही होता है।

इसी प्रकार भूमि से निश्चित आय वाले लोगों को भी गहरा आघात पहुंचा। आपको स्मरण ही होगा कि किस प्रकार प्रथागत सेवाओं के बदले मुद्रा में किराये का भुगतान होने लगा था। मूल्य-क्रान्ति के आने तक वह व्यवस्था भूमिपतियों के लिए ठीक चलती रही। उसके पश्चात उन्होंने देखा कि उन्हें किराया मिलता था पुरानी दर पर जो कम थी पर उन्हें देने पड़ते थे नए मूल्य जो अधिक थे। वे कठिनाई में पड़ गए। वे क्या कर सकते थे? जिन्होंने राजाओं से उनके द्वारा जब्त की हुई चर्च की भूमि प्राप्त की थी अथवा खरीद ली थी, वे भूपति अथवा धनी लोग इस बारे में क्या कर सकते थे कि भूमि की कीमतें

[1]*Urkundenbuch der Stadt Halberstadt,* vol. I, p. 523, Bearbeitet von G. Schmidt. halle, 1878.

बढ़ रही थीं और किराए वही थे? उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें भूमि से अधिक रुपया प्राप्त करना है। पर कैसे?

उनके लिए दो मार्ग खुले थे—क्षेत्रबन्दी और किराये की वृद्धि।

किसी सीमा तक क्षेत्रबन्दी समूचे योरोप में लेकिन विशेष रूप से इंग्लैंड में होती रही। आपको प्रथम अध्याय में वर्णित कृषि की मुक्त क्षेत्र व्यवस्था का स्मरण होगा। यह एक गलत प्रथा थी क्योंकि इसमें श्रम व्यर्थ जाता था। यह प्रथा इसलिए भी गलत थी क्योंकि इससे जागृत, प्रगतिशील और साहसी किसान खेत की उन्नति के लिए अपने कदम नहीं उठा सकता था। न ही वह नये प्रयोग कर सकता था। उसे अपने आपको दूसरों की गति के अनूकूल ढालना पड़ता था जिनकी भूमि की पट्टियां उसके खेतों के साथ लगी हुई हैं। कुछ मूर्ख और अबोध किसान सारे गांव की उन्नति के बाधक बन सकते थे। अतः कुछ स्थानों में भूमि की पट्टियों के परस्पर विनिमय का प्रचलन आरम्भ हुआ जिससे अनेक किसान अपनी तीस एकड़ भूमि जो कि दूसरों की भूमि में इधर-उधर बिखरी हुई पट्टियां थीं, छः-सात एकड़ के चार-पांच क्षेत्रों में बदलने में समर्थ हो सके। पट्टियों के विनिमय में कोई सौभाग्यशाली और चतुर किसान अपनी समस्त पट्टियों को "मुक्त" करवा कर उन्हें एक ही बड़े टुकड़े में मिलाने में भी सफल हो सकता था। उसके पश्चात अगला कदम था अपनी भूमि के चारों ओर बाड़ खड़ी करना। जो भूमि पहले उन्मुक्त थी, अब वह बन्द कर दी गई अर्थात बाड़ से घेर दी गई। अगर आपने कभी न्यू इंग्लैंड की यात्रा की हो तो आपने पत्थरों की दीवारें देखी होंगी जो हरेक किसान की भूमि के चारों ओर खड़ी होती हैं। पुराने इंग्लैंड में, जहां पत्थर आसानी से प्राप्त हो सकते थे, उन्होंने अपनी भूमि का घेरा भी पत्थरों का बनवाया। जहां पत्थर नहीं थे, वहां केवल बाड़ लगवा दी गई। इस प्रकार की बाड़बन्दी, जिसमें भूमि पर खेती होती रही, किसी के लिए हानिकारक नहीं थी और उससे उपज में वृद्धि ही हुई। किसी को इस पर आपत्ति नहीं थी और निर्धन और धनी सभी किसानों ने यह मार्ग अपनाया और इससे लाभ उठाया।

लेकिन एक क्षेत्रबन्दी और प्रकार की थी जिसने सहस्त्रों लोगों के लिए घोर कठिनाइयां उत्पन्न कर दीं। यह क्षेत्रबन्दी भेड़ें पालने के लिए थी। क्योंकि ऊन की कीमतें ऊंची चढ़ रहीं थीं। (ऊन इंग्लैंड का मुख्य निर्यात था), इसलिए

अनेक भूपतियों ने अपनी कृषि-भूमि को भेड़ों के चरागाहों में बदलने में रुपया कमाने का अवसर देखा। मूल्य-क्रांति से पहले भी यह क्षेत्रबन्दी आरम्भ हो चुकी थी पर कीमतों से इस आन्दोलन को अत्यधिक बढ़ावा मिला। अनेक भूपतियों ने अपनी भूमि भेड़ें पालने के लिए लगा दी। इससे भूपति को अधिक धन की प्राप्ति हुई पर किसानों की आजीविका और उनका काम समाप्त हो गया जो उस भूमि पर खेती करते थे। कृषि कार्य की अपेक्षा भेड़ें चराने में कम लोगों की आवश्यकता पड़ती है और शेष लोग अब बेरोजगार थे। प्राय: भू-स्वामी को एक अच्छे आकार का एक बड़ा-सा भूमि का टुकड़ा प्राप्त करने के लिए उन रैयत किसानों को उनके खेतों से हटाना पड़ता था जिनके खेत उसके आड़े आते थे। परिणामत: अधिकाधिक लोग अपनी आजीविका के साधनों से वंचित हो बैठे। उस युग के लेखकों के पत्रों के उत्क्रोश से हमें पता लगता है कि चरागाहों के रूप में भूमि की क्षेत्रबन्दी से निर्धन किसानों को कितने संकटों का सामना करना पड़ा।

कभी-कभी भूपितयों ने चरागाह सामान्य लोगों के लिए बन्द ही कर दिए। इसका स्वभावत: अर्थ यह था कि बेचारी रैयत के पशुओं के लिए चरने का कोई स्थान ही नहीं था। जिसका अर्थ था उनका पूर्ण विनाश। क्या रैयत के इस सम्बन्ध में कोई अधिकार न थे? क्या वे इसके लिए कानून का सहारा नहीं ले सकते थे? वे कानून की शरण में जा सकते थे। पर कानून का आश्रय धनी व्यक्ति के लिए ही सुगम है जो इसके लिए खर्च कर सकते थे। अत: उन अवस्थाओं में भी, जबकि आसानी से जीत सकते थे, उनके पास शायद ही झगड़ों को जारी रखने के साधन थे। भूपति के पास रुपया था और वह मुकदमे को तब तक खींच सकता था जब तक कि किसान साहस छोड़ कर पीछे न हट जाएं। तब वह उनकी भूमि खरीद सकता था और उसे भी क्षेत्रबन्दी में जोड़ लेता था। बूट्टन बैसेट के किसानों द्वारा "जनसाधारण के अधिकारों के प्रत्यास्थापनार्थ" लोक-सथा को दी गई निम्न याचिका में यही कहानी कही गई है:

"उक्त नगर के महापौर और स्वतंत्र किसानों के... पास उनके सब प्रकार के पशुओं को चराने के लिए सार्वजनिक चरागाह थे।... एक सर फ्रैंसिस एंगलफील्ड ने... उक्त भूमि को बन्द कर दिया है।... और वह भूमि काफी समय

से बन्द पड़ी है क्योंकि वह समर्थ व्यक्ति है और उक्त किसान और अधिक समय तक कानून का खर्च सहन करने में समर्थ नहीं थे। एक जौन रूस को अभियोग चलाते हुए अपनी (500 पौंड की) समस्त भूमि बेचनी पड़ी थी। अन्य भी अनेक इसी प्रकार निर्धन बना दिए गए हैं।... हमें समस्त सार्वजनिक भूमि से बाहर निकाल दिया गया है जो कभी हमारे पास रही थी और अब हमारे पास एक फुट भी सार्वजनिक भूमि नहीं है... हम इतने निर्धन हो चुके हैं कि यदि परमात्मा सम्माननीय सदन के हृदय में हमारे पक्ष के समर्थन की प्रेरणा उत्पन्न करे और यह सदन हमारे लिए कोई कार्यवाही कर सके तो हम सम्भवतः फिर अपने अधिकार पा सकें।

(इसके नीचे 23 हस्ताक्षर थे)

"हम अन्य अनेक व्यक्तियों के हस्ताक्षर भी प्राप्त कर सकते थे पर इनमें से अनेक अपने भूपतियों के साथ करारों में बंधे हैं और उन्हें भय है कि उन्हें उन करारों से वंचित कर दिया जाएगा और तब उनके पास जीवित रहने का कोई साधन नहीं रहेगा.. अन्यथा वे भी इस याचिका में हमारे साथ होते।"[1]

सभी बन्द क्षेत्र भेड़ें चराने के लिए नहीं थे। छोटे-छोटे बहुत से खेतों की अपेक्षा एक बड़ा खेत जोतना सस्ता और सरल पड़ता था। भूपतियों ने अपने खेत बेहतर उपज के लिए भी बन्द कर दिए थे। वे अभागे किसान जो इन पट्टियों पर काम करते थे, जिनकी भूपति को आवश्यकता थी, शीघ्र ही भूमिहीन गृहहीन लोगों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाते थे।

यद्यपि इस युग में भूमि के किरायों में जो अत्यधिक वृद्धि हुई है उसकी अपेक्षा हममें से अधिकांश इस क्षेत्रबन्दी के विषय में ही अधिक जानते हैं पर किरायों की वृद्धि अधिक महत्वपूर्ण थी। जब कोई नया किसान भूमि प्राप्त करता था तो उसे जो किराया और दण्ड-शुल्क देना पड़ता था, वह लगभग स्थिर चला आ रहा था। यह रकम प्रथानुसार निश्चित थी और पूर्वकाल में प्रथा में ही कानून की शक्ति निहित थी। पर अब क्योंकि मूल्य-क्रांति ने भूमि से अधिक प्राप्ति को आवश्यक बना दिया था, भूपति प्रथाओं की अवमानना करने लगे थे जिनसे अब तक किसानों को संरक्षण प्राप्त था। जब एक किसान का पट्टा समाप्त हुआ तो भूपति ने पुराने पट्टे की शर्तों पर प्रथा के अनुसार पट्टे का नवीनीकरण करने

[1]Bland, Brown and Tawney, *op. cit.*, pp. 255-258.

के स्थान पर भूमि का किराया इतना अधिक बढ़ा दिया कि प्राय: किसान के लिए वह किराया देना असंभव हो गया और उसे भूमि छोड़नी पड़ी। पट्टेदारों के साथ यही हुआ। यद्यपि कालान्तर में पट्टे पर भूमि लेना महत्वपूर्ण होने लगा था पर इस काल में अधिकांश किसान पट्टेदार थे और इसका अर्थ यह था कि उन्होंने जागीर की प्रथा के अनुसार भूमि "पंजीकृत पट्टे में भूपति की इच्छानुसार" प्राप्त की थी। दुर्भाग्यवश अनेक पट्टेदारों के लिए भूपति द्वारा जागीर की प्रथा का अर्थ वह लिया गया था जो भूपति उस विशेष अवसर पर चाहता था। और अन्य सब बातों के अतिरिक्त मुख्य बात जो वह चाहता था, वह थी भूमि से अधिक रुपया या भूमि का किसी अन्य ऐसे व्यक्ति को दिया जाना जो उसे अधिक रुपया दे सके। रैयत को भूमि से बाहर निकालने के लिए हर सम्भव दांव खेले गए। जब पट्टा बदला गया, जैसे गृहस्वामी की मृत्यु के पश्चात, तो उसके पुत्र को, जो उसी प्रचलित साधारण शुल्क को देकर भूमि को अपने हाथों में लेने की आशा कर रहा था, ज्ञात हुआ कि शुल्क अब साधारण नहीं रहा। भूपति ने शुल्क इतना बढ़ा दिया कि किसान उसे दे नहीं सका और उसे अपने पुराने अधिकार छोड़ देने पड़े। तब भूपति ने या तो भूमि बेच दी अथवा किसी अन्य को पट्टे पर दे दी जो नयी दर के अनुसार किराया देने में इच्छुक और समर्थ था।

व्हिटबी के निवासियों द्वारा दी गई 1553 की एक याचिका से ज्ञात होता है कि किराये और दण्ड-शुल्क कितने बढ़ा दिये गए थे:

	पुराना किराया	नया किराया	दण्ड शुल्क
"हेनरी रसेल से	42 शि. 11.5 पे.	4पौं. 7 शि. 3पे.	3 पौं. 6 शि. 8पे.
थौमस राबिन्सन से	12 शि. 11.5 पे.	40 शि. 7 पे.	33शि. 4पे.
थौमस कौवर्ड से	14 शि. 9पे.	31 शि.	2शि. 6पे.
विलियम वौकर से	7 शि. 3पे.	17 शि.	5शि.
रौबर्ट बार्कर से	14 शि. 6पे.	30 शि.	2 शि. 8पे."[1]

एडवर्ड षष्ठ के सभासदों के सम्मुख उपदेश देते हुए बिशप लैटिमर ने खूब खरी-खरी कहने का साहस किया। उसने कहा: "आप भूमि-पति, किराया

[1] *Ibid.*,pp. 252-3.

खाने वाले... अप्राकृतिक भूस्वामी, आप लोगों की वार्षिक आय बहुत अधिक है। जो कुछ बीस या चालीस पौण्ड में प्राप्त होता था (जो एक भूपति के लिए अन्य के पसीने और श्रम की कमाई का न्याय-संगत भाग है) अब उसी का पचास या सौ पौण्ड वार्षिक कर दिया गया है।"[1]

लोभी भूपतियों का तिरस्कार करने वाला लैटिमर अकेला न था। इस युग के अन्य लेखक और वक्ता भी क्षेत्रबन्दी, अत्यधिक ऊंचे किरायों, ऊंचे शुल्कों और उन भूपतियों के घोर विरोधी बन कर उठ खड़े हुए जो बेदखली के द्वारा आवारा और भिखारियों की विशाल सेना में निरन्तर वृद्धि कर रहे थे। उसी युग में भूस्वामियों के लिए प्रार्थना में हमें निम्न पंक्तियां मिलती हैं: "हम हृदय से प्रार्थना करते हैं कि वे (जिनके पास पृथ्वी के मैदान, चरागाह और मकान हैं) अपनी भूमि और मकानों के ऊंचे किराये ऐंठ कर शोषण न करें, न ही अयुक्ति-युक्त शुल्क और आय प्राप्त करें।... उन पर अनुकम्पा करो कि वे उससे सन्तुष्ट रहें जो उनके लिए पर्याप्त है और वे दूसरों को निर्धन बनाने के लिए भूमि और मकान न जोड़ें....।"[2]

परन्तु इन समस्त प्रार्थनाओं के बावजूद, भूपतियों ने क्षेत्रबन्दी और किरायों की वृद्धि का अभ्यास जारी रखा। गांव के गांव बेदखली से खाली हो गये। उनके निवासी भूखों मरने के लिए, चोरी करने या सड़कों पर भीख मांगने के लिए छोड़ दिये गये। अधिक से अधिक प्रार्थनाएं की गईं। कानून बनाये गये। राजसिंहासन हिल उठे। राज्य गांवों को उजड़ने से रोकना चाहते थे। उन्हें भय था क्योंकि सेना की भरती अधिकांशत: किसानों और छोटे-मोटे जमीनदारों से होती थी। फिर जिन किसानों की आजीविका के साधन उनसे छीने जा रहे थे, वे राज्य को कर देते थे और राज्य के राजस्व के स्रोत थे। फिर, ये खानाबदोश भिखारी दल राज्य के लिए एक वास्तविक संकट खड़ा कर रहे थे। आग लगाना, क्षेत्रबन्दी की बाड़ों को तोड़ना ओर विप्लव खड़ा कर देने की घटनाएं होने लगीं। अत: क्षेत्रबन्दी के विरुद्ध कानून बनाये गये। पहला कानून 1489 में बनाया गया था। अन्य कानून सोलहवीं शताब्दी में निरन्तर बनाये जाते रहे। इन कानूनों का

[1]Quoted in E.P. Cheyney, *Social Changes in England in the 16th Century*, p. 45. Ginn and Company, Boston, 1895.

[2]R. Crowley, *Select Works.* Introduction, p. XXII Ed. by J.M. Cowper, Early English Text Society, London. 1872.

बार-बार बनाया जाना यह सिद्ध करता है कि इन कानूनों की प्रायः अवहेलना होती रही। अन्यथा बार-बार कानून बनाने की आवश्यकता न पड़ती। यद्यपि कुछ महत्वपूर्ण दोषों का निराकरण कर दिया गया था पर यह निश्चित था कि जहां स्थानीय भूस्वामी ही स्थानीय न्यायाधीश भी थे, कानून का कठोरतापूर्वक पालन नहीं हो सकता था। यहां स्मरण रखने की बात यह है कि जब किसान क्षेत्रबन्दी के विरुद्ध उठ खड़े हुए तो कानून तोड़ने वाले वे नहीं थे अपितु भूस्वामी ही कानून तोड़ रहे थे। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इन विद्रोही किसानों के साथ कठोरतापूर्ण व्यवहार नहीं किया गया। उनका दमन किया गया। सदैव यही होता चला आया है।

इस युग के एक महत्वपूर्ण परिवर्तन पर ध्यान दीजिए। पुराना विचार कि भूमि का महत्व उस पर किये गये श्रम की मात्रा के अनुसार है, लुप्त हो चुका था। वाणिज्य और उद्योग के विकास और मूल्यों की क्रांति ने मनुष्य से रुपये को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया था और भूमि अब आय का एक स्रोत मानी जाती थी। लोग अब भूमि को भी अन्य सामान्य सम्पत्ति के समान समझने लगे थे। भूमि सट्टेबाजों के खिलवाड़ की एक वस्तु बन चुकी थी जो रुपये बनाने के अवसरों के अनुकूल भूमि को खरीदते या बेचते रहते थे।

क्षेत्रबन्दी आन्दोलन के फलस्वरूप लोगों ने बहुत कष्ट सहे पर उससे कृषि के विकास की सम्भावनाएं बढ़ गईं। और जब पूंजीवादी उद्योगों के लिए श्रमिकों की आवश्यकता पड़ी तो अंशतः श्रमिकों की पूर्ति उन्हीं सर्वहारा भूमिहीन अभागों से हुई जिनके पास आजीविका कमाने के लिए उनकी श्रम-शक्ति ही शेष रह गई थी।

10. सहायता की आवश्यकता है: दो वर्षीय भी आवेदन भेज सकते हैं

बाजार का विस्तार। यह वाक्यांश कण्ठस्थ कर लीजिए। अपने मस्तिष्क में अच्छी प्रकार अंकित कर लीजिए। पूंजीवादी उद्योगों को लाने वाली शक्तियों को समझने के लिए यह एक महत्वपूर्ण कुंजी है।

किसी छोटे और स्थिर बाजार के लिए माल उत्पन्न करना एक बात है जहां उत्पादक उन ग्राहकों के लिए वस्तुओं क़ा निर्माण करता है जो स्वयं उसके व्यवसाय के स्थान पर आकर उसे आर्डर दे जाते हैं; और एक ऐसे बाजार के लिए माल तैयार करना बिल्कुल दूसरी बात है जो नगर की सीमाओं को तोड़कर एक राष्ट्र के व्यापक विस्तार तक और उससे भी बाहर तक फैल चुका है। संघ-व्यवस्था छोटे स्थानीय बाजार के अनुकूल बनाई गई थी। जब बाजार राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बनने लगे, संघ-व्यवस्था अनुकूल न रही। स्थानीय कारीगर नगर के व्यापार को समझ सकते थे और तदनुकूल उसे संभाल सकते थे। पर विश्व-व्यापार पूर्णत: एक भिन्न विषय था। फैलते हुए बाजारों ने आढ़तियों का एक नया वर्ग उत्पन्न किया, जिनका काम था सहस्त्रों मील दूर बैठे उपभोक्ता तक श्रमिकों द्वारा तैयार किया हुआ माल पहुंचाने की व्यवस्था करना।

संघ-व्यवस्था में स्वामी शिल्पी वस्तु के निर्माता से कुछ अधिक था। उसके कर्त्तव्य और भी थे। उस एक में पांच व्यक्ति समाहित थे। वह अपने प्रयोग में आने वाले कच्चे माल की खोज करता और उसका मोल-भाव करता था, अत: वह व्यापारी था। शिशिक्षु और कर्मी उसके अधीन काम करते थे, अत: वह नियोजक थी था। क्योंकि वह उनके काम का पर्यवेक्षण करता था, अत: इसलिए वह अधिकर्मी था। वह काउण्टर पर तैयार माल की बिक्री करता

था, अतः वह दूकानदार था।[1]

फिर आढ़ती ने प्रवेश किया। अब स्वामी शिल्पी के पांच कर्त्तव्य तीन कर्तव्यों तक सीमित रह गये—कर्मी, नियोजक और अधिकर्मी। व्यापार और दुकानदारी अब उसके कार्य-व्यापार न रहे; आढ़ती उसे कच्चा माल ला देता था और तैयार माल ले जाता था। वह उसके और उपभोक्ता के बीच की कड़ी बन गया। स्वामी-शिल्पी का काम अब इतना ही रह गया कि जितनी तेजी से उसको कच्चा माल मिलता रहे, वह उतनी ही तेजी के साथ उसे तैयार माल में बदल दे।

यह प्रणाली, जिसमें आढ़ती किसी कारीगर को नियुक्त कर उससे उसके अपने घर में ही अपने माल पर काम करवाता था, "घरेलू" अथवा "विनियुक्त" व्यवस्था कहलाती थी। जहां तक उत्पादन की विधि का सम्बन्ध है, विनियुक्त व्यवस्था संघ-व्यवस्था से भिन्न नहीं थी। इसमें स्वामी-शिल्पी अपने घर में ही अपने सहायकों के साथ अपने औजारों से काम करता था। लेकिन जहां उत्पादन की प्रणाली वही थी, माल की क्रय-विक्रय व्यवस्था का आयोजन नये आधार पर हो रहा था, जिसमें आढ़ती व्यापारी का काम करता है।

यद्यपि आढ़ती ने उत्पादन की विधि को प्रभावित नहीं किया पर उसने माल के निर्माण में गति लाने के लिए उसका पुनर्गठन अवश्य किया। उसने शीघ्र ही विशेषज्ञता के लाभों को समझा। सत्रहवीं शताब्दी के एक सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री विलियम पेटी ने उसी बात को शब्दों में प्रस्तुत किया, जिसे आढ़ती कार्य रूप में ला रहे थे। "सभी काम एक ही अकुशल हाथ से किया जाए, इसकी अपेक्षा यदि एक धुनता है, दूसरा कातता है, तीसरा बुनता है, चौथा निकालता है, पांचवा वस्तु तैयार करता है ओर छठा तह बिठाता और बांधता है तो इस प्रकार सहयोग से तैयार किया हुआ कपड़ा सस्ता पड़ता है।"[2] जब आप किसी वस्तु के निर्माण के लिए अधिक लोगों को नियुक्त करते हैं, तो आप उनमें श्रम का विभाजन कर सकते हैं। प्रत्येक कर्मी को एक निश्चित काम करने के लिए दिया जाता है। वह उसी काम को बार-बार करता रहता है ओर परिणमस्वरूप वह उसमें पूर्णतः

[1]Cf.G. Unwin, *Industrial Organisation in the Sixteenth and Seventeenth Centuries*, p. 10. Clarendon Press, Oxford, 1904.

[2]W. Petty, *Economic Writings*, vol. I, p. 260. Edited by C.H. Hull, 2 vols. Cambridge University Press, 1899

निपुण हो जाता है। इससे समय की बचत होती है और निर्माण में गति आती है। फिर भी विस्तारशील बाजार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अन्य परिवर्तन आवश्यक थे। साहसी आढ़ती उसी प्रकार सोचने लगे थे।

लेकिन संघ के सदस्य अन्य प्रकार से सोचते थे। आपको स्मरण होगा कि संघ अपनी विशिष्ट वस्तुओं के निर्माण और उसकी बिक्री पर एकाधिकार के प्रश्न पर कितने ईर्ष्यालु थे। वे अपने "अधिकारों" के प्रति इतने सतर्क थे कि ग्लासगो यान्त्रिकी निगम के बारे में कहा जाता है कि इसने जेम्स वॉट को अपने भाप के इंजन के नमूने पर काम करने से रोकने का प्रयत्न किया था क्योंकि वह निगम सदस्य नहीं था। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि जब आढ़तियों ने काम करने के पुराने ढंग बदलने का साहस किया तो इन संघों के सदस्यों ने काफी उत्क्रोश प्रकट किया जो दीर्घकाल से यह विश्वास करने के अभ्यस्त हो चुके थे कि विभिन्न वस्तुओं के निर्माण पर उनका पूर्णतः स्वत्वाधिकार है। संघों पर परम्पराओं का आधिपत्य था। पुराने ढंग, पुराने बाजार, पुराने एकाधिकार, सदा की भांति चला आ रहा व्यापार—यही अधिकांश संघों के सदस्यों के अनुकूल पड़ता था परन्तु यह जाग्रत, साहसी आढ़तियों के हितों के अनुकूल न था। मांग की वृद्धि के इस युग में परम्पराओं के लिए उसके पास कोई समय न था। वह पुराने ढंगों को बदल देना चाहता था, नये बाजारों को विकसित करना चाहता था और संघों के पुराने एकाधिकारों के विरुद्ध संघर्ष करना चाहता था। अपने असंख्य नियमों और विधानों के साथ संघों की व्यवस्था पुरानी और असामयिक पड़ चुकी थी और उद्योगों की और अधिक उन्नति के लिए बाधक बन कर खड़ी थी। उसका ध्वंस आवश्यक था और उसे समाप्त कर दिया गया।

यह सब एकाएक नहीं हुआ और बहुत प्रकट रूप में भी नहीं हुआ। (फ्रांस में संघ वैधानिक रूप से क्रांति के पूर्व तक समाप्त नहीं किये गये थे। इंग्लैंड में संघों ने अपना अन्तिम स्वत्वाधिकार कहीं 19वीं शताब्दी के आरम्भ में जाकर खोया था।) आढ़ती समुदाय प्रायः संघ के ढांचे के भीतर रहकर ही प्रकट में इसके स्वरूप को स्वीकार कर, वस्तुतः इसकी अवहेलना करते हुए अपना काम कर रहा था। कभी-कभी किसी संघ के धनी स्वामी अपने ही संघ के अन्य स्वामियों के नियोजक बन जाते थे। कभी-कभी किसी उद्योग में एक संघ धीरे-धीरे व्यापार-कार्य अपने हाथ में ले लेता था और उत्पादन-कार्य के

लिए उसी उद्योग के अन्य संघों को "विनियुक्त" कर देता था। स्वामियों के बीच समानता अतीत की वस्तु बन चुकी थी, जो कभी संघ-व्यवस्था का मूल आधार थी।

आवश्यक होता तो अपने उद्योगों को संघ के अधिकार-क्षेत्र से बाहर नगर से दूर किसी ग्रामीण क्षेत्र में ले जाकर, जहां मजदूरी, शिशिक्षुओं की संख्या आदि के संघ के प्रतिबन्धों की चिन्ता किये बिना किसी भी ढंग से काम किया जा सकता हो, जो उनके अनुकूल पड़े, आढ़ती वर्ग संघ के बाधक नियम और विधानों को समाप्त कर देता था। इस प्रकार, इंग्लैंड में, ग्रीनिच के लोहा-व्यापारी एंम्ब्रोज क्रौली ने डरहैम आकर विशाल पैमाने पर विनियुक्त प्रणाली के आधार पर लोहे के सामान के उत्पादन की व्यवस्था की। "जो पहले एक छोटा-सा गांव था, क्रौली ने वहां एक 1,500 की जनसंख्या वाला समुद्र नगर बसा डाला और कीलों, तालों, पेंच, छैनी, फावड़ा तथा फौलाद के अन्य औजारों के निर्माण के संगठन में जुट गया। मकान क्रौली के थे। माल और औजार कारीगरों को क्रौली द्वारा दिये जाते थे। इसके लिए कारीगरों से पहले 'उचित रकम का एक प्रतिज्ञापत्र' जमा करवा लिया जाता था। यह जमानत कारीगर को अपना कारखाना खोलकर स्वामी-शिल्पी बनने, अपने परिवार के साथ श्रम करने और एक या दो कर्मियों और एक शिशिक्षु को बदले में नियुक्त करने का अधिकार देती थी। काम का केन्द्र स्वामी-शिल्पी की अपनी दुकान थी और जितना काम वह करता था, उसी के अनुसार उसे उसके श्रम का भुगतान किया जाता था.... 1706 में ऐम्ब्रोज क्रौली को नाइट की उपाधि प्राप्त हुई और बाद में वे ऐण्डोवर क्षेत्र से संसद के सदस्य भी बने। उस समय उनकी सम्पति 200,000 पौण्ड थी।"[1]

स्वाभाविक ही था कि संघों के सदस्य उद्योग के संगठन में इस परिवर्तन का विरोध करते। उन्होंने अपने पुराने एकाधिकारों को बनाये रखने के लिए संघर्ष किया पर संघों के बहार के दिन बीत चुके थे। वे एक हारी हुई बाजी को जीतने में संघर्षरत थे। बाजार के विस्तार ने उनकी व्यवस्था को पुरातन बना दिया था और अब वे वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग के साथ कदम मिलाने में असमर्थ सिद्ध

[1]M. Dobb, *Capitalist Enterprise and Social Progress,* p. 310. Routledge & Sons, London, 1925.

हो रहे थे। "4 फरवरी, 1646 की एक शिकायत में ग्रामीण क्षेत्र में रिब्बन-निर्माण के विकास पर आपत्ति प्रकट की गई है.... 'विनियोजकों' ने इस पर उत्तर दिया कि 1612 से परिस्थितियां पूर्णतः बदल चुकी हैं। व्यापार बहुत बढ़ गया है।... संघ-सदस्यों की संख्या एक भी 'आढ़ती' को उसकी वर्ष भर की आवश्यकता के लिए पर्याप्त माल के सम्भरण के लिए कम थी।"[1]

वस्त्रों के विक्रय में लगे हुए आढ़ती उत्पादन को बढ़ाने में विशेष रूप से उत्सुक थे क्योंकि दीर्घकाल से वस्त्र पूर्व के लिए योरोप का मुख्य निर्यात था। बढ़ती हुई मांग की पूर्ति के लिए अधिक से अधिक कामगरों की आवश्यकता थी। अतः आढ़ती केवल नगर के उन संघ-सदस्यों के लिए ही कच्चा माल नहीं लाते थे जो उनके लिए काम करने को तत्पर थे अपितु उन्होंने गांवों में पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को भी काम पर लगाया।

जो किसान घेरेबन्दी के कारण संकट में पड़े हुए थे, ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योग के इस विस्तार में उन्हें अपनी घटती हुई आय में कुछ शिलिंग की वृद्धि का अवसर मिला। अनेक किसान जिन्हें अन्यथा गांव छोड़ना पड़ता, अब अपने आपको बनाये रखने में समर्थ होने लगे क्योंकि उन्हें व्यापारियों से काम मिलने लगा था। ***राबिन्सन क्रूसो*** के सुप्रसिद्ध लेखक डैनियल डीफो ने 1724 में ***ग्रेट ब्रिटेन की यात्रा*** नामक एक अन्य प्रसिद्ध पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने आढ़तियों द्वारा काम पर लगाये गये कुछ ग्रामीणों का वर्णन किया है। "छोटी-छोटी असंख्य कुटियों और झोपड़ियों में उन कर्मियों के घर हैं जो उत्पादन के लिए नियुक्त किये गये हैं। उनमें स्त्रियां भी हैं और बच्चे भी। वे सदैव बुनने, कातने आदि कामें में व्यस्त रहते थे। यहां तक कि कोई भी हाथ खाली नहीं था। छोटे-से-बच्चे से बड़े-बूढ़े तक, चार वर्ष की आयु से बड़े सभी अपनी रोटी-रोजी स्वयं कमाते थे। यही कारण है कि हमने बहुत कम लोगों को बेघर देखा। हमने जिस स्वामी निर्माता का भी द्वार खटखटकाया, वह घर हमें फुर्तीले और काम में लगे हुए लोगों से भरा दिखाई दिया। कोई रंगने में, कोई कपड़ों की तह बिठाने में, कोई करघे पर... सभी काम में जुटे हुए हैं और निर्माण

[1]E. Thurkauf, *Verlag und Heimarbeit in der Basler Seidenbandustrie*, pp. 12-13. Kohlhammer, Stuttgart. 1909.

में पूर्णत: व्यस्त है। सभी के पास पर्याप्त काम है...।''[1]

जिस प्रकार लोहे के सामान का निर्माता क्रौली विस्तारशील बाजार के लिये माल के सम्भरण का सफल प्रबन्ध करके धनी बन गया, उसी प्रकार वस्त्र-व्यापार के आढ़ती भी धनी हो गये। डीफो अपने पाठकों से कहता है:

''ब्रैडफोर्ड में उन्होंने मुझे बताया कि इस प्रदेश में वस्त्र-व्यापारी के लिए दस सहस्त्र से चालीस सहस्त्र तक प्रति व्यक्ति असाधारण बात नहीं थी। और अनेक परिवार... मूलत: उसी उद्योग से ही उठे और बने हैं...। ***न्यूबेरी*** के एक बहुत बड़े वस्त्रव्यापारी ***जैक*** के बारे में कहा जाता है कि जब राजा जेम्स ने वस्त्रों से लदी हुई उसकी गाड़ियां लन्दन जाते हुए देखीं और पूछने पर उसे ज्ञात हुआ कि यह माल ***न्यूबेरी*** के ***जैक*** का है तो राजा ने कहा कि अगर यह सत्य है तो ***न्यूबेरी*** का ***जैक*** उससे भी अधिक धनी व्यक्ति है।''[2]

न्यूबेरी का यह प्रसिद्ध जैक एक महत्वपूर्ण व्यक्ति था क्योंकि वह अन्य अधिकांश आढ़तियों की भांति कारीगरों को कच्चा माल देकर उनसे उनके अपने घरों में ही काम नहीं करवाता था अपितु उसने स्वयं अपना एक विशाल भवन खड़ा करके उसमें दो सौ से अधिक करघे लगवाये जिन पर लगभग छ: सौ पुरुष, स्त्रियां और बच्चे काम करते थे। वह 16वीं शताब्दी का पूर्वार्ध था। यह तीन शताब्दियों के बाद आने वाली फैक्टरी-व्यवस्था का पूर्व-रूप था।

कारीगरों को उनके घरों में साफ करने, कातने और बुनने के लिए कच्चा माल लाकर देने वाले न्यूबेरी और आढ़ती पूंजीपति थे। वे वस्त्र तैयार करवाते, व्यापार करते और उससे लाभ कमाते थे। उनके नीचे काम करने वाले स्वामी शिल्पी और कर्मी केवल मजदूरी कमाने वाले थे। वे अपने घरों में काम करते थे, अपने समय की स्वयं व्यवस्था करते थे, उनके अपने औजार थे (यद्यपि सदैव नहीं) पर वे अब स्वतन्त्र नहीं थे। कच्चा माल उनका नहीं था; वह उन्हें आढ़तियों द्वारा दिया जाता था। (इसके भी कुछ अपवाद थे) वे अब केवल वस्तुओं के अंश निर्माण करने वाले थे, उपभोक्ता के साथ प्रत्यक्ष व्यापार करने वाले नहीं। उनका व्यापार-कार्य पूंजीपति नियोजकों द्वारा छीन लिया गया था और

[1]Daniel Defoe, *A Tour Thro' the Whole Island of Great Britain* (1724-1726), 2 vols. vol. II, p. 602, Peter Davies, London, 1927.
[2]Defoe, *op. cit.*, vol. 1, pp. 282, 290.

सत्य के रूप में स्वीकार कर लेना भ्रामक होगा। कुछ सीमाओं के साथ यह सहायक होगा। इसे इसी रूप में ले लेने में यह आपको पथ-भ्रान्त कर सकता है।

उदाहरणार्थ, यह विश्वास कर लेना भूल होगी कि प्रत्येक उद्योग को इन चारों क्रमिक विकास अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा। यह केवल कुछ उद्योगों में ही सत्य था। किसी प्रकार भी सभी उद्योगों के लिए नहीं। नये उद्योग विकसित हुए, जिनका आरम्भ तीसरी अवस्था में हुआ। अन्य उद्योग अनेक अवस्थाओं से छलांग लगा गये।

प्रत्येक अवस्था का काल-निर्देश भी उस युग के समीप जाने का प्रयत्न-मात्र है। सदैव ही ऐसा होता रहा कि जब एक अवस्था पूर्णत: प्रचलित थी, उसके ह्रास के चिन्ह भी साथ विद्यमान रहे ओर आगामी अवस्था के बीज भी उसी में पनपते रहे। 13वीं शताब्दी में जब संघ अपने चरमोत्कर्ष पर थे, उत्तरी इटली में विनियुक्त-व्यवस्था के उदाहरण मिलने लगे थे। इसी प्रकार फैक्टरी-व्यवस्था के उदाहरण प्राय: उसी रूप में जैसे कि आज हम समझते हैं, उस युग में भी वर्तमान थे जिसे उपर्युक्त रूपरेखा के अनुसार विनियुक्त-व्यवस्था के अन्तर्गत माना गया है। याद करें, 16वीं शताब्दी में ***न्यूबेरी*** के ***जैक*** को।

इसका दूसरा पक्ष भी सत्य है। किसी अवस्था के व्यापक प्रचलन का अर्थ पूर्व-अवस्था का पूर्ण उन्मूलन नहीं। हमारी रूपरेखा के अनुसार जब विनियुक्त व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी, उस समय भी संघ-व्यवस्था काफी समय तक विद्यमान रही। "घरेलू काम" अथवा विनियुक्त-प्रणाली पर निम्न उद्धरण इसका सम्भवत: सबसे पुष्ट प्रमाण है कि एक अवस्था दीर्घकाल तक दूसरी अवस्था में विद्यमान रहती है। "निर्मित धातु-उद्योग में घरेलू कामों का एक सर्वेक्षण। ...उत्पादन में, हुक और आंख, बकसुए, पिन, धातुओं के बटन आदि हैं। टैग में डोरी या तार बांधने का काम भी कुछ घरेलू कर्मियों द्वारा किया जाता है...।

प्रति घण्टा औसत मजदूरी के आधार पर घरेलू मजदूरों का वर्गीकरण

मजदूरी	परिवारों की संख्या
1. सेंट और 2 सेंट से कम	5
2 सेंट और 3 सेंट से कम	9

3 सेंट और	4 सेंट से कम	15
4 सेंट और	5 सेंट से कम	9
5 सेंट और	6 सेंट से कम	14
6 सेंट और	7 सेंट से कम	8
7 सेंट और	8 सेंट से कम	5
8 सेंट और	9 सेंट से कम	15
9 सेंट और	10 सेंट से कम	14
10 सेंट और	11 सेंट से कम	13
11 सेंट और	12 सेंट से कम	5
12 सेंट और	13 सेंट से कम	2
13 सेंट और	14 सेंट से कम	5
14 सेंट और	15 सेंट से कम	3
15 सेंट और उससे अधिक		7
	कुल	129

इस प्रकार एक औसत परिवार सप्ताह में पैंतीस मनुष्य-घण्टे काम करके 1.75 डालर कमाता है....।

खचाखच भरे हुए अस्वास्थ्यकर टूटे-फूटे मकान, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, तथा मात्रा और गुण दोनों से अपर्याप्त भोजन की प्राय: रहने वाली शिकायत उन घरों की विशेषताएं थीं जिनका सर्वेक्षण किया गया..।

जिन 129 परिवारों का अध्ययन किया गया, उनमें से 96 परिवारों में 16 वर्ष से कम आयु के बालक भी काम करते थे।...उनमें से आधे बारह वर्ष से भी कम आयु के थे। चौंतीस बच्चे आठ वर्ष या उससे कम और बारह बच्चे पांच वर्ष से भी कम आयु के थे।

आयु के अनुसार काम पर लगे हुए बच्चों का वर्गीकरण:

आयु	काम पर लगे हुए बच्चों की संख्या
2 से 3 वर्ष	2
3 से 4 वर्ष	2
4 से 5 वर्ष	8

5 से 6 वर्ष	2
6 से 7 वर्ष	7
7 से 8 वर्ष	13
8 से 9 वर्ष	15
9 से 10 वर्ष	19
10 से 11 वर्ष	23
11 से 12 वर्ष	21
12 से 13 वर्ष	40
13 से 14 वर्ष	26
14 से 15 वर्ष	29
15 से 16 वर्ष	35
अज्ञात	4
कुल	246"[1]

कितना दहलाने वाला है यह विवरण, है न? जरा सोचिए, दो और तीन वर्ष के बच्चों को काम पर लगा हुआ! क्या यह सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी की विनियुक्त-प्रणाली का विवरण है? बिल्कुल नहीं। इस उद्धरण में वर्णित अवस्था का समय और स्थान क्या है?

समय: अगस्त, 1934

स्थान: कनेक्टिकट, संयुक्त राज्य अमेरिका।

[1] *Report on Homework in the Fabricated Metal Industry in Connecticut.* State Department of Labor, Minimum Wage Division. Hartford, Conn. September, 1934.

11. "स्वर्ण, गौरव और महत्ता"

देश की समृद्धि क्या है? क्या आपके पास कुछ सुझाव हैं? केवल विनोद के लिये, आप अपने विचारों की एक सूची बना लीजिए और फिर उसकी सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के व्यापार-कुशल लोगों के विचारों से तुलना कीजिए। वे लोग इस विषय में अत्यन्त रुचि रखते थे क्योंकि राष्ट्रीय राज्य में, नगर के स्थान पर सम्पूर्ण देश की कल्पना के साथ उनके सम्मुख नयी समस्याएं उठ रही थीं। अब उन्हें यह नहीं सोचना था कि साउथऐम्पटन अथवा लायन्स नगर के लिए क्या सर्वश्रेष्ठ था। अपितु उनका प्रश्न यह था कि उनके देश इंग्लैण्ड अथवा फ्रांस अथवा हालैण्ड के लिये सर्वोत्तम क्या था। वे उन सिद्धान्तों का राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थानान्तरण करना चाहते थे, जिनसे अब तक नगर समृद्ध और महत्वपूर्ण बने हुए थे। राजनीतिक दृष्टि से राज्य की स्थापना के पश्चात् वे अब आर्थिक दृष्टि से भी सम्पूर्ण देश को एक करना चाहते थे। जो कुछ उन्होंने लिखा अथवा जिन कानूनों का उन्होंने समर्थन किया, वे सब सम्पूर्ण देश के लिये थे। सरकारों ने वे कानून पारित किये, जिनके बारे में वे समझती थीं कि ये सम्पूर्ण देश को धन और शक्ति प्रदान करेंगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने दैनिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर दृष्टि रखी और अपनी प्रजा की समस्त गतिविधि को जानबूझ कर उसी दृष्टि से परिवर्तित किया और ढाला। इस युग के पारित कानून और व्यक्त सिद्धान्तों का इतिहासज्ञों द्वारा स्पष्टतः "वाणिज्य-व्यवस्था" के नाम से वर्गीकरण किया गया है। लेकिन वस्तुतः यह कोई व्यवस्था नहीं थी अपितु राज्य द्वारा धन और शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न में समय-समय पर प्रयुक्त असंख्य प्रचलित आर्थिक सिद्धान्त थे। राजनीतिज्ञों की रुचि इस समस्या में इसलिये नहीं थी कि वे बैठकर इस या उस वस्तु के विषय में विचार करना पसन्द करते थे, अपितु इसलिये क्योंकि उनकी सरकारें इनके विरुद्ध सजग थीं और उन सरकारों को सदैव रुपयों की आवश्यकता रहती थी।

अतः देश को समृद्ध किस प्रकार बनाया जा सकता है यह केवल एक निष्क्रिय प्रश्न नहीं अपितु एक वास्तविकता थी और इसका उत्तर प्राप्त करना उनके लिये आवश्यक था।

सोलहवीं शताब्दी में सम्भवतः स्पेन संसार का सबसे धनी और शक्तिशाली देश था। जब अन्य देशों के व्यापार-कुशल लोगों ने अपने आपसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने सोचा कि इसका उत्तर उन खजानों में है जो स्पेन के उपनिवेशों से स्पेन में प्रवाहित हो रहे थे। सोना और चांदी। देश में जितना अधिक सोना-चांदी होगा, वह देश उतना ही धनी होगा। राष्ट्रों के लिये भी यह इतना ही सत्य प्रतीत होने लगा जितना कि व्यक्तियों के लिये। उद्योग और व्यापार के चक्र किसकी शक्ति से तीव्र से तीव्र गति के साथ घूम सकते थे? सोने और चांदी से। कोई सम्राट किस प्रकार सेना संचित कर देश के शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध लड़ सकता था, सोने और चांदी के बल पर। जहाजों के निर्माण के लिये आवश्यक मोटी लकड़ी कैसे खरीदी जा सकती है? भूखे पेटों के लिये अनाज किससे खरीदा जा सकता है? तन ढकने के लिये ऊनी कपड़े किससे खरीदे जा सकते हैं? सोने और चांदी से। शत्रु-देश को जीतने के लिये कोई देश कैसे सबल बन सकता है? "युद्ध के साधन" क्या थे? सोना और चांदी। अतः सोने और चांदी का खजाना, देश में स्वर्ण की मात्रा ही किसी देश की शक्ति और समृद्धि की माप थी।

इस युग के अधिकांश लेखकों में यही विचार गूंज रहे थे कि धनी व्यक्ति की भांति ही धनी देश के पास भी रुपयों का विशाल भण्डार होना आवश्यक है और देश में सोने-चांदी का संचय देश को धनी बनाने का सबसे सुगम मार्ग है।"[1]

1757 में जोसेफ हैरिस ने "*ऐन एस्से अपान मनी ऐण्ड कौइन्स*" शीर्षक निबन्ध में लिखा: "अनेक कारणों से सोना और चांदी अपसंचय के लिये सबसे उपयुक्त धातुएं हैं। ये टिकाऊ, बिना हानि के रूपान्तरणीय और अपनी राशि की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हैं और संसार में मुद्रा के रूप में स्वीकार्य होने

---

[1]Adam Smith, *Inquiry into the nature and Causes of the Wealth of Nations* (1776), vol. I, p. 396. Edited with an Introduction by E. Cannan. 2 vols. Mathuen & Co., London, 1930.

के कारण सभी वस्तुओं के विनिमय का साधन हैं तथा निश्चित और तत्पर रूप से सभी कार्य साधने वाली हैं।"[1]

यदि सरकारें इस सिद्धान्त पर विश्वास करें कि जितना अधिक सोना-चांदी किसी देश में होगा, वह देश उतना ही धनी होगा तो उन सरकारों का अगला कदम क्या होगा, यह स्पष्ट ही है। ऐसे कानून बनेंगे, जिससे लोग इन धातुओं को देश से बाहर न ले जा सकें। एक-एक करके सभी सरकारों ने ऐसे कदम उठाये और "सोने-चांदी के निर्यात के विरुद्ध कानून" सभी देशों में सामान्य हो गये। इंग्लैण्ड के एक कानून के अनुसार, "यह आदेश लागू किया गया है कि कोई भी व्यक्ति राजा के अनुमति-पत्र के बिना इस राज्य अथवा वेल्स की सीमा से किसी प्रकार की इस राज्य की अथवा अन्य राज्य की मुद्रा, शुद्ध सोना-चांदी अथवा सोने-चांदी के अलंकृत या अनलंकृत आभूषण बाहर नहीं ले जा सकेगा।"[2]

फगरों के प्रतिनिधियों द्वारा उनके केन्द्रीय कार्यालयों को भेजी गई समाचारों की सूचनाओं की तुलना आज की सहकारी समाचार समितियों से की जा सकती है। प्रत्येक महत्वपूर्ण स्थान पर उनके सम्वाददाता रहते थे जो किसी भी बड़ी घटना की जानकारी प्राप्त होते ही उसका विवरण भेज देते थे। यहां कुछ ऐसे ही समाचारों के "संक्षिप्त" रूप हैं:

"वेनिस, 13 दिसम्बर, 1596। स्पेन के राजा ने कठोर आदेश लागू किया है कि सोने या चांदी का राज्य से किसी प्रकार का निर्यात नहीं होगा और न ही व्यापार के उद्देश्य से उसका प्रयोग किया जाएगा।"

"रोम, 29 जनवरी, 1600। पोप के गृह प्रबन्धक ने समस्त स्थानीय और विदेशी रजत मुद्राओं का पुनर्मूल्यांकन किया है और आदेश किया है कि भविष्य में कोई भी यहां से 5 क्राउन से अधिक नहीं ले जाएगा।"[3]

इस प्रकार के कदम देश के भीतर विद्यमान सोने-चांदी के भण्डार को देश में ही रखने में सफल हो सकते हैं और वे देश जिनकी अपनी सीमाओं के भीतर

[1]Quoted by J. Viner in "English Theories of Foreign Trade Before Adam Smith" in *The Journal of Political Economy,* vol. 38, June, 1930 No. 3, p. 277. University of Chicago Press.

[2]*Tudor Economic Documents, op. cit.,* vol. II pp. 177, 178.

[3]*The Fugger News Letters, op. cit.,* 1st series, nos. 176, 209.

खानें थीं अथवा स्पेन जैसे देश जिनके पास सौभाग्यवश ऐसे उपनिवेश थे, जिनकी खानें सोने-चांदी से भरपूर थीं, निरन्तर अपने धातु-भण्डार की वृद्धि कर सकते थे। पर उन देशों के लिये कौन सा मार्ग था, जिनके पास न खानें थीं और न ऐसे उपनिवेश? और जिस प्रकार व्यापारवादी समझ रहे थे कि रुपया ही समृद्धि है, तो वे देश किस प्रकार समृद्ध हो सकते थे?

इन देशों के लिये व्यापारवादियों ने एक सुन्दर सुझाव प्रस्तुत किया। "व्यापार का अनुकूल सन्तुलन" उनका समाधान था। व्यापार के अनुकूल सन्तुलन का अर्थ क्या था?

1549 में लिखे गये ***इंग्लैण्ड को एक समृद्धिशाली राज्य में परिवर्तित करने के मार्ग*** नामक ग्रन्थ में हमें इसका उत्तर मिलता है:

"अन्य राज्यों का शुद्ध सोना राज-टकसाल में खींच लाने का एकमात्र मार्ग यह है कि हम अपना बहुत-सा माल प्रतिवर्ष समुद्र पार भेजें और उनका कम से कम माल अपने देश में आने दें। श्रीमन्! मैं, आपको विश्वास दिलाता हूं कि अगर ऐसे उपाय ग्रहण किये जायें तो यह असम्भव अथवा असंगत नहीं होगा कि हम 11 लाख पौण्ड वार्षिक का माल बाहर भेजें और फिर जो माल हम बाहर से लाएं, वह 6 लाख पौण्ड का हो। क्या यह आवश्यक नहीं कि शेष 5 लाख के मूल्य में हम या तो शुद्ध सोना प्राप्त करें अथवा अंग्रेजी मुद्रा?"[1]

व्यापारवादियों का तर्क था कि देश विदेशी व्यापार द्वारा अपने शुद्ध सोने के भण्डार में वृद्धि कर सकते थे। उन्हें सदैव सतर्क रहना होगा कि वे दूसरे देशों से जितना खरीदें, उसकी अपेक्षा उनकी बिक्री अधिक हो। आयात पर निर्यात के मूल्य के अन्तर के बदले उन्हें सोना प्राप्त हो सकेगा।

अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार-पत्र में एक अनुच्छेद था, जो उसे शुद्ध सोने के निर्यात का अधिकार प्रदान करता था। 17वीं शताब्दी में जब अनेक पुस्तिका-लेखकों ने इस कम्पनी पर इंग्लैण्ड का धन बाहर ले जाने के आरोप लगाये, तो कम्पनी के एक संचालक थौमस मुन ने ***"विदेशी व्यापार द्वारा इंग्लैण्ड का कोष-भरण"*** शीर्षक पुस्तक में इन आरोपों का प्रतिवाद किया। पुस्तक का शीर्षक ही उसके प्रतिवाद के स्वरूप का संकेत देता है। मुन का तर्क था कि यद्यपि यह सत्य है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी पूर्व के माल को

[1] *Tudor Economic Documents, op. cit.*, p. 321.

खरीदने के लिये देश का सोना-चांदी वहां भेजती है, पर उस माल का पुनः इंग्लैण्ड से अन्य देशों को निर्यात होता है अथवा इंग्लैण्ड में उस माल पर काम होता है और फिर उसे नये रूप में पुनः विक्रय के लिये अन्य देशों को भेज दिया जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में वह माल इंग्लैण्ड में अधिक धन खींच कर लाता है, और इस प्रकार मूल्यवान धातुओं का पूर्व-निर्यात उचित सिद्ध होता है। मुन का तर्क था कि वस्तुतः किसी राज्य की सम्पदा की वृद्धि का महत्वपूर्ण मार्ग यही है कि वह विदेशों से क्रय की अपेक्षा विक्रय अधिक करके व्यापार का अनुकूल सन्तुलन बनाये रखे। "अतः हमारे धन और कोष की वृद्धि का सामान्य उपाय यह है कि ***विदेश व्यापार*** में हम सदैव इस नियम का पालन करें कि हम विदेशों के जितने मूल्य के माल का उपयोग करें, उसकी अपेक्षा हम उन्हें अधिक बेच सकें, ... क्योंकि बेचे हुए माल का वह अंश, जिसके बदले में हमने माल नहीं खरीदा है, बदले में धन लाता है...। हम रुपये को अपने राज्य में खींचने के कितने भी प्रयत्न क्यों न करें पर केवल वही रुपया हमारे पास रहेगा, जो हम अपने व्यापार के शेष में पा सकेंगे।"[1]

अतः कौशल इसमें था कि हम मूल्यवान वस्तुओं का निर्यात करें और केवल उन्हीं वस्तुओं का आयात करें जो हमारे लिये नितान्त आवश्यक हों। शेष नकद धन के रूप में प्राप्त करें। इसका अर्थ यह था कि उद्योगों को हर सम्भव उपाय से प्रोत्साहित किया जाता। क्योंकि औद्योगिक उत्पादन का कृषि-उत्पादन की अपेक्षा अधिक मूल्य था और विदेशी बाजार में उसका अधिक दाम प्राप्त हो सकता था। साथ ही, यह भी महत्वपूर्ण था कि हमारे देश में अपने उद्योग हों, अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन हम स्वयं करें, जिससे कि हम विदेशों से कम से कम खरीदें। व्यापार के अनुकूल सन्तुलन की उपलब्धि के लिये और अपने देश को अन्य देशों से स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में यह एक प्रयत्न था।

अतः, एक के बाद एक हर देश ने इस समस्या पर ध्यान देना आरम्भ किया कि किस प्रकार अपने पुराने उद्योगों को समृद्ध किया जाए तथा नये उद्योग आरम्भ किये जायें। मैक्जिमिलियन के बवेरिया में 1616 में इस प्रश्न पर विचार

---

[1]T. Mun, *England's Treasure by Foreign Trade* (1664), pp. 7-8, 52. The Macmillan Company, N.Y., 1895.

करने के लिये एक विशेष विशेषज्ञ-समिति नियुक्त की गई थी: "निर्णय किया गया है कि विशेष लोग नियुक्त किये जायें जो प्रत्येक सप्ताह निश्चित दिन पर परस्पर मिलकर उत्साहपूर्वक विचार-विनिमय करेंगे कि किन उपायों द्वारा देश में व्यापार और उद्योगों की वृद्धि हो सकती है और उन्हें किस प्रकार अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।"[1]

वे कौन से उपाय थे, जो उद्योगों के निर्माण के लिये इन विशेषज्ञों और दूसरे देशों के उन जैसे अन्य लोगों ने सुझाये थे? उन्होंने अनेक उपाय खोजे।

उदाहरणार्थ, निर्यात के लिये तैयार किये गये माल पर सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता थी। अगर आप चाकुओं के निर्माता हैं और आपको प्रति दर्जन चाकुओं के निर्यात पर सरकार से एक निश्चित रकम की प्राप्ति होती है तो आप सम्भवत: अधिक से अधिक चाकुओं का निर्माण करने का प्रयत्न करेंगे। और सम्भवत: इसी प्रकार हैट, ऊनी वस्त्र, लिनन, गोला-बारूद आदि वस्तुओं के निर्माता भी उत्पादन की वृद्धि का प्रयत्न करेंगे। उत्पादन पर सरकारी सहायता उद्योग को अनुप्राणित करने के उद्देश्य से दी जाती थी।

इसी प्रकार संरक्षित तट कर था। हम लोग किसी अन्य इतिहास की अपेक्षा अमेरिका के इतिहास से अधिक परिचित हैं, अत: हम प्राय: यह विश्वास करने की भूल कर सकते हैं कि आयात किये हुए माल पर संरक्षित तट कर का विचार अलेक्जैण्डर हैमिल्टन का दिया हुआ है। यह सही नहीं है। "शिशु" उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिये संरक्षित तट कर उतना ही पुराना उपाय है, जितने कि स्वयं व्यापारी और सम्भवत:, उससे भी पुराना। एक शिशु-उद्योग की सहायता के लिये निम्न उद्धरण इंग्लैण्ड में हैमिल्टन के जन्म से पूर्व का है: "श्रीमान्, मैं समझता हूं, मैंने अब यह स्पष्ट कर दिया है कि लिनन-निर्माण... इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड में अभी अपनी शैशवावस्था में ही है और इसलिये हमारे व्यापारियों के लिये इतना सस्ता बेचना असम्भव होगा। ... वे लोग इस उद्योग को बहुत पहले ही स्थापित कर चुके थे और इस कारण जब तक हम किसी प्रकार का सार्वजनिक प्रोत्साहन नहीं देंगे, हम इस निर्माण में किसी बड़ी अथवा शीघ्र प्रगति

[1]T. Mermemt, *Die offentliche Forderung der gewerblichen Produktionsmethoden zur Zeit des Merkantilismus in Bayern*, p. 28. Noske, Leipzig, 1930.

की आशा नहीं कर सकते।"[1]

यह निर्माता जिस सार्वजनिक प्रोत्साहन को चाहता था वह विदेशी प्रतिद्वन्द्विता के विरुद्ध संरक्षण के रूप में आयात किए हुए निर्मित माल पर भारी कर लगाकर प्रकट हुआ। कुछ अवस्थाओं में सरकारों ने कुछ वस्तुओं का किसी भी परिस्थिति में आयात बिल्कुल बन्द ही कर दिया।

केवल आर्थिक सहायता और भारी तटकर के द्वारा ही उद्योगों का पोषण नहीं किया जा सकता था। अपितु उन कुशल विदेशी कारीगरों को देश में संस्थापित होने के लिये हर प्रकार का प्रोत्साहन देना भी आवश्यक था, जो नये व्यापार अथवा नये साधन निकाल सकते थे। विदेशी कारीगरों को प्रलोभनीय सुविधाओं द्वारा आकर्षित किया गया जिनमें कर की छूट, निःशुल्क आवास, उनके उत्पादन पर कुछ वर्षों के लिये उनका एकाधिकार अथवा आवश्यक साज-सामान की स्थापना के लिये ऋण आदि थे। यदि वे स्वेच्छा से आने के लिये नहीं फुसलाये जा सकते थे तो कभी-कभी सरकारें उनका अपहरण करने का मार्ग भी अपना लेती थीं। कोलबर्ट ने फ्रांस के अनेक मंत्रीमण्डलीय पदों पर काम किया और इस रूप में वह अपने समय का मुसोलिनी था। वह इस बात के लिये विशेष उत्सुक था कि विदेशी कारीगर फ्रांस में आकर रहें और काम करें। उसने अन्य देशों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये जिनका मुख्य काम ही था हर सम्भव उपाय से श्रमिकों की भरती करना। 28 जून, 1669 को ड्रेसडन में फ्रांसीसी मंत्री एम. चासां को उसने लिखा, "कृपया (भरती करने वाले एजेण्ट को) उसके कार्यभार को सफल बनाने के लिये हर सम्भव सहायता देते रहें और विश्वास रखें कि जिन लोहा-मजदूरों को वह फ्रांस में ला चुका है, उनके साथ अच्छे व्यवहार से वह हमारे निर्माण कार्यों के लिये और मजदूर भरती कर सकने के योग्य बनेगा।"[2]

जिस प्रकार देशी कारीगरों को दूसरे देशों में जाने और व्यापार के रहस्यों को देने या बेचने के विरुद्ध सतर्कता बरती जाती थी, उसी प्रकार ये मजदूर अपने देश वापिस न लौट सकें, इसके लिये कड़ी सावधानी रखी जाती थी। पर इसके विपरीत ही, उस युग की एक विशेष प्रवृत्ति थी धार्मिक कारणों से ऐसे लोगों

[1] Quoted by J. Viner, *op. cit.*, August 1930, p. 417.
[2] P.Boissonnade, *Colbert*, p. 292. Riviere, Paris, 1932.

की पूरी जाति का निष्कासन, जो परिश्रमी, योग्य और प्रशिक्षित थे। एक ओर फ्रांस प्रशिक्षित कारीगरों को फ्रांस में लाने की हर सम्भव कोशिश कर रहा था, दूसरी ओर सत्रहवीं शताब्दी के प्रौटेस्टेण्ट ईसाइयों के निष्कासन द्वारा यह देश अपने अनेक श्रेष्ठ कारीगरों को बलपूर्वक निकाल रहा था।

सरकारें, वस्तुत: विदेशी कारीगरों के कल्याण के लिये उत्सुक थीं। इसका एक रोचक प्रमाण रानी एलिजाबेथ के पत्र से मिलता है जो उसने 1566 में कम्बरलैण्ड और वेस्टमूरलैण्ड के न्यायाधीशों के नाम लिखा था। उस युग में जबकि साधारण अपराधों के लिये भी जलते हुए लोहे से दागी कर देना, कान, हाथ-पांव आदि काट देना और शूली पर लटका देना सामान्य-से दण्ड थे; उस युग में जबकि जीवन सस्ता था, रानी एक अकेले जर्मन की हत्या पर कितनी व्यग्र हो उठी थी, यह इस पत्र में देखा जा सकता है: "अपने कठोर परिश्रम, कौशल और धन से कुछ अलमाइन हमारी इंग्लैण्ड की महान राजमुद्रा से अंकित अधिकार-पत्र द्वारा विशिष्ट सुविधाएं प्राप्त कर काफी समय से हमारे वेस्टमूरलैण्ड और कम्बरलैण्ड के प्रदेशों की चट्टानों और पहाड़ियों से धातुओं का विशाल भण्डार निकालते रहे हैं और इस कार्य को जारी रखने का निश्चय किए हुए थे किंतु ... हमारे इन प्रदेशों के कुछ शान्ति-विरोधी लोगों द्वारा कानून और शान्ति के विरुद्ध आक्रमण हुए हैं और अभी उक्त अलमाइनों में से एक की हत्या हुई है। इसका परिणाम यह होगा कि उनके अन्य साथी निरुत्साहित हो जायेंगे। अत: ... हम ... आदेश देते हैं कि जितने भी लोग उक्त उपद्रवों अथवा हत्या से सम्बन्धित हैं, उन सबको बन्दी बना कर चौकसी में रखा जाए। ...लेकिन सतर्कता और सावधानी पूर्वक ध्यान रखें कि भविष्य में उक्त अलमाइनों के साथ सदैव मित्रता का, सज्जनता का व्यवहार रखा जाए।... इसमें असावधानी न हो। इसी में हमारी प्रसन्नता है। अन्यथा आपको दण्डित होना होगा।"[1]

जिस प्रकार इन विदेशियों को संरक्षण की आवश्यकता थी, जिनका कौशल उद्योगों को लाभ पहुंचा सकता था, उसी प्रकार नयी विधि के आविष्कारक भी सरकारी सहायता पाने के अधिकारी थे। जब 1611 में जेहान दे ब्रास दे फर ने एक नये किस्म के कारखाने का आविष्कार किया था, सरकार

[1] *Tudor Economic Documents, op. cit.*, vol. 1, p. 249.

ने उसे उस पर बीस वर्ष के लिये एकाधिकार प्रदान किया जो हमारी आज की सरकारों के पेटेण्ट अधिकारों के समान था। "हमने... उसे अनुमति दी है कि वह और उसके साथी... हमारे राज्य के समस्त नगरों और कस्बों में, ... अपने उक्त आविष्कार के कारखानों का निर्माण कर सकते हैं। ... हम समस्त जनों को उसकी व्यक्त स्वीकृति और अनुमति के बिना... सम्पूर्ण अथवा अंश रूप में... उक्त आविष्कार के पश्चात् कारखाने स्थापित करने से वर्जित करते हैं। इसका उल्लंघन करने पर 10,000 लीव्र दण्ड-शुल्क देना होगा और कारखाना जब्त कर लिया जाएगा।"[1]

आविष्कारक को केवल एकाधिकार ही प्रदान नहीं किये जाते थे अपितु कुछ देशों में नयी और श्रेष्ठ विधियों के आविष्कार द्वारा गृह-उद्योगों के निर्माण की समस्या पर काम करने वालों को आकर्षित करने के लिए पुरस्कार भी दिये जाते थे। फ्रांस में कोलबर्ट ने प्राविधिक शिक्षा के लिये राज्य-संस्थान की स्थापना की। साथ ही औद्योगिक कार्य स्वयं राज्य द्वारा भी चलाये जाते थे। बवेरिया में सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में राज्य वस्त्र उद्योग में 2,000 कर्मचारी काम करते थे। ये राज्य-संस्थान एक प्रतिमान, प्रेरणा और प्रयोगशाला के रूप में काम करते थे। व्यापारी-संघों के नियन्त्रणों से सर्वथा मुक्त विशाल आधार पर संयोजित इन संस्थानों में ही स्वतंत्रता-पूर्वक प्रयोग और प्रगति सम्भव थी जो किसी भी निजी प्रयास द्वारा प्राय: कठिन थी।

परन्तु कठिन होते हुए भी यह असम्भव न थी। राज्य प्रत्यक्ष अनुदान और अन्य वर्णित साधनों द्वारा उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए सदैव तत्पर था। कोलबर्ट के समय में फ्रांसीसी वस्त्र-उद्योग को कुल लगभग अस्सी लाख लीव्र किसी न किसी सहायता के रूप में प्राप्त हुए। सत्रहवीं शताब्दी में कुछ व्यक्ति मिलकर रेशम और सोने-चांदी के वस्त्रों के निर्माण का यन्त्र स्थापित करना चाहते थे। फ्रांस सरकार ने उन्हें धन की प्रत्यक्ष सहायता के साथ ही साथ अन्य अनेक अमूल्य सुविधाएं भी प्रदान कीं। "इस उद्देश्य (प्रजा के सामान्य हित) की पूर्ति का एक मुख्य साधन है निर्माण और कला-कौशल की स्थापना। इनसे हमें दो लाभ हैं। एक तो इनसे राज्य के विकास और उसकी समृद्धि की आकांक्षाएं

[1]*Recueil General, op. cit.*, vol. 16, pp. 18-21.

पुष्ट होती हैं कि ... जो वस्तुएं हमारे अपने पास नहीं हैं, उन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए ... भिक्षुकों की भांति अपने पड़ोसियों के सम्मुख हाथ नहीं फैलाने पड़ेंगे। दूसरे, काहिली से उत्पन्न बुराइयों को मिटाने का यह एक सुगम और अच्छा मार्ग है। साथ ही, हमें अपने देश का सोना-चांदी पड़ोसियों को धनी बनाने के लिये राज्य से बाहर भेजने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। ... (यहां कुछ नाम दिये गये हैं।) ... इस अवधि में, ... (बारह वर्षों के लिये)... पैरिस के ... उक्त नगर में कोई भी अन्य व्यक्ति .. उनकी स्वीकृति और अनुमति के बिना... रेशम के कारखाने स्थापित नहीं कर सकेगा। ... और साथ ही, इस संस्थापन के लिये आवश्यक विशाल व्यय की पूर्ति के लिये हम उक्त संयोजकों को ... 1,80,000 लीव्र की रकम प्रदान करते हैं ... जो उन्हें शीघ्र ही प्राप्त होगी। यह रकम बारह वर्ष तक उनके पास बिना ब्याज के रहेगी और उसके पश्चात् उन्हें केवल 1,50,000 लीव्र वापिस करने होंगे। हम अनुभव करते हैं कि उक्त संस्थान की स्थापना में विशाल धन का व्यय आवश्यक था और उसके द्वारा उन्हें जो निजी हानि उठानी पड़ी है, उसके बदले में शेष 30,000 लीव्र हम उन्हें भेंट में दे देंगे।''[1]

उक्त राजघोषणा हमें एक अन्य लाभ से परिचित कराती है जिस पर व्यापारवादियों ने उद्योगों की आवश्यकता के कारणों को प्रस्तुत करते हुए विशेष बल दिया। उन्होंने निरन्तर इस ओर संकेत किया कि उद्योग के विकास का अर्थ केवल निर्यात की वृद्धि ही नहीं, जिससे व्यापार के अनुकूल सन्तुलन में सहायता मिलती है अपितु इससे लोगों को काम भी मिलता है। 1677 में श्री टी. मैनली ने लिखा, ''हम वर्तमान की अपेक्षा दुगने मूल्य पर दस पौण्ड कच्ची ऊन का निर्यात करें, उसकी अपेक्षा अपने लोगों को काम देकर पांच पौण्ड तैयार ऊन का निर्यात करना हमारे लिये अधिक लाभदायक है।''[2] उस युग में जबकि भिखारी और बेकार संकट उत्पन्न कर रहे थे, और साथ ही, निर्धनों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता के रूप में खर्च का बोझ बन रहे थे, इस तर्क का काफी महत्व था। उस सम्राट के लिये जो अपनी प्रजा के कल्याण के लिये चिन्तित था, उन

[1] *Recueil General, op. cit.*, vol. 15, pp. 283-287.

[2] T. Manley, *A Discourse Showing That the Exportation of Wooll is Destructive to this Kingdom*, p. 3. London 1677.

व्यापारवादी विचारकों के लिये जो सबसे बढ़कर राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय समृद्धि के विकास में रुचि रखते थे, जन-सामान्य को अच्छी अवस्था में रखने की आवश्यकता स्पष्ट थी। अत: जिन उद्योगों से मजदूरों को काम मिलता, उन्हें प्रोत्साहन देना आवश्यक था। जनता को पर्याप्त भोजन प्राप्त हो सके, उसके लिये अनाज की पैदावार की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया जिससे कि युद्ध होने पर उसमें भाग लेने वाली जनता प्रबल और पुष्ट हो सके। यह स्पष्ट हो चुका था कि युद्ध की अवस्था में पर्याप्त खाद्य सामग्री की प्राप्ति सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। इंग्लैण्ड में अनाज के उत्पादन की वृद्धि को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक अनुदान दिये गये। युद्ध-काल में खाद्य-सामग्री में आत्म-निर्भर राष्ट्र ही मजबूत और भरे पेट वाले लड़ाकू सैनिकों का निर्माण कर सकता था और यह एक मुख्य कारण था कि विभिन्न देशों में अन्न सम्बन्धी अनेक कानून बनाये गये थे।

लड़ाकू सैनिक। युद्ध काल। स्वाभाविक ही था कि इन शब्दों के रूप में सोचने वाले लोग अपने जहाजों की संख्या और उनकी विशेषताओं की ओर विशेष ध्यान देंगे। मातृ-भूमि की रक्षा के लिए और शत्रु-देश पर आक्रमण के लिए-दोनों ही अवस्थाओं में जहाजों की आवश्यकता होगी। और जिस प्रकार व्यापारियों ने व्यापार के अनुकूल सन्तुलन के लिए उद्योगों को प्रोत्साहन देना एक प्रमुख साधन समझा, उसी प्रकार उन्हीं कारणों से उन्होंने एक व्यापारी बेड़े के निर्माण को भी अनिवार्य समझा। सरकारें विदेशी व्यापार में रुचि रखती थीं, और उसी सीमा तक उन्होंने अपने औद्योगिक माल की अन्य देशों में ले जाने के लिए नौ-परिवहन की पर्याप्त सुविधा पर भी विशेष बल दिया। अत: उन्होंने जिस उत्साह के साथ उद्योगों का पोषण किया, उसी उत्साह से उन्होंने नौ-परिवहन की ओर भी ध्यान दिया। और इसके लिए जो उपाय अपनाए गए, वे भी लगभग समान थे। जहाज-उद्योग के लिए आवश्यक सामान-तारकोल, डामर, मोटी शहतीरों आदि की खोज की गई और देश में उनके आयात पर शुल्क को छूट दी गई। लोगों को नाविक बनने के लिए विवश किया गया। फ्रांस में न्यायाधीशों को प्रोत्साहन दिया गया कि जब भी सम्भव हो, वे अपराधियों को जहाज पर काम करने का दण्ड दें। हालैण्ड में मत्स्य-उद्योग को इसलिए प्रोत्साहन दिया गया क्योंकि यह उद्योग जहाजियों की शिक्षण-संस्था का काम करता था। लोगों

से अधिक मछली खाने के लिए कहा गया और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग के प्रचार-तंत्र से लोगों के मन में यह बिठाने का प्रयत्न किया गया कि मछली में कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो उनके स्वास्थ्य के लिए ही पुष्टिकारक नहीं अपितु पूर्ण वृद्धावस्था को भोगने के लिए नितान्त आवश्यक भी हैं।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक स्पेन के पतन के साथ छोटा-सा हालैण्ड देश अपने समय की मुख्य शक्तियों में प्रथम स्थान पाने लगा। हालैण्ड छोटा-सा देश था पर वह सम्पन्न और प्रबल राष्ट्र था और इसका एक मुख्य कारण था उसका अपने नौ-परिवहन पर विशेष ध्यान देना। अपनी भौगोलिक अवस्था के कारण हालैण्डवासियों के लिए भी वेनिसवासियों की भांति ही नौकाओं के सम्बन्ध में सब कुछ जानना आवश्यक था। उत्तरी सागर मछलियों के अपने चमत्कारपूर्ण भण्डार के साथ हालैण्डवासियों को निरन्तर आमन्त्रित करता रहा है। भूमध्य सागरीय देश और उत्तरी देशों के उत्पादन के परस्पर आवागमन के प्रवाह से हालैण्ड बिलकुल केन्द्र से पड़ गया। निस्संदेह, हालैण्डवासियों ने इस सौभाग्य को स्वयं अपना बनाया। उन्होंने सागरों को अपनाया और उन्नतिशील विश्व के माल के वाहक बन बैठे। हालैण्ड के जल-पोत सभी देशों के हर प्रकार के माल को हर स्थान पर पहुंचाने के लिए सर्वत्र दौड़ने लगे।

परन्तु इंग्लैण्ड और फ्रांस इस बात से सन्तुष्ट नहीं थे कि उनका माल हालैण्ड के जहाजों द्वारा ले जाया जाए। आत्म-निर्भरता के लिए उनकी योजनाओं का एक भाग उनका अपने जहाजी बेड़े का निर्माण करना था। अपने माल के लदान के लिए उन्हें हालैण्ड के जहाजियों को काफी अच्छी रकम देनी पड़ती थी जिसे वे पसन्द नहीं कर पाते थे। अमरीका के इतिहास में सुप्रसिद्ध अंग्रेजी नौ-परिवहन कानूनों का एक प्रमुख उद्देश्य हालैण्डवासियों से समुद्र पर उनकी सेवा के प्रभुत्व को हस्तगत करना था। यह आकांक्षा 1660 के निम्न कानून में पूर्णत: स्पष्ट है: "इस राष्ट्र के नौपरिवहन के प्रोत्साहन और जहाजी बेड़े की वृद्धि के लिए... यह कानून बनाया जाता है... कि प्रथम दिसम्बर, 1660 से और उसके पश्चात... एशिया, अफ्रीका या अमरीका में इस साम्राज्य को आयात किया जाने वाला अथवा यहां से निर्यात किया जाने वाला साम्राज्य का किसी भी प्रकार का कोई सामान... किसी भी अन्य जहाज में न जाकर केवल उन्हीं नौकाओं और जहाजों में जा सकेगा जो पूर्णत: इंग्लैण्ड वालों के हैं..., उक्त प्रदेशों के लोगों

के बनाए हुए हैं और उनके स्वामित्व में हैं अथवा जिनके स्वामी और कम से कम तीन चौथाई जहाजी अंग्रेजी हैं।"[1]

हालैण्ड के जहाज.... → साम्राज्य की दीवार–बाहर रहें!

यहां मातृदेश और उपनिवेशों को विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध एक हो जाना पड़ता था। अधिक शक्तिशाली हालैण्ड के परिवहन हितों के विरुद्ध यह सुरक्षा अमरीकी उपनिवेशवादियों के लिये बहुत लाभप्रद थी। नौ-परिवहन कानूनों के इस भाग ने अमरीकियों को उनके अपने व्यापारी बेड़े बनाने में सहायता प्रदान की जिससे कि शीघ्र ही संसार के प्रत्येक भाग में अमरीकी नौकाएं दृष्टि-गोचर होने लगीं। उन्नतिशील अंग्रेजी साम्राज्य के नौ-परिवहन के एकाधिकार का एक अंश प्राप्त कर अमरीकी जहाज-निर्माता, जहाजों के स्वामी और जहाजी मालामाल हो उठे।

परन्तु आप जानते हैं कि नौ-परिवहन कानूनों के कुछ भाग और भी थे जो उपनिवेशों के लिये इतने लाभदायक नहीं थे। यह व्यापारवादियों के विचार का वह भाग था जिसमें वे उपनिवेशों को अपने मातृदेश की आय का अन्य स्रोत समझते थे।

इसी के परिणामस्वरूप वे कानून पारित हुए जिनके अनुसार उपनिवेशों में किसी ऐसे उद्योग का आरम्भ करना वर्जित था जो मातृदेश के किसी उद्योग की प्रतिद्वन्द्विता कर सकता हो। उपनिवेशवादियों के लिये टोपी, हैट, ऊनी वस्त्र आदि का निर्माण निषिद्ध था। इन वस्तुओं के लिए समस्त कच्चा माल अमरीका में उपलब्ध था, फिर भी उपनिवेशवादियों को यह कच्चा माल निर्माण के लिये इंग्लैण्ड भेजना पड़ता था और फिर तैयार माल के रूप में उसे वापिस खरीदना पड़ता था।

औपनिवेशिक कच्चा माल अमरीका में तैयार होने के स्थान पर इंग्लैण्ड आता और निर्मित वस्तुओं के रूप में वापस अमरीका भेजा जाता था।

इंग्लैण्ड का यह रवैया केवल अमरीका के प्रति ही नहीं, उसके समस्त

[1]Bland, Brown and Tawney, *op., cit.*, pp. 670, 671.

उससे सम्बन्धित हर बात को प्रोत्साहन और समर्थन देना अपना मुख्य काम बना लिया।

वाणिज्य द्वारा ही राज्य बड़ा माना जाता था और क्षेत्र और व्यापार के विस्तार में अपना भाग पा सकता था। व्यापारवाद व्यापारियों का वाद था।

व्यापारवादियों का विश्वास था कि जहां तक व्यापार का सम्बन्ध है, एक देश की हानि से किसी दूसरे देश को लाभ होता है। अर्थात्, एक देश किसी दूसरे देश के मूल्य पर ही अपना व्यापार बढ़ा सकता है। वे व्यापार को पारस्परिक लाभ अथवा लाभप्रद विनिमय की-सी कोई वस्तु नहीं मानते थे। उनके अनुसार व्यापार कोई निश्चित परिमाण की वस्तु थी, जिसमें से प्रत्येक को अधिक से अधिक झपटने का प्रयत्न करना चाहिए। अठारहवीं शताब्दी में ***व्यापार और वाणिज्य शब्दकोष*** का लेखक इसे इस प्रकार स्पष्ट करता है: "ऐसा लगता है योरोप में व्यापार एक सीमित परिमाण में है। मान लीजिए ऊन के निर्माण में ... इंग्लैण्ड एक करोड़ पचास लाख के मूल्य के माल का सम्भरण और निर्यात करता है। अगर वह किसी वर्ष दो करोड़ के माल का सम्भरण करता है तो ऐसा किसी अन्य की बिक्री को कम करके उसके मूल्य पर ही किया जा सकता है।"[1]

1670 में कोलबर्ट ने हेग के फ्रांसीसी मन्त्री एम. पोम्पोन को लिखा: "क्योंकि हालैण्ड में वाणिज्य और उत्पादन तब तक कम नहीं हो सकता जब तक कि वह किसी अन्य देश के हाथ में न चला जाए... अत: राज्य के सार्वजनिक कल्याण के लिये इससे अधिक महत्वपूर्ण और कुछ नहीं है कि जहां एक ओर हम अपने राज्य के भीतर वाणिज्य और उत्पादन की वृद्धि की ओर ध्यान दें, दूसरी ओर हालैण्ड में उसके वास्तविक और प्रभावकारी ह्रास का भी ध्यान रखें।"[2]

"राज्य के सार्वजनिक कल्याण के लिये इससे अधिक महत्वपूर्ण और कुछ नहीं है", इस विचार में विश्वास के फलस्वरूप प्रतिद्वन्द्वी राज्य के वाणिज्य

[1] Savary des Bruslons, *Universal Dictionary of Trade and Commerce, translated from the French with Additions and Improvements by Malachy Postelthwayt,* 2nd ed. 2 vols. vol. II, p. 6. article on labor. London, 1757.

[2] A. J. Sargent, *Economic Policy of Colbert,* pp. 78, 79. Longmans, Green & Co., London. 1899.

और उत्पादन पर आघात करने का परिणाम एक ही हो सकता था और वह था युद्ध। व्यापारवादियों की नीति का फल था युद्ध। बाजारों के लिए होड़, एक अथवा दूसरे देश के व्यापार के लिये घोर प्रतिद्वन्द्विता, अधिकाधिक उपनिवेशों के लिये संघर्ष इन सबने प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों को एक के बाद दूसरे युद्धों में डाल दिया। इनमें से कुछ उनके वास्तविक उद्देश्यों से ही लड़े गये और उन्हें सही-सही व्यापार-युद्ध का नाम दिया गया। अन्य युद्धों को ऊंचे आदर्शों की आड़ में लड़ा गया जैसे कि आज भी प्राय: होता है। परन्तु हमारे पास 1690 में कैण्टरबरी के प्रधान बिशप का कथन है: "मैं अनुभव करता हूं कि गत वर्षों से संसार के इस भाग में जो संघर्ष और झगड़े होते रहे हैं यद्यपि उन्हें सुन्दर और आध्यात्मिक आड़ दी गई है पर उनका वास्तविक उद्देश्य और लक्ष्य था—स्वर्ण, गौरव और राजकीय महत्ता।"[1]

प्रधान बिशप के अन्तिम शब्दों को ग्रहण कीजिए। इसके तीन शब्दों स्वर्ण, गौरव और महत्ता में वह सब कुछ समाविष्ट है जो व्यापारवादियों का लक्ष्य था।

[1]Quoted in C.J.H. Hayes, *Essays on Nationalism,* p. 37. The Macmillan Company, N.Y., 1926.

... का एक प्रतिवेदन... प्रस्तुत हुआ और पढ़ा गया जिसमें यह कहा गया कि जिनके उत्पादन के लिए अन्य देशों की भूमि, जलवायु, पूंजी और उद्योग सबसे अच्छे समझे जाएं, उन वस्तुओं के आयात और जिनके लिए किसी देश की अपनी अवस्था अधिक अनुकूल है, उन्हें उन वस्तुओं के निर्यात के योग्य बनाने से विदेशी व्यापार किसी देश की सम्पत्ति और समृद्धि का प्रधान संवाही होता है। अनुमान लगाया जाता है कि दमन से मुक्ति विदेशी व्यापार को सबसे अधिक विस्तार और देश की पूंजी और उद्योगों को सर्वश्रेष्ठ दिशा प्रदान करती है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यापारी अपने व्यक्तिगत व्यवहार में सबसे सस्ते बाजार से खरीदने और सबसे महंगे में बेचने का सिद्धान्त अपनाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र के व्यापार का भी यह सर्वश्रेष्ठ नियम है। इन सिद्धान्तों पर आधारित नीति संसार के व्यापार को पारस्परिक लाभ के आदान-प्रदान का रूप देगी और प्रत्येक राज्य के निवासियों में आनन्द और सम्पत्ति की वृद्धि का विस्तार करेगी... वर्तमान संरक्षण अथवा नियन्त्रण व्यवस्था के पक्ष में वर्तमान दुराग्रह इस भ्रान्तिपूर्ण धारणा का परिणाम है कि विदेशी वस्तु का प्रत्येक आयात हमारे अपने उत्पादन को निरुत्साहित करता है अथवा उसी सीमा तक उसमें कमी करता है। लेकिन जिन तर्कों पर यह ... व्यवस्था आधारित है, वे अगर निरन्तर स्वीकार किए जाते रहें तो इससे हम समस्त विदेशी व्यापार से बाहर हो जाएंगे।''[1]

एडम स्मिथ कृत ***राष्ट्रों की समृद्धि के स्वरूप एवं कारणों पर विचार*** उन पुस्तकों में से थी जो जन-कल्पना को पकड़ लेती हैं और प्रत्येक देश को अपने प्रवाह के साथ बहा ले जाती हैं। पूर्व लेखकों ने कहा कि राज्य को शक्तिशाली बनने के लिए इस या उस नीति का अवलम्बन करना होगा परन्तु उनके विपरीत एडम स्मिथ ने उन कारणों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया जो धन के वितरण को प्रभावित करते हैं। जहां अनेक व्यापारवादियों के अपने स्वार्थ निहित थे-लेकिन उन्होंने उन स्वार्थों को इस आड़ के साथ प्रस्तुत किया कि उनसे देश की शक्ति में वृद्धि होगी-वहां स्मिथ किसी विशेष समर्थन की अपेक्षा विश्लेषण में अधिक रुचि रखता था। उसने विषय को वैज्ञानिक ढंग से ग्रहण किया। इस प्रसिद्ध पुस्तक का एक भाग व्यापारवादियों के सिद्धान्तों के अध्ययन से सम्बन्धित है। उसने उन्हें नग्न कर दिया।

[1]Journals of the House of Commons, vol. 75, 1819-1820, May 8, 1920.

उससे पूर्व कुछ अन्य भी थे जिन्होंने यह पोल खोली थी। व्यापारवाद के उत्कर्षकाल में भी कुछ विचारक ऐसे थे जिन्होंने इसके सिद्धान्तों पर प्रहार किया था। प्रत्येक व्यापारवादी प्रणाली की आलोचना होती रही।

विदेशी माल के आयात पर प्रतिबंध और उन पर लगाए गए करों को लीजिए। पूर्वातिपूर्व, 1690 में निकोलस बार्बन ने व्यापार-प्रवचन में लिखा, "व्यापार का निषेध व्यापार के ह्रास का कारण है। क्योंकि समस्त विदेशी माल स्वदेशी माल के विनिमय में खरीदा जाता है अतः किसी विदेशी वस्तु का निषेध उतने ही स्वदेशी माल के उत्पादन का बाधक बनता है जो उस माल के विनिमय के लिए बनाया जाता था। जो कारीगर और व्यापारी उन वस्तुओं का काम करते हैं, अपना व्यापार खो बैठते हैं ..."[1]

अथवा, सुप्रसिद्ध "व्यापार के सन्तुलन" के तर्क को लीजिए। पूर्वातिपूर्व 1691 में डड्ली नौर्थ ने ***व्यापार पर प्रवचन*** नामक पुस्तक में इस तर्क का जोरदार खण्डन किया। "बहुत समय नहीं हुआ जबकि व्यापार के सन्तुलन पर, जैसा वे इसे कहते हैं, जांच के बारे में काफी शोर हुआ था। क्योंकि यह भ्रम रहा है कि हम जितनी वस्तुएं बाहर ले जाते हैं, उससे अधिक भीतर ले आने से हम विनाश के पथ पर अग्रसर होंगे... अब यह सुनना विचित्र-सा प्रतीत हो सकता है कि व्यापार के क्षेत्र में समस्त विश्व एक राष्ट्र अथवा जाति के समान है और उसके विभिन्न राष्ट्र व्यक्तियों के समान। ... जनता के लिए अलाभकारी व्यापार हो ही नहीं सकता। क्योंकि कोई भी इसे सिद्ध करेगा तो लोग उसे छोड़ देंगे .... कोई भी कानून व्यापार में मूल्य निर्धारित नहीं कर सकता है। व्यापार में भाव स्वयं बनते हैं और बनेंगे। लेकिन जब ऐसे कानून अपना हाथ बढ़ा ही देते हैं तो वे व्यापार के लिए अवरोधक और इसलिए हानिप्रद बनते हैं।"[2]

इसी प्रकार 1749 में जोसेफ टकर ने व्यापारवादियों की एकाधिकार प्रदान करने की नीति पर प्रहार किया: "हमारे एकाधिकार, लोक कम्पनियां, और संयुक्त अधिकार-पत्र स्वतन्त्र व्यापार के विनाश और संहार का कारण है। ... सम्पूर्ण देश को व्यापार की हानि उठानी पड़ती है और केवल कुछ अति लोलुप

[1]N. Barbon *A Discourse of Trade* (1690), p. 35, Reprinted and edited by J.H. Hollander. Johns Hopkins Press, Baltimore, 1905.
[2]D. North, *Discourse Upon Trade* (1691), pp. 12-13, Reprint edited by J.H. Hollander, Baltimore, 1907.

प्रबन्धकों को धनी बनाने के लिए भूगोल के तीन-चौथाई से अधिक भाग को व्यापार से वंचित रहना पड़ता है। वे उसी मार्ग से धनी बनते हैं जिस मार्ग से जनता निर्धन होती जाती है।''[1]

टकर व्यापारवादियों की औपनिवेशिक नीति के सम्बन्ध में भी कहता है: ''आयरलैण्ड के व्यापार और निर्माण को नियन्त्रित करने में हमारी खराब नीति और अप्राकृतिक ईर्ष्या हमारे व्यापार के विस्तार की अन्य बड़ी बाधा है। अगर आयरलैण्ड धनी हो जाता है तो परिणाम क्या होगा? इंग्लैण्ड भी धनी होगा और फ्रांस अपेक्षाकृत निर्धन होगा। जो ऊन अब गैर कानूनी रूप से फ्रांस को निर्यात होती है और वहां से तैयार माल के रूप में फिर हमारी वस्तुओं की प्रतिद्वन्द्विता में बाजार भेजी जाती है, आयरलैण्ड में तैयार की जाएगी। .... आयरिश लोगों की भूमि के किराए बढ़ेंगे और शीघ्र ही रुपया इंग्लैण्ड की ओर खिंचा चला जाएगा।''[2]

देश के सोने-चांदी के भण्डार के महत्व के सम्बन्ध में क्या प्रतिक्रिया थी? एडम स्मिथ के एक मित्र डेविड ह्यूम ने 1742 में उन्हें भी निर्मूल सिद्ध कर दिया। उसने कहा कि विशाल कोष देश को कोई स्थायी लाभ नहीं पहुंचा सकता। उसका सिद्धान्त था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के चलने से प्रत्येक देश धातु-मुद्रा के साथ स्वर्ण की मात्रा प्राप्त करेगा जो उसके मूल्य इस प्रकार स्थिर करती है कि इसका आयात उसके निर्यात को सन्तुलित कर देगा। किस प्रकार?

आपको स्मरण होगा कि यह बहुत पहले से ही माना जाने लगा था कि प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के अनुसार मूल्य बढ़ते और गिरते हैं। ह्यूम यहीं से आगे बढ़ता है: ''अगर हम किसी एक राज्य के बारे में विचार करें तो यह प्रत्यक्ष है कि मुद्रा के कम या अधिक बाहुल्य से कोई परिणाम नहीं निकलता। वस्तुओं के मूल्य सदैव मुद्रा स्फीति के अनुपात में होते हैं।''[3]

अब यदि मूल्य बढ़ जाते हैं तो देश के व्यापार का क्या होता है? स्पष्ट

---

[1]J.Tucker, *Brief Essay on the Advantages and Disadvantages Which Respectively Attend France and Great Britain with Regard to Trade*, p. 25. London, 1749.
[2]*Ibid.*, p. 28.
[3]D. Hume, *Essays Moral, Political and Literary*, Edited by T.H. Green and T.H. Grose, p. 309. Longmans, Green & Co., London, 1875. Essays first published in 1742.

है कि अन्य देशों के लोग उसका माल कम खरीदेंगे क्योंकि वह महंगा हो गया है। इसका अर्थ यह है कि देश का निर्यात कम होगा। अत: निर्यात आयात के साथ सन्तुलन नहीं कर पाएगा। अन्य देश उससे जितना माल खरीदेंगे, उसकी अपेक्षा वह अन्य देशों से अधिक माल खरीदेगा। लेकिन जिस प्रकार भी हो, उसे यह अन्तर चुकाना ही होगा। अगर उसके माल का निर्यात उसके माल के आयात का मूल्य नहीं चुका सकता तो उसे शेष अन्तर नकद मूल्य देकर चुकाना होगा। इसका अर्थ यह है कि जिस देश में मूल्यों में वृद्धि हुई है, उसका सोना देश से बाहर प्रवाह्यमान होगा। लेकिन सोने के इस प्रवास से देश में प्रचलित मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाएगी और परिणामस्वरूप मूल्यों में भी गिरावट होगी। तब अन्य देश अनुभव करेंगे कि वे पुन: उस देश से सस्ते भाव पर चीजें खरीद सकते हैं अत: निर्यात में वृद्धि होने लगेगी जब तक कि वह एक बार फिर आयात के साथ सन्तुलन न स्थापित कर ले। निस्संदेह इसकी विपरीत प्रक्रिया भी उतनी ही सही है। अगर प्रचलित मुद्रा की मात्रा में कमी के कारण मूल्यों में गिरावट होती है तो अन्य देश उस देश से अधिक माल खरीदेंगे क्योंकि वह तुलना में सस्ता होगा। अत: देश में आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक होगा और दोनों का अन्तर नकद मूल्य में चुकाया जाएगा जिससे देश में सोने की मात्रा बढ़ जाने से मूल्यों में वृद्धि होगी। अत: मूल्य कम होने से निर्यात व्यापार में जो लाभ हुआ था, वह समाप्त हो जाएगा। निर्यात में गिरावट होगी और एक बार फिर देश के आयात और निर्यात में सन्तुलन स्थापित हो जाएगा।

निस्सन्देह, यह स्थिति की रूपरेखा मात्र है। वस्तुत: इतनी सरलतापूर्वक काम नहीं होता और इसमें काफी समय लगता है। यह प्रक्रिया "केवल दीर्घकाल में जाकर" पूर्ण होती है। लेकिन मूल्यवान धातुओं के विशाल संचय की आवश्यकता पर व्यापारवादी जो जोर दे रहे थे, ह्यूम की व्याख्या ने उसे प्रभावशाली ढंग से समाप्त कर डाला।

एक के बाद एक व्यापारवादियों के सभी सिद्धान्तों पर उसी काल के लेखकों द्वारा आक्रमण होता रहा जबकि उन्हें व्यापार में लाया जा रहा था। विशेष रूप से स्वतन्त्र व्यापार का पक्ष फ्रांस के भू-अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किया गया था।

आप कल्पना करते होंगे कि व्यापारवादी नियन्त्रण और व्यूह-रचना फ्रांस

में ही विकसित हुई होगी क्योंकि उसी देश में राज्य द्वारा उद्योगों का नियन्त्रण उच्चतम सीमा तक पहुंचा था। फ्रांस में व्यापार इस कष्टकर व्यवस्था को लागू करने वाले हस्तक्षेपी निरीक्षकों की सेना के साथ "करो" और "मत करो" के जाल से इस प्रकार ग्रसित हो चुका था कि यह समझना कठिन हो जाता है कि कोई भी काम किस प्रकार होता था। संघ-नियम और व्यवस्थाएं काफी दोषपूर्ण थीं। वे अब भी वर्तमान थीं अथवा उनका स्थान सरकारी व्यवस्था ले रही थी जो उससे भी अधिक संकीर्ण थी। ये व्यवस्थाएं फ्रांस के उद्योग के संरक्षण और उसकी सहायता के लिए निर्मित हुई थीं और एक सीमा तक उन्होंने अपना काम किया भी। लेकिन जिन दिनों वे युक्तिपूर्ण थीं, तब भी वे निर्माताओं के लिए सदैव कष्टकर रहीं। उदाहरणार्थ, क्या कोई वस्त्र-निर्माता अपनी इच्छा के अनुसार वस्त्र तैयार कर सकता था? नहीं। वस्त्र उसी किस्म और लम्बाई के होने चाहिए जो स्वीकृत है। क्या कोई हैट निर्माता ऊदबिलाव के बालों, फर और ऊन को मिलाकर तैयार किए हुए हैट बनाकर बाजार की मांग को पूरा कर सकता था? वह हैट केवल ऊन से ही तैयार कर सकता था या केवल ऊदबिलाव के बालों से; किसी और वस्तु से नहीं। क्या कोई निर्माता अपने माल के निर्माण में नयी और बेहतर किस्म की ऊन का प्रयोग कर सकता था? नहीं। यहां तक कि उन्हें औजार भी निश्चित आकार और ढंग के ही रखने पड़ते थे और निरीक्षक यह देखने के लिए घूमते रहते थे कि सब कुछ ठीक है।[1]

किसी भी एक दिशा में इतना दूर जाने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि दूसरी दिशा में उसकी प्रतिक्रिया से उतना ही दूरगामी आन्दोलन उठ खड़ा होगा। उद्योग का अत्यधिक नियन्त्रण उद्योग के विनियन्त्रण की मांग का पोषण करेगा। विनियन्त्रण के प्रारम्भिक आन्दोलनकारियों में एक फ्रांसीसी व्यापारी था जिसका नाम था द गोर्ने। उसके सम्बन्ध में, एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी अर्थ-मंत्री तुर्गो ने लिखा है: "वह यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया था कि एक नागरिक भारी खर्च पर किसी निगम में प्रवेश पाए बिना न तो कुछ खरीद ही सकता था और न कुछ बेच सकता था।... न ही उसने कल्पना की थी कि जिस राज्य में उत्तराधिकार केवल प्रथा द्वारा निश्चित होता है... उस राज्य में सरकार प्रत्येक वस्त्र की लम्बाई चौड़ाई और उसके निर्माण में लगने वाले धागों की संख्या तक

[1]Cf. Renard and Weubersse, *op. cit.*, pp. 180-182.

कानूनों द्वारा निर्धारित करने की ओर प्रवृत्त होगी और चार ग्रन्थों में भरे हुए इन कानूनों के विस्तारपूर्ण विवरण को विधान-मण्डल की राज्य-मुद्रा से प्रतिष्ठित कर एकाधिकार की भावना से अधिप्रेरित अनेकानेक कानूनों का निर्माण करेगी। ... उसे इस बात पर भी कम आश्चर्य नहीं हुआ कि सरकार स्वयं प्रत्येक वस्तु का मूल्य निर्धारित करती है; किसी एक उद्योग के पनपने के लिए अन्य उद्योगों को अवैध घोषित करती है... और कल्पना करती है कि अन्य नागरिकों की अपेक्षा कृषक की अवस्था को अनिश्चित और दुःखपूर्ण बना कर अन्य के उत्पादन की वृद्धि का विश्वास किया जा सकता है।"[1]

गोर्ने इस अति-व्यवस्था पर आश्चर्यचकित ही नहीं था, वह फ्रांस को इससे छुटकारा दिलाना चाहता था। उसने फ्रांस को वह नारा दिया जो उस समय से उन समस्त लोगों की सम्मिलित पुकार बन चुका है जो किसी भी प्रकार के नियन्त्रणों के विरुद्ध है। वह नारा है–"***लैसे-फेयर***"। इस प्रसिद्ध उक्ति का मुक्त अनुवाद होगा, "हमें निर्बाध छोड़ दीजिए।"

लैसे-फेयर गोर्ने के युग में रहने वाले फ्रांसीसी भू-अर्थशास्त्रियों की पुकार बन गया। इन अर्थशास्त्रियों का अपना महत्व है क्योंकि वह अर्थशास्त्रियों का पहला 'सम्प्रदाय' था। वह व्यक्तियों का एक समुदाय था जो 1757 से नियमित रूप से फ्रैंकुई क्वैस्ने के नेतृत्व में विचार-विमर्श के लिये एकत्र हुआ करता था। इस मत के समर्थक सदस्यों ने नियंत्रणों से मुक्ति के आह्वान के लिये, स्वतन्त्र व्यापार के लिये, ***लैसे-फेयर*** के लिये ग्रन्थ और लेख लिखे। जब 1770 में बैदेन के शासक कार्ल फ्रेडरिक ने प्रसिद्ध भू-अर्थशास्त्री मिरैबै से अपने राज्य संचालन के लिये सम्मति मांगी, तो उसने लिखा, "ओह, श्रीमान्! अपने राज्य का स्वतन्त्र बाजार और मुक्त बन्दरगाह देने में आप सर्वप्रथम बनें। आपके क्षेत्र में प्रवेश करते ही आपके सर्वप्रिय श्रद्धेय नाम के शब्द सर्वप्रथम पढ़ने को मिलें और उसके नीचे हों ये तीन पवित्र शब्दः ***स्वतन्त्रता, मुक्ति और स्वाधीनता***। ... आपका राज्य शीघ्र ही लोगों के लिये एक विशेष सुविधा सम्पन्न निवास, व्यापार का स्वाभाविक राज-पथ और विश्व का मिलन-स्थल बनेगा।"[2]

---

[1]E. Cannan, *A Review of Economic Theory*, pp. 26-27. P.S. King & Co., London, 1929.

[2]*Carl Friedrichs von Baden briﬀicker Verkehr mit Mirabean und Du Pont*, vol. I, p.27. Bearbeitet von C. Knies, Heidelberg, 1892.

भू-अर्थशास्त्रियों ने स्वतन्त्र व्यापार में अपना विश्वास अप्रत्यक्ष मार्ग द्वारा अपनाया। उनका सबसे पहला विश्वास था व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता पर, विशेष रूप से भू-सम्पत्ति पर। उनका विश्वास वैयक्तिक अधिकार में था, अत: वे स्वाधीनता में व्यक्ति के इस अधिकार में विश्वास रखते थे कि जब तक वह किसी अन्य को हानि नहीं पहुंचाता, वह अपनी सम्पत्ति के साथ जो चाहे कर सकता है। स्वतन्त्र व्यापार के लिये उनके तर्क के पीछे यह विश्वास था कि कृषक को यह अधिकार होना चाहिए कि वह जो चाहे, पैदा कर सके और जहां चाहे, बेच सके। फ्रांस में उन दिनों न केवल बिना शुल्क प्रदान किये अनाज फ्रांस से बाहर नहीं जा सकता था, अपितु देश के एक भाग से दूसरे भाग में ले जाने के लिये भी अनाज पर शुल्क देना पड़ता था। यह ऐसे ही था जैसे कि न्यू जर्सी का किसान राज्य की सीमा पर चुंगी दिये बिना अपनी सब्जियां न्यूयार्क न भेज सके। भू-अर्थशास्त्री इसके विरुद्ध थे। मर्सिए दे ला रिबिरे ने भू-अर्थशास्त्रियों के विश्वासों का सर्वश्रेष्ठ विवेचन किया है। वह लिखता है: "पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना अधिक उत्पादन सम्भव नहीं है ...। क्या यह सत्य नहीं है कि वह अधिकार, जिसे जताने की स्वाधीनता न हो, वास्तव में अधिकार नहीं है? अत: बिना स्वाधीनता के सम्पत्ति-अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती...। मनुष्य कोई भी दायित्व तब तक ग्रहण नहीं करता है, जब तक कि उसके उपभोग की इच्छा को उसमें जाग्रत न किया जाए। उपभोग की इच्छा को उपभोग की स्वतन्त्रता से पृथक कर देने से इसका आकर्षण समाप्त हो जाता है।"[1]

भू-अर्थशास्त्रियों ने प्रत्येक समस्या को कृषि पर उसके प्रभाव की दृष्टि से देखा। उनका तर्क था कि भूमि ही धन का एकमात्र स्रोत है और भूमि पर किया गया श्रम ही केवल उत्पादक श्रम है। कार्ल फ्रेडरिक के साथ अपने पत्र-व्यवहार में मिरैबो कहता है: "हमारा कृषक काश्तकार की स्थिति में उत्पादक श्रम अर्पित करता है और केवल उसी श्रम से हम व्यय निकाल कर लाभ कमाते हैं। बुनकर की स्थिति में वह अनुत्पादक कर्म करता है। सेवा के समग्र रूप में वह उपयोगी भाग लेता है। पर उत्पादन कुछ नहीं करता।"[2]

---

[1]Le Mercier de la Reviere, *L' Ordre Natural et Essentiel des Societies. Politiques,* 1767. p. 24. Publie par E. Depetre. Geuthner, Paris, 1910.
[2]C. Knies. *op. cit.* p. 32.

भू-अर्थशास्त्रियों का तर्क था कि केवल कृषि ही है जो उद्योग और वाणिज्य के लिये अनिवार्य कच्चा माल जुटाती है। यद्यपि यह सत्य था कि कारीगर कच्चे माल को तैयार रूप में बदलने में एक उपयोगी भाग लेते थे, परन्तु वे धन के भण्डार में कोई वृद्धि नहीं करते थे। कारीगरों के काम से कच्चे माल की कीमत बढ़ जाती थी परन्तु वस्तु की वह बढ़ी हुई कीमत उनके काम के बदले दिये गये पारिश्रमिक के बराबर थी। धन में कोई वृद्धि नहीं हुई थी। भू-अर्थशास्त्रियों का तर्क था कि कृषि में यह इस प्रकार सत्य नहीं है। उद्योग बन्ध्य है, कृषि फलप्रद। कृषि में श्रम और भूमि के स्वामी के लाभ के अतिरिक्त एक वास्तविक उपज थी जो भूमि का उपहार थी। जो धन में एक वास्तविक वृद्धि थी। उनका कहना था कि समस्त व्यय निकाल कर कृषि से जो अतिरिक्त प्राप्ति थी, वह प्रतिवर्ष घटती बढ़ती रहती थी। ऋतु के अनुसार वह कम या अधिक होती थी।

आज के अर्थशास्त्री यद्यपि भू-अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त के अधिकांश भाग से असहमत होंगे परन्तु वे उन्हें इस बात को उठाने का पूरा श्रेय देते हैं कि किसी राष्ट्र की सम्पदा संचित द्रव्य के निश्चित परिमाण से नहीं आंकी जा सकती, अपितु उसकी आय से आंकी जाती है और वह आय भी संचय के रूप में नहीं प्रवाह के रूप में हो।

भू-अर्थशास्त्रियों के सम्बन्ध में एडम स्मिथ का कथन था "यह व्यवस्था अपनी समस्त अपूर्णताओं के उपरान्त भी सम्भवत: उस सत्य के सबसे निकट थी, जो आज तक अर्थशास्त्र पर प्रकाशित है। ... यद्यपि भूमि पर लगाये गये श्रम को ही उत्पादक श्रम के रूप में ग्रहण करना अत्यन्त संकीर्ण और सीमित धारणा का द्योतक है, तथापि अनुपभोग्य मुद्रा के कोष को न स्वीकार कर समाज के श्रम द्वारा वर्ष भर में उत्पादित उपभोग्य द्रव्य को राष्ट्रीय सम्पदा के रूप में ग्रहण करने और पूर्ण स्वाधीनता को वार्षिक उत्पादन की सर्वोच्च वृद्धि का एकमात्र उपाय स्वीकार करने से इनके सिद्धान्त प्रत्येक रूप में उतने ही उचित प्रतीत होते हैं, जितने कि वे उदार हैं।"[1]

यद्यपि भू-अर्थशास्त्री एडम स्मिथ से पूर्व ही "पूर्ण स्वतन्त्रता" का तर्क प्रस्तुत कर चुके थे पर एडम स्मिथ का प्रभाव अपूर्व था। उसके ग्रन्थ "***राष्ट्रों***

[1] *Wealth of Nations, op. cit.*, vol. 2 p. 176.

की समृद्धि" के एक के बाद एक अनेक संस्करण निकले। उसके जीवन काल में और उसके पश्चात् भी उसे बहुत पढ़ा गया। जहां तक व्यापारवादी नीति के संघात का प्रश्न था, उसे सांघातिक चोट पहुंचाने वाला यही ग्रन्थ था। उसने धातु-मुद्रावादियों का इस प्रकार खण्डन किया: "जिस देश के पास अपनी खानें नहीं हैं, उसे निस्संदेह विदेशों से सोना-चांदी खरीदना पड़ता है तथापि यह आवश्यक नहीं जान पड़ता कि सरकारें एक वस्तु से अपना ध्यान खींच कर दूसरी ओर ले जाएं। एक देश ने जिसके साथ मदिरा खरीदने का सौदा किया है, उससे वह मदिरा प्राप्त करेगा ही; और एक देश ने जिसके साथ सोना-चांदी खरीदने का सौदा किया है, वह इन धातुओं के अभाव में नहीं रहेगा। इन्हें भी अन्य सभी वस्तुओं की भाँति मूल्य देकर खरीदना पड़ता है।"[1]

व्यापारवादियों की औपनिवेशिक नीति के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण इन वाक्यों में सन्निहित है: "अतः औपनिवेशिक व्यापार का एकाधिकार व्यापारवाद की अन्य सभी क्षुद्र और विद्वेषपूर्ण युक्तियों की भाँति अन्य सभी देशों के उद्योगों की गिरावट का कारण बनता है। लेकिन वह मुख्यतः उन उपनिवेशों के उद्योगों में बाधक बनता है और इससे उन देशों के उद्योगों में भी कोई वृद्धि नहीं होती अपितु ह्रास ही होता है जिनके समर्थन में ये युक्तियां ग्रहण की जाती हैं।"[2]

स्मिथ के ग्रन्थ का पहला वाक्य ही स्वतन्त्र व्यापार के समर्थन के साथ आरम्भ होता है। वह कहता है: "श्रम की उत्पादक शक्ति में सबसे अधिक उन्नति ... श्रम के विभाजन के परिणामों में प्रतीत होती है।" और श्रम के विभाजन से स्मिथ का 1776 में वही अर्थ था जो आज इस शब्द से हम और आप समझते हैं। उसका तात्पर्य था विशेषज्ञता से, अर्थात कारीगर को एक ही काम में तब तक लगाये रखना जब तक कि वह उसमें दक्षता प्राप्त न कर ले। "उदाहरणार्थ, हम एक अत्यन्त छोटे निर्माण-उद्योग को लेते हैं जिसमें श्रम के विभाजन का रूप प्रायः प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है और वह उद्योग है पिन-निर्माण का। एक कारीगर जो इस व्यवसाय में शिक्षित नहीं है.... न ही वह इसमें काम आने वाली यन्त्र-प्रणाली के उपयोग से परिचित है ... सम्भवतः अपने यथा शक्य परिश्रम से भी दिन भर में एक पिन कठिनता पूर्वक बना सकेगा और

[1]*Ibid.*, vol. I, p. 407.
[2]*Ibid.*, vol. 2, p. 111.

निश्चित ही, वह किसी प्रकार भी बीस पिन नहीं तैयार कर सकेगा। लेकिन जिस प्रकार यह व्यवसाय आजकल चलाया जा रहा है, उससे न केवल सारा काम एक विलक्षण व्यापार बन गया है, अपितु यह अनेक शाखाओं में बंट भी गया है और अधिकांश भाग उसी प्रकार ही विलक्षण प्रतीत होते हैं। एक व्यक्ति तार खींचता है, दूसरा उसे सीधा करता है, तीसरा काटता है, चौथा उसकी नोक बनाता है, पांचवां टोपी बनाता है। टोपी बनाने की स्वयं अपने आप में दो-तीन विभिन्न क्रिया-विधियां हैं, टोपी को पिन लगाना एक विलक्षण व्यवसाय है, पिनों को सफेदी देना अन्य व्यवसाय है, उन्हें कागज में लगाना भी स्वयं अपने आप में एक व्यापार है और इस प्रकार पिन-निर्माण का यह महत्वपूर्ण व्यवसाय लगभग अठारह विभिन्न क्रिया-विधियों में बंटा हुआ है। कुछ कारखानों में ये समस्त क्रिया-विधियां अलग-अलग हाथों द्वारा पूरी की जाती हैं और कुछ कारखानों में एक ही व्यक्ति उनमें से दो-तीन विधियां पूरी करता है। मैंने इस प्रकार की एक छोटी-सी निर्माण-शाला देखी है जिसमें केवल दस व्यक्ति काम करते थे और उनमें से कुछ तदनुसार दो या तीन विभिन्न क्रिया-विधियां पूरी करते थे। ...वे सब मिलकर जब काम करते, तो एक दिन में लगभग 12 पौण्ड पिनें तैयार कर लेते थे। एक पौण्ड में मध्यम आकार की लगभग चार हजार से अधिक पिनें होती हैं। इस प्रकार वे दस व्यक्ति मिलकर एक दिन में 48 हजार से अधिक पिनें तैयार कर लेते थे। अर्थात्, प्रत्येक व्यक्ति 48 हजार पिनों के दसवें भाग के हिसाब से कुल चार हजार आठ सौ पिनें बना लेता था। परन्तु यदि वे सब पृथक-पृथक और स्वतन्त्र रूप से काम करते और उनमें से किसी को भी इस व्यवसाय-विशेष का प्रशिक्षण न मिला होता तो निश्चित ही, उनमे से कोई बीस पिन भी न बना सकता, सम्भवतः दिन भर में एक पिन भी न बना पाता। अर्थात्, वे अब अपनी विभिन्न क्रिया-विधियों में एक उपयुक्त विभाजन और संयोजन के फलस्वरूप जितना कर पाने में समर्थ हैं, उसका दो सौ चालीसवां और सम्भवतः अड़तालीस सौंवा भाग भी न कर पाते।"[1]

फिर क्या? मान लीजिए कि आप एडम स्मिथ से सहमत हैं कि श्रम का विभाजन अधिक-प्रवीणता, समय की बचत और सामान्य दक्षता के परिणामस्वरूप श्रम की उत्पादकता में वृद्धि करता है। तो उससे क्या? इसका

[1] *Ibid.*, vol., 1, pp. 6, 7.

स्वतन्त्र व्यापार से क्या सम्बन्ध है?

बहुत अधिक। क्योंकि एडम स्मिथ कहता है कि श्रम का विभाजन बाजार की सीमा से निर्धारित होता है। "क्योंकि विनिमय की शक्ति श्रम के विभाजन का अवसर प्रदान करती है, अतः उस विभाजन की सीमा उसे शक्ति की सीमा के अनुसार ही, अथवा, दूसरे शब्दों में, बाजार की सीमा के अनुसार सीमित रखती है। यदि बाजार बहुत छोटा होगा, कोई भी व्यक्ति अपने आपको पूर्णतः किसी एक काम के लिये अर्पित नहीं कर सकता है। क्योंकि इससे वह अन्य व्यक्तियों के श्रम के उत्पादन के भाग में अपने श्रम द्वारा अपने निजी उपभोग के अतिरिक्त जो उत्पादन करेगा, बाजार में उसके विनिमय की शक्ति का अभाव होगा।"[1]

अगर उत्पादकता की वृद्धि श्रम के विभाजन से होती है और श्रम का विभाजन बाजार की सीमा पर निर्भर है तो बाजार जितना व्यापक होगा, श्रम का विभाजन भी उतना अधिक होगा और उत्पादकता में उतनी ही वृद्धि होगी। अर्थात्, राष्ट्र की सम्पदा उतनी ही अधिक बढ़ेगी। क्योंकि स्वतन्त्र व्यापार से आप अपने बाजार को जहां तक चाहें, बढ़ा सकते हैं, इसलिये आप श्रम का विभाजन जितना चाहें, कर सकते हैं और इस प्रकार आप उत्पादकता को भी यथाशक्ति बढ़ा सकते हैं। अतः स्वतन्त्र व्यापार वांछनीय है।

यह उलझी हुई-सी बात है, इसे समझने का एक सीधा मार्ग यह है।

1. उत्पादकता की वृद्धि श्रम के विभाजन में है।
2. श्रम का विभाजन बाजार की सीमा के अनुसार घटता-बढ़ता है।
3. बाजार स्वतन्त्र व्यापार द्वारा अधिकतम सीमा तक विस्तृत हो सकता है।

अतः स्वतन्त्र व्यापार से उत्पादकता में वृद्धि होती है।

एक संकेत और। देशों के बीच स्वतन्त्र व्यापार से श्रम का विभाजन अधिकतम सीमा तक ले जाया जा सकता है। विश्व क्षेत्र में भी श्रम के विभाजन के वही लाभ हैं जो एडम स्मिथ के पिन-निर्माण के कारखाने में थे। इससे प्रत्येक देश उन वस्तुओं के निर्माण में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर सकता है, जिनका उत्पादन वहां सबसे सस्ता पड़ता है और इस प्रकार संसार की कुल सम्पदा में वृद्धि होती है।

[1] *Ibid.*, vol. 1, p. 19.

लेकिन यह तो व्यापारवादी नियन्त्रण, व्यवस्था और प्रतिबन्धों के विरुद्ध है जिसके लिये हमने अध्याय के आरम्भ में ही एडम स्मिथ की चर्चा की है। उद्योगों में हस्तक्षेप के सम्बन्ध में वह क्या कहता है? निम्न उद्धरण में वह वृथा हस्तक्षेप के लिये सरकार की निन्दा करता है: "किसी विशेष उद्योग में जो पूंजी साधारणतः लगाई जा सकती है, उसकी अपेक्षा चाहे उसके लिये समाज की अधिक पूंजी खींचने के उद्देश्य से असाधारण प्रोत्साहन दिया जाए अथवा किसी उद्योग पर असाधारण प्रतिबन्ध लगाकर उससे कुछ पूंजी खींची जाए दोनों ही अवस्थाओं में, इस प्रकार का प्रयत्न करने वाली प्रत्येक व्यवस्था वस्तुतः उस महान् उद्देश्य की विध्वंसक है, जिसे वह चाहती है। यह प्रयत्न वास्तविक सम्पदा और महानता की ओर बढ़ते हुए समाज को गति देने के स्थान पर उसमें अवरोध उत्पन्न करता है और उसकी भूमि एवं उसके श्रम के वार्षिक उत्पादन को बढ़ाने की अपेक्षा कम करता है।

"अतः प्राथमिकता अथवा प्रतिबन्ध की समस्त व्यवस्थाएं इस प्रकार पूर्णतः समाप्त कर देने से प्राकृतिक स्वतन्त्रता की सीधी और सरल व्यवस्था स्वयं ही अपने आपको स्थापित कर लेती है। प्रत्येक व्यक्ति, जब तक कि वह न्याय के कानूनों का उल्लंघन न करे, अपने हितों को अपने ढंग से प्राप्त करने और अपनी पूंजी और अपने उद्योग को किसी भी अन्य व्यक्ति अथवा संस्था की प्रतिद्वन्द्विता में लाने के लिये पूर्णतः स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है।"[1]

अन्तिम वाक्य को फिर पढ़िये और तब आप समझ सकेंगे कि राष्ट्रों की समृद्धि क्यों उस युग में व्यवसायी समाज की बाइबिल बन गया था, जिस युग में व्यापार प्रगति के लिये छटपटा रहा था पर उसके प्रत्येक कदम पर असुविधाजनक व्यवस्थाओं की श्रृंखलाएं पड़ी हुई थीं।

[1]*Ibid.*, vol. 2, p. 184

13. "क्रान्ति के पथ पर ...."

उस सरकार के बारे में आप क्या सोचेंगे जो निर्धनों पर कर लगाती है और धनिकों पर नहीं? आप पर पहली प्रतिक्रिया यह होगी कि वह सरकार सनकी है। फिर विचार करने पर सम्भवत: आप सोचें कि किसी सीमा तक अमरीका की सरकार आज यही तो कर रही है। तथापि, आपको ऐसे अनेक लोग मिल जाएंगे जो इस विषय पर आप से तर्क करेंगे और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि अमरीका में धनी लोग कर के अपने उचित भाग से कुछ अधिक ही देते हैं। लेकिन इस सत्य के विरुद्ध कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता कि अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की सरकार निर्धनों पर कर लगाती थी और धनिकों पर नहीं।

ऐसा कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता क्योंकि विशिष्टाधिकार प्राप्त वर्गों ने स्वयं स्वीकार किया है कि वे व्यवहारत: उस समय के सभी करों से मुक्त थे। पादरी और जमींदार वर्ग समझता था कि अगर उन्हें भी साधारण लोगों की भांति कर देने पड़े तो फ्रांस मिट जाएगा। जब फ्रांस की सरकार के खर्चे निरन्तर तेजी के साथ बढ़ रहे थे, और जब आय निर्गम के विशाल अन्तर को पाटने में असमर्थ हो रही थी, और फ्रांस की सरकार आर्थिक रूप से बुरी अवस्था में थी, उस समय कुछ फ्रांसीसियों को इस कठिनाई से पार उतरने का एक ही मार्ग सूझ पड़ा कि अधिकार-प्राप्त और अधिकार विहीन सभी लोगों पर समान रूप से कर लगाए जाएं। 1776 में फ्रांस के वित्तमन्त्री तुर्गो ने कर-व्यवस्था में अत्यावश्यक सुधारों को लाने का प्रयास किया लेकिन विशिष्टाधिकार-प्राप्त वर्गों ने उनमें से एक को भी स्वीकार न किया। उन्होंने पैरिस की संसद के समक्ष प्रदर्शन किए और निम्न शब्दों में अपनी स्थिति को पूर्णत: स्पष्ट कर दिया: "न्याय का पहला सिद्धान्त यह है कि जिसके पास जो कुछ है उसकी रक्षा की जाए। इस सिद्धान्त के अनुसार केवल सम्पत्ति के

अधिकार का संरक्षण ही नहीं अपितु व्यक्ति के उन प्राप्यों की रक्षा करना भी समाहित है जो जन्म और सामाजिक स्थिति के कारण उसे प्राप्त होते हैं .... कानून के इस नियम और न्याय नीति के अनुसार ऐसी प्रत्येक व्यवस्था, जो मानवता और परोपकारिता के आवरण में, कर्तव्यों की समानता की स्थापना और आवश्यक भेदों की समाप्ति की ओर प्रवृत्त होगी, शीघ्र ही (समानता के अपरिहार्य परिणामस्वरूप) व्यवस्था को अव्यवस्था की ओर ले जाएगी और नागरिक समाज को नष्ट-भ्रष्ट कर देगी। संविधान के अनुसार फ्रांसीसी साम्राज्य अनेक पृथक राज्यों से बना है। पूजा-पाठ सम्बन्धी समस्त कार्यों को पूरा करने के लिए पादरियों की सेवा वैयक्तिक है। अभिजात श्रेणी राज्य की संरक्षा में अपना रक्त-तर्पण करती है और अपनी सम्पत्ति से सम्राट की सहायता करती है। राष्ट्र की निम्नतम श्रेणी राजा के लिए इस प्रकार की कोई भी विशिष्ट सेवा प्रस्तुत नहीं कर पाती, अतः वह कर, व्यवसाय और शारीरिक सेवा द्वारा उसके प्रति अपना दायित्व निभाती है। इन भेदों को मिटाना समस्त फ्रांसीसी संविधान को समाप्त करना है।"[1]

पादरी और अभिजात वर्ग, विशिष्टाधिकार-प्राप्त श्रेणियां थीं। वे क्रमशः प्रथम संस्था और द्वितीय संस्था कहलाती थीं। पादरियों की संख्या लगभग 130,000 थी और अभिजात वर्ग की लगभग 140,000 थी। यद्यपि ये वर्ग विशिष्टाधिकार-प्राप्त थे पर उसका अर्थ यह नहीं कि इन वर्गों के सभी लोग धनी थे अथवा वे सभी कुछ नहीं करते थे। निर्धन पादरी भी थे और निर्धन अभिजात भी। अत्यन्त धनी पादरी भी थे और अत्यन्त धनी अभिजात भी। घोर परिश्रमी पादरी भी थे और घोर परिश्रमी अभिजात भी। चर्च में काहिल लोग विद्यमान थे और अभिजात वर्ग में भी। और कुछ मध्यम लोग भी थे।

सामान्य लोग अधिकार-विहीन श्रेणी में थे। वे तृतीय संस्था कहलाते थे। फ्रांस के 25,000,000 लोगों में से इनकी संख्या 95 प्रतिशत से भी अधिक थी और जिस प्रकार विशिष्टाधिकार-प्राप्त श्रेणियों में सम्पत्ति और जीवन-स्तर के अन्तर थे, इसी प्रकार इनमें भी। उनमें से लगभग 250,000 लोग जो उच्च-मध्यवित्त अथवा पूंजीजीवी वर्ग में थे, तृतीय संस्था के शेष लोगों की

---

[1] C.D. Hazen, *The French Revolution,* vol. 1, pp. 128, 129. Henry Holt and Company, Inc., N.Y., 1932.

तुलना में काफी समृद्ध थे। अन्य वर्ग नगरों और शहरों में रहने वाले कारीगरों का था। उनकी संख्या लगभग 2,500,000 थी। शेष सभी लगभग 22,000,000 लोग भूमि पर काम करने वाले किसान थे। वे राज्य को कर देते थे, पादरियों को दशमांश देते थे और अभिजात वर्ग को उनके देय भी चुकाते थे।

हम और आप अपने जीवन को इस प्रकार ढालते हैं कि हमारा व्यय हमारी आय के अनुसार निर्धारित होता है। सरकारें भी मुख्यत: यही प्रयत्न करती हैं। लेकिन अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की सरकार का चलन उसके ठीक विपरीत था। वह मूर्खता-पूर्वक, योजनाहीन ढंग से भ्रष्टाचार के मार्गों से मुक्तहस्त होकर व्यय करती थी। एक उदाहरण से यह सिद्ध हो जाएगा। ***लीव्र रूज*** उन सभी लोगों की सूची पुस्तक है जिन्हें सरकारी पेन्शन दी जाती थी। इस सूची में एक नाई दुक्रे नाम का था। उसे 1,700 लीव्र वार्षिक पेन्शन मिलती थी क्योंकि वह कीम्ते दार्तुई की पुत्री का केश-प्रसाधक रह चुका था। इस पुत्री की मृत्यु अल्प आयु में प्रसाधन के योग्य केशों के बढ़ने से पूर्व ही हो गई थी परन्तु इससे स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। दुक्रे को पेन्शन मिलती रही।[1]

यह उन उन्मादपूर्ण तरीकों का एक उदाहरण है जिनसे फ्रांस का अर्थकोष संचालित होता था। ऐसे हजारों अन्य उदाहरण थे। आय से निर्गम का नियन्त्रण होने के स्थान पर निर्गम से आय का निर्धारण होता था। मुक्त और अदूरदर्शी ढंग से व्यय करने का अर्थ था कर के रूप में अधिक रुपया उगाहना और क्योंकि विशिष्टाधिकार-प्राप्त वर्ग अपना भाग नहीं देंगे (बल्कि अधिकारविहीनों पर स्वयं अपने कर लगाएंगे) और क्योंकि तृतीय संस्था के धनी सदस्य कुटिल मार्गों से अपने आपको प्रत्यक्ष करों से मुक्त करवा लेंगे, सम्पूर्ण भार निर्धनों पर ही आ पड़ता था। यह एक भारी बोझ था। इस युग के वास्तविक चित्र में किसान अपनी पीठ पर राजा, पादरी और अभिजात वर्ग के बोझ को लादे हुए, बोझ से दुहरा हुआ दिखाई देगा।

कठोर श्रम करने वाले किसान के दैनन्दिन जीवन में करों के बोझ का क्या अर्थ था, इसे एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी द तोकुविले ने इस प्रकार दिखाया है : "अपनी आंखों के सम्मुख अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी किसान का चित्र लाइए... भूमि के साथ उसकी अनुरक्ति इतनी तीव्र है कि वह अपनी समस्त

[1]Cf. *Cambridge Modern History*, vol. VIII, p. 72.

बचत उसे खरीदने में लगा देगा... इस खरीद को पूरा करने के लिए उसे पहले शुल्क देना पड़ता है... अन्ततः वह भूमि का स्वामित्व पा लेता है; भूमि में उसका हृदय इस प्रकार गड़ा हुआ है, जिस प्रकार उसके बोए हुए बीज। ... लेकिन पुनः उसके ये पड़ोसी उसे उसके खेतों से बुलवाकर अपने लिए बेगार करने पर विवश करते हैं। वह अपनी लहलहाती फसल को उनके कूट-चक्रों से बचाने का प्रयत्न करता है; वे फिर बाधा डालते हैं। जब वह नदी पार करता है तो वे उसकी राह में मार्ग-कर उगाहने के लिए आ खड़े होते हैं। वह बाजार जाता है तो वे उसे वहां भी मिलते हैं; यहां वे उसे अपनी ही उपज बेचने का अधिकार बेचते हैं; और जब वह घर लौट कर शेष गेहूं का अपने निजी भरण-पोषण के लिए उपयोग करना चाहता है... तो वह उसे तब तक स्पर्श नहीं कर सकता, जब तक कि वह इन्हीं लोगों की चक्की पर उसे पिसवा न ले और इन्हीं की भट्ठी पर पकवा न ले। उसकी छोटी-सी सम्पत्ति की आय का एक भाग इनके भाड़ों में चला जाता है ... वह कुछ भी करे, ये दुष्ट पड़ोसी सर्वत्र उसके रास्ते में मिलेंगे और जब इनसे छुटकारा मिलता है तो अन्य व्यक्ति चर्च के काले आवरण में उसकी उपज के स्पष्ट लाभ को ले जाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं.. मध्ययुग की संस्थाओं के एक भाग की समाप्ति ने सौ गुनी गर्हित अन्य संस्थाओं को जन्म दिया जो अभी जीवित थीं।"[1]

लेकिन इसे पढ़ते हुए ऐसा लगता है, जैसे हम ग्यारहवीं शताब्दी की सामन्ती व्यवस्था के बारे में पढ़ रहे हैं। तो क्या गत सात शताब्दियों में कोई परिवर्तन नहीं हुए थे? अवश्य हुए थे। फ्रांस के 22,000,000 किसानों में अठारहवीं शताब्दी के पुराने अर्थों में केवल 1,000,000 भू-सक्त दास थे। शेष दासता से पूर्ण स्वतन्त्रता की श्रेणी तक चढ़ चुके थे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं था कि समस्त पुराने सामन्ती कर और पुरानी सेवाएं समाप्त हो गई थीं। कुछ समाप्त हो गई थीं, अनेक शेष थीं। इस तथ्य के बावजूद भी वे शेष थीं कि उनके अस्तित्व में आने के मूल कारण बहुत पूर्व ही समाप्त हो चुके थे। अभिजात, सामन्ती देय और सेवाएं इसलिए प्राप्त करते थे क्योंकि वे सैनिक संरक्षण प्रदान करते थे। पर अब वे राज-सेना का अंग नहीं रह गए थे। उनका

[1]A. de Tocqueville, *The State of Society in France before the Revolution of 1789*, pp. 54, 55. Translated by H. Reeve. Murray, London, 1856.

सैनिक कार्य समाप्त हो चुका था। एक वर्ग के रूप में वे शासन में कोई सहायता नहीं देते थे। उनके पास कोई प्रशासकीय राजनीतिक कार्य नहीं थे। वे भूमि पर कृषि नहीं करते थे। न ही वे समग्र रूप में व्यापार में ही लगे हुए थे। उनके पास कोई आर्थिक कार्य भी न था। वे बिना कुछ दिए ही धन लेते थे। प्राय: वे काहिल और परजीवी बन गए थे और अपनी रियासतों से दूर अदालतों में अपने समय का अपव्यय करते रहते थे। तथापि वे किसानों से अपने भुगतान और सेवाएं अब भी मांगते और प्राप्त करते थे। यह अतीत का अवशेष था जिसके प्रति किसान आक्रोश से भरे हुए थे। और जैसा कि द तोकुविले अपने उक्त उद्धरण के अन्तिम वाक्य में कहता है, यह तथ्यमात्र ही है कि कुछ प्रथागत देय समाप्त हो चुके थे, यह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि जो अभी शेष थे, उनके प्रति लोगों में घृणा और भी अधिक थी।

किसान अपनी आय का ठीक-ठीक कितना भाग करों के रूप में देता था? इस प्रश्न का उत्तर आपको आश्चर्यचकित कर देगा। अनुमान लगाया गया है कि उसके उपार्जन का अस्सी प्रतिशत विभिन्न कर-समाहर्ताओं द्वारा ले लिया जाता था। शेष बीस प्रतिशत में से उसे परिवार के भरण-पोषण, वस्त्र और आश्रय का प्रबन्ध करना पड़ता था। कम ही आश्चर्य होगा कि किसान असन्तुष्ट थे। इसमें भी कम ही आश्चर्य होगा कि बुरी फसल उसे भूख की सीमा-रेखा तक पहुंचा देती थी। कम ही आश्चर्य होगा कि ऐसे अवसरों पर उसके अनेकानेक पड़ोसी भूखे भिखारियों के रूप में सड़कें रौंदने लगते थे।

फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति 1789 में हुई, पर इससे यह मत समझिए कि अठारहवीं शताब्दी का किसान उससे भी बुरी अवस्था में था। जिसमें वह सत्रहवीं शताब्दी में था। नहीं। सम्भवत: वह उससे अच्छी अवस्था में था। वस्तुत: समस्त कर उगाह लिए जाने के पश्चात् भी किसान अपने अल्पशेष में से भूमि खरीदने के लिये किसी न किसी रूप में बचा ही लेता था। राज्य-क्रान्ति से सौ वर्ष पूर्व से अथवा उससे भी अधिक पूर्व से किसान अविरत भूमि खरीदते रहे हैं और जब 1789 का वर्ष चल रहा था, फ्रांस की लगभग एक-तिहाई भूमि उनके हाथों में थी। लेकिन इसने उन्हें पहले से भी अधिक असन्तुष्ट बना दिया। क्यों?

वे भूमि-बुभुक्षु थे। अपनी लालसा को वे थोड़ा-बहुत पूर्ण कर सके थे।

उनके और आगे बढ़ने में क्या बाधा थी? वह था राज्य और विशिष्याधिकार-प्राप्त वर्ग द्वारा उन पर लादा गया भारी बोझ। अब वे पहले से अधिक अच्छी तरह समझने लगे थे कि अपनी पीठ पर से इस भारी बोझ को उतार फेंकने के साथ ही वे सीधे खड़े हो सकते थे। वे पशु से मनुष्य बन सकते थे। इस तथ्य ने ही, कि उनकी अवस्था पहले से सुधर गई थी, उनकी आंखें खोल दी थीं कि क्या हो सकता है, यदि केवल ...[1]

यह बात नहीं है कि फ्रांस (और अन्य पश्चिम यूरीपीय देशों) के किसानों को पहले कभी सूझा ही नहीं कि सामन्ती भुगतानों और प्रतिबन्धों को समाप्त कर देना चाहिए। किसान-विद्रोह पहले भी होते रहे हैं। यद्यपि ये विद्रोह सामन्ती व्यवस्था के सम्पूर्ण ढांचे को उखाड़ फेंकने में सफल नहीं हो पाए थे पर उनसे किसानों की सामूहिक अवस्था में काफी सुधार हुआ। परन्तु सम्पूर्ण ढांचे को समाप्त करने के लिए किसानों को सहायता और नेतृत्व की आवश्यकता थी।

यह नेतृत्व उन्हें विकासोन्मुख मध्यम वर्ग से मिला।

यह बुजुर्आ मध्यम वर्ग ही था, जिसने फ्रांसीसी राज्य-क्रांति उत्पन्न की और इससे सर्वाधिक लाभ उठाया। मध्यवित्त वर्ग ने क्रान्ति की क्योंकि उसे करनी ही थी। अगर ये अपने दमनकर्ताओं को उखाड़ फेंकने में सफल न होते तो स्वयं कुचल दिये जाते। जैसे एक चूजा अण्डे के खोल के भीतर बढ़ता रहता है और अन्त में इस अवस्था तक पहुंच जाता है कि या तो वह उस खोल को तोड़कर बाहर निकले या मर जाए, उसी प्रकार उद्योग और व्यापार पर विनियमन, नियन्त्रण और प्रतिबन्ध, छोटे-छोटे वर्गों को प्राप्त एकाधिकार और विशिष्टाधिकारों के सरकारी अनुदान, सड़े-गले रुढ़िवादी व्यापारी-संघों द्वारा प्रगति में निरन्तर गतिरोध, असमान बंटे हुए और निरन्तर बढ़ते हुए करों का बोझ, पुराने कानूनों का अस्तित्व और ऐसे नए कानूनों का निर्माण जिनमें इनकी कोई आवाज न थी, हस्तक्षेपी सरकारी अधिकारियों की बढ़ती हुए संख्या, सदैव बनी रहने वाली सरकारी ऋण की विशाल राशि—वह खोल था, जिसका तोड़ा जाना इस बढ़ते हुए बुजुर्आ मध्यम वर्ग के लिए अनिवार्य हो गया था। घुट-घुट कर पीड़ादायक मृत्यु को प्राप्त करने की अपेक्षा इस विकासोन्मुख बुजुर्आ मध्यम वर्ग ने यह

---

[1]Cf. L. Madelin, *The French Revolution,* 3rd edition, 1922. p. 11. William Heinemann, London.

अच्छी राह निकाली कि इस खोल को ही तोड़ दिया जाए।

बुजुर्आ वर्ग के लोग कौन थे? वे लेखक थे, डाक्टर थे, अध्यापक थे, वकील थे, न्यायाधीश थे, सरकारी अधिकारी थे–वह शिक्षित वर्ग था। वे व्यापारी थे, निर्माताा थे, साहूकार थे–वह धनी वर्ग था; संचित धन के रूप में भी और अधिक धन की चाह के रूप में भी। इन सबके अतिरिक्त वे चाहते थे–बल्कि उसकी आवश्यकता भी थी–कि उस समाज से सामन्ती कानूनों का शासन समाप्त कर दिया जाए, जो वस्तुत: अब सामन्ती रहा ही नहीं था। उनकी आवश्यकता थी कि अपनी तंग सामन्ती बण्डी को उतार कर उसके स्थान पर खुला पूंजीवादी कोट पहना जाए। आर्थिक क्षेत्र में उन्हें अपनी आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति भू-अर्थशास्त्रियों और एडम स्मिथ के लेखों में मिली। सामाजिक क्षेत्र में उन्हें अपनी आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति बाल्तेयर, दिदरो और विश्वकोषकारों के लेखों में मिली। वाणिज्य और उद्योग का *लैसे-फेयर*, धर्म और विज्ञान के क्षेत्र में "विवेक के शासन" के रूप में अभिव्यक्त हुआ।

इससे अधिक बेचैन बना देने वाली बात और कोई नहीं होती कि आप अपने किसी ऐसे साथी को देखें जो परिश्रम में आपके सामने योग्यता और सामर्थ्य नहीं रखता पर किसी "प्रभाव" के कारण कोई ऊंचा पद पा जाता है। मध्यवित्त वर्ग बहुत कुछ इस स्थिति में था। उसके पास प्रतिभा थी, संस्कृति थी, धन था लेकिन समाज में उसकी वह कानूनी स्थिति नहीं थी जो इन वस्तुओं से उन्हें मिलनी चाहिए थी। "बर्नावे उसी दिन क्रान्तिकारी बन गया, जिस दिन उसकी मां को एक अभिजात द्वारा उस कक्ष से निकाल दिया गया, जिसमें वह ग्रेनोबल के थिएटर में बैठी थी। श्रीमती रौलेण्ड की शिकायत है कि जब उसे उसकी मां के साथ फौण्टेने की गढ़ी में रात्रि-भोजन के लिए रुकने के लिए कहा गया तो भोजन उन्हें नौकरों के निवास-स्थान पर परोसा गया। पुरानी शासन-पद्धति के कितने ही शत्रु घायल स्वाभिमान के कारण बन गए थे।"[1]

बुजुर्आ वर्ग के लोगों के पास भूमि कम थी पर उनके पास पूंजी थी। उन्होंने राज्य को ऋण दिया था। वे उसे वापिस चाहते थे। सरकार के ढंग को देखते हुए वे काफी अच्छी तरह से जानते थे कि राष्ट्रीय धन के व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण प्रबन्ध से दिवाला निकलना अनिवार्य था। वे अपनी बचत के बारे में सचेत थे।

[1] *A. Mathiez, The French Revolution*, p. 13. Alfred A. Knopf, N.Y., 1928.

बुर्जुआ वर्ग राजनीतिक शक्ति को अपनी आर्थिक शक्ति से मापना चाहता था। उनके पास सम्पत्ति थी, वे अधिकार चाहते थे। वे यह निश्चित कर लेना चाहते थे कि उनकी सम्पत्ति इस पतनोन्मुख समाज के असुविधाजनक नियन्त्रणों से मुक्त हो जाएगी। वे यह निश्चित कर लेना चाहते थे कि सरकार को दिए हुए ऋण उन्हें वापस मिल जाएंगे। इन बातों को निश्चित करने के लिए उन्हें केवल अपनी आवाज ही पैदा नहीं करनी थी अपितु सरकार में भी आवाज पैदा करती थी। उन्हें अवसर मिला और उन्होंने उसे हस्तगत कर लिया।

उन्हें अवसर मिला क्योंकि फ्रांस ऐसे बखेड़ों में पड़ गया था कि अब पुराने ढंग से चलना सम्भव नहीं रह गया था। अभिजात वर्ग के एक सदस्य कोम्ते द. कैलोन द्वारा ही यह स्वीकार किया गया। अर्थ-मंत्री के महत्वपूर्ण पद पर रहते हुए वह दीवारों के हस्तलेखों को पढ़ने की अच्छी स्थिति में था। "फ्रांस का राज्य मिले-जुले प्रशासन के साथ पृथक-पृथक राज्यों और प्रदेशों से बना है, जिसके प्रदेश एक दूसरे के बारे में कुछ नहीं जानते हैं; जहां कुछ जिले बोझ से पूर्णतः मुक्त हैं और उनका पूरा भार दूसरों द्वारा उठाया जाता है; जहां सबसे धनी वर्ग पर सबसे हल्के कर हैं; जहां विशिष्टाधिकारों ने सम्पूर्ण सन्तुलन को नष्ट कर डाला है; जहां कोई स्थायी शासन अथवा सामान्य निर्देश होना असम्भव है निश्चित ही यह दोषों से भरपूर सबसे अधूरा राज्य है और इसकी वर्तमान अवस्था में ***शासन चलाना असम्भव*** है।"[1]

अन्तिम तीन शब्दों पर ध्यान दीजिए। शासक-श्रेणी का एक सदस्य स्वीकार करता है कि अब शासन चलाना असम्भव है। इसमें असन्तुष्ट जन-समूह को और जोड़ लीजिए। अब शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषी एक प्रतिभाशाली विकासोन्मुख श्रेणी को इस मिश्रण को अलोड़ित करने दीजिए और परिणाम होगा क्रान्ति! 1789 में यही हुआ। इसी को फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति कहते हैं।

क्रान्तिकारियों के उद्देश्यों का संक्षिप्त सरल विवरण उनके एक नेता अबेसीए द्वारा ***तृतीय संस्था क्या है*** शीर्षक एक लोकप्रिय प्रपत्र में इस प्रकार दिया गया था: "हमें अपने आपसे तीन प्रश्न पूछने चाहिए:

[1]L. Madelin, *op. cit.*, pp. 11, 12.

पहला : तृतीय संस्था क्या है? सब कुछ।

दूसरा: हमारी अब तक की राजनीतिक व्यवस्था में हमारा क्या स्थान रहा है? कुछ नहीं।

तीसरा: यह स्थिति आपसे क्या कहती है? कुछ कीजिए।"

यद्यपि यह सत्य था कि तृतीय संस्था के सभी सदस्य कारीगर, किसान और बुजुर्आ "कुछ बनने के लिए" प्रयत्न कर रहे थे, पर मुख्यत: यह अन्तिम वर्ग ही था, जिसने वह पा लिया, जो वह चाहता था। बुजुर्आ वर्ग ने नेतृत्व दिया, जबकि अन्य वर्गों ने वास्तविक संघर्ष में भाग लिया और यह बुजुर्आ वर्ग ही था जिसने सबसे अधिक लाभ प्राप्त किया। क्रान्ति-काल में, अपने आपको धनी और शक्तिशाली बनाने के इसने एक पर एक अवसर प्राप्त किए। उसने चर्च और अभिजात वर्ग से छीनी हुई भूमि पर सट्टे लगाए और धूर्ततापूर्ण सैनिक-अनुबन्धों से विशाल धन कमाया।

क्रान्तिकाल में क्या हो रहा था, इसका निर्धन श्रमिक वर्ग के प्रवक्ता मरट ने इन शब्दों में वर्णन किया है: "विप्लव के समय लोगों ने अपनी राह की हर बाधा को अपनी संख्या के बल से चूर-चूर कर डाला, लेकिन आरम्भ में उन्होंने कितनी भी शक्ति प्राप्त क्यों न की हो, अन्तत: वे षड्यन्त्रकारी, चतुर, कुशल और धूर्त उच्चवर्ग द्वारा पराजित हुए। उच्चवर्ग के शिक्षित और चतुर षड्यन्त्रकारियों ने आरम्भ में निरंकुश शासकों का विरोध किया, लेकिन केवल जन-समुदाय का विश्वास प्राप्त कर लेने और उनकी शक्ति का उपयोग कर लेने के पश्चात् उन्हीं के विरुद्ध हो जाने के लिए और अपने आपको विशिष्टाधिकार की स्थिति तक पहुंचाने के लिए, जहां से निरंकुश शासक अधिकार-च्युत कर दिए गए थे। क्रान्ति समाज के निम्नतम वर्गों के लोगों, मजदूरों, कारीगरों, छोटे दूकानदारों, किसानों, अकुलीनों और उन्हीं अभागों द्वारा की जाती है, जिन्हें निर्लज्ज धनिक जमघट कहते हैं और रोमवासी जिन्हें निर्लज्जातापूर्वक सर्वहारा कहते थे। लेकिन जिस बात को उच्च वर्ग ने सदैव छिपाया है, वह यह तथ्य है कि क्रान्ति पूर्णत: भू-स्वामियों, विधि-वेत्ताओं, और चालबाजों के लाभ की ओर मोड़ दी गई थी।"[1]

---

[1]E.J. Sieyes, *Qu' Estece Que L-Tiers Etate?* (1789). Published by Societe de L'Histories De La Revolution Francaise. Paris 1888.

जो कुछ हुआ, उसका यह एक सही चित्रण था। क्रान्ति समाप्त हो जाने के पश्चात् बुजुर्आ वर्ग ने ही फ्रांस में राजनीतिक शक्ति प्राप्त की थी। जन्म का विशिष्याधिकार वास्तव में ही समाप्त कर दिया गया था पर उसका स्थान व्यापार के विशिष्टाधिकार ने ले लिया था। "स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व"[1] सभी क्रान्तिकारियों का लोकप्रिय नारा था लेकिन इसे वास्तव में बुजुर्आ वर्ग ने ही प्राप्त किया।

नैपोलियन की सँहिता के अध्ययन से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। इसकी रचना स्पष्टतः सम्पत्ति के संरक्षण के लिए हुई है–सामन्ती नहीं, बुजुर्आ वर्ग की सम्पत्ति की रक्षा के लिए। सँहिता में लगभग 2,000 विधाएं हैं जिनमें से केवल 7 श्रम से सम्बन्धित हैं और लगभग 800 सम्पत्ति से। ट्रेड यूनियनें और हड़तालें प्रतिषिद्ध है किन्तु मालिकों के संगठन ठीक हैं। मजदूरी के सम्बन्ध में अदालती झगड़ों में सँहिता कहती है कि मालिक के कथन पर ही विश्वास किया जाए, मजदूर के कथन पर नहीं। सँहिता की रचना बुजुर्आ वर्ग के लोगों द्वारा बुजुर्आ वर्ग वालों के लिए हुई थी। उसका निर्माण सम्पत्ति के मालिकों द्वारा सम्पत्ति के संरक्षण के लिए हुआ था।

जब युद्ध का धुंआ समाप्त हुआ तो देखा गया कि बुजुर्आ वर्ग ने अपनी इच्छानुसार क्रय-विक्रय का अधिकार जीत लिया था। वे जब, जहां और जिस प्रकार चाहते, खरीद और बेच सकते थे। सामन्तवाद समाप्त हो चुका था।

सामन्तवाद केवल फ्रांस में ही नहीं, बल्कि जिस देश को भी नैपोलियन की सेना ने जीता, उस प्रत्येक देश में समाप्त हो चुका था। नैपोलियन अपनी विजय-यात्रा पर अपने साथ स्वतन्त्र बाजार (और नैपोलियन सँहिता के सिद्धान्त) लाया। कम ही आश्चर्य की बात है कि विजित देशों के बुजुर्आ वर्गों द्वारा उनका प्रसन्नतापूर्वक स्वागत हुआ। इन देशों में भू-सक्त दासता समाप्त कर दी गई और कृषकों, सम्पत्ति-स्वामियों, व्यापारियों और निर्माताओं का विनियमन, नियन्त्रण और बिना प्रतिबंध के बेचने और खरीदने का अधिकार स्थापित किया गया।

फ्रांसीसी क्रान्ति के इस युग का सुन्दर संक्षेप कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक ***लुई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रुमेर*** में दिया है: "महान फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति

[1]History of the Working Class, Lesson 1, Course 2 (pamphlet), pp. 40, 41. International Publishers, N.Y.

के नायक और जन-नेता दिमोलिन, दांतों, रौबेसपियरे, सेण्ट जस्ट, नेपोलियन ने ... अपने युग का लक्ष्य प्राप्त कर लिया जो बुजुर्आ वर्ग को स्वतन्त्र कर नवीन पूंजीवादी समाज की स्थापना करना था। जैकोबिनों नें वह धरती तोड़ डाली जिसमें सामन्तवाद की जड़ें थीं और सामन्ती रईसों को उखाड़ फेंका जो वहां पैदा हुए थे। नैपोलियन ने समस्त फ्रांस में वह परिस्थिति उत्पन्न की जो इस स्वतन्त्र प्रतिद्वन्द्विता के विकास, विशाल राज्यों के विभाजन के पश्चात् भू-सम्पत्ति के लाभ-साधन और राष्ट्रीय शक्ति के औद्योगिक उत्पादन की पूर्ण उपयोगिता को सम्भव बना सकी। सीमान्त प्रदेशों के पार सर्वत्र उसने सामन्ती संस्थाओं को पूर्णत: समाप्त कर डाला...।''[1]

क्रान्ति रक्त-पूर्ण विषय है। फ्रांसीसी ढंग की हिंसा और आतंक ने अनेकों को आतंकित कर दिया। यह एक रोचक तथ्य है कि फ्रांसीसी क्रान्ति के सबसे शक्तिशाली विरोधी अंग्रेज थे। यह विशेष रूप से इसलिए रोचक है क्योंकि इंग्लैण्ड में फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति से एक शताब्दी या कुछ अधिक पहले आर्थिक शक्तियों के बराबर राजनीतिक शक्तियों को प्राप्त करने का बुजुर्आ वर्ग का संघर्ष पूरा हो चुका था और उसमें जो हिंसा हुई थी, वह सहज ही भुला दी गई थी।

तथापि, एक अन्तर था। फ्रांस में व्यापार को वास्तविक पछाड़ देने वाला प्रहार करना पड़ा जिससे कि वह फिर कभी न उठ सका; इंग्लैण्ड में व्यापार को विजय निर्णय द्वारा मिली, पछाड़ देकर नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि इंग्लैण्ड में, व्यापारी और अभिजात वर्ग एक-दूसरे से सुपरिचित थे और इसलिए अन्य देशों की अपेक्षा इंग्लैण्ड में दोनों का अच्छा साथ हो सका। अंग्रेज बुजुर्आ भूमि-सम्पन्न अभिजात-तन्त्र में सम्मिलित होने में समर्थ हो सके और दूसरी ओर भूमि-सम्पन्न अभिजात-तंत्र ने बिना अपने "आभिजात्याभिमान" की चिन्ता किए व्यापार में प्रवेश कर लिया। तथापि इंग्लैण्ड के इतिहास में, 1640 से 1688 का समय वास्तविक संघर्ष का समय माना जाता है और यह संघर्ष तभी समाप्त हुआ, जब यह तय हो गया कि पूंजीवादियों को सरकार में आवाज उठाने का अधिकार है।

आपको महान अंग्रेज राजनीतिज्ञ एडमण्ड बर्क का नाम स्मरण होगा,

---

[1]Karl Marx, *The Eighteenth Brumaire of Louis Bonaparte* (1852), p. 24. Translated by Eden and Cedar Paul. Allen & Unwin, London. 1926.

जिसने "प्रतिनिधित्व के बिना कर-निर्धारण" के सिद्धान्त के प्रश्न पर अमरीकी उपनिवेशवादियों का अत्यन्त योग्यतापूर्वक समर्थन किया था। जब उसने फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति की कठोर निन्दा करते हुए एक लेख-माला लिखी तो एक अन्य अंग्रेज लेखक ने उसे सौ वर्ष पूर्व की इंग्लैण्ड की अपनी "महान क्रान्ति" का स्मरण दिलाया: "मनुष्य के नाम पर, मानवता के नाम पर, विवेक के नाम पर ... फ्रांस के लोगों ने इस देश के प्रति ऐसा कौन-सा अपराध किया है जो अप्रतिकार्य है और जिसकी क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती? क्या वह 1789 की क्रान्ति द्वारा अपनी सरकार में परिवर्तन लाना है? वे हमसे केवल इसी बात पर भिन्न हैं कि वे हमसे एक शताब्दी पीछे हैं। क्या वह अपने सम्राट को प्राण-दण्ड देना है? ब्रिटिश राष्ट्र ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है।"[1]

इंग्लैण्ड में 1689 तक और फ्रांस में 1789 के पश्चात् बाजारों की स्वतन्त्रता के युद्ध का परिणाम बुजुर्आ वर्ग की विजय के रूप में निकला। फ्रांसीसी क्रान्ति ने सामन्तवाद पर निर्णायक प्रहार किया और इस अर्थ में 1789 को मध्य-युग का अन्तिम वर्ष कहा जा सकता है। पुजारी, योद्धा और श्रमिकों के सामन्ती समाज के ढांचे में से ही एक मध्यम वर्ग का जन्म हुआ। सालों-साल यह वर्ग अपनी बढ़ती हुई शक्ति प्राप्त करता रहा था। सामन्तवाद के विरुद्ध इसने एक लम्बे, कठोर संग्राम का आरम्भ किया था जो विशेष रूप से तीन निर्णयात्मक युद्धों द्वारा स्पष्ट अंकित है। पहला था, प्रोटेस्टेण्ट सुधार-आन्दोलन, दूसरा था इंग्लैण्ड की महान क्रान्ति और तीसरा था फ्रांस की राज्य-क्रान्ति। अठारहवीं शताब्दी के समाप्त होने तक यह वर्ग अन्ततः इतना शक्तिशाली हो चुका था कि यह पुरानी सामन्ती व्यवस्था को पूर्णतः नष्ट कर सके। इस बुजुर्आ वर्ग द्वारा सामन्तवाद के स्थान पर एक भिन्न सामाजिक व्यवस्था अस्तित्व में आई, जो माल के स्वतन्त्र विनिमय पर आधारित थी, जिसका मुख्य उद्देश्य था मुनाफा कमाना।

इस व्यवस्था को हम कहते हैं पूंजीवाद।

---

[1]Ralph Broome, *Strictures on Mr. Burke's Two Letters*, p. 4. Printed by John Thompson, Philadelphia, 1797.

द्वितीय खण्ड

पूंजीवाद से ?

14. पूंजी का जन्म

चित्रपट की टिकटों के लिये दो व्यक्ति पंक्ति में प्रतीक्षा करते हैं। दोनों व्यक्ति 2.50 रुपये वाली तीन-तीन टिकटों के लिये 7.50 रुपये खर्च करते हैं। उनमें से एक खिड़की छोड़ते ही अपने दो अन्य साथियों से जा मिलता है और तीनों थियेटर में प्रवेश करते हैं; बैठते हैं और पर्दा उठने की प्रतीक्षा करते हैं। दूसरा खिड़की छोड़ता है, थियेटर के सामने पटरी पर टहलता है और टिकट हाथ में लिये हुए आने-जाने वाले से पूछता है, "टिकट चाहिए रात के खेल के लिये, बिल्कुल बीच की सीटें?" हो सकता है कि वह उन टिकटों को 3 रुपये प्रति टिकट के हिसाब से बेचने में सफल हो जाए। हो सकता है कि वह सफल न हो। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

क्या इन दोनों व्यक्तियों के 7.50 रुपयों में कोई अन्तर है? हां, है। सट्टा लगाने वाले का रुपया ***पूंजी*** है। थियेटर देखने वाले का नहीं। दोनों में अन्तर कहां है?

रुपया पूंजी केवल तभी बनता है, जब उसे पुन: लाभ पर बेचने के लिये माल या श्रम खरीदने में लगाया जाय। सट्टेबाज व्यक्ति खेल नहीं देखना चाहता था। उसने 7.50 रुपये इस आशा में खर्च किए कि वह उन्हें कुछ अतिरिक्त लाभ के साथ वापिस पा लेगा। इसलिये उसका रुपया पूंजी के रूप में काम कर रहा था। थियेटर जाने वाले सज्जन ने अपना 7.50 रुपया खर्च करते हुए उसे वापिस पाने की कभी अपेक्षा नहीं की वह केवल खेल देखना चाहते थे। उनका रुपया पूंजी के रूप में काम नहीं कर रहा था।

इसी प्रकार जब कोई गड़रिया अपनी रोटी खरीदने के लिये रुपया पाने की इच्छा से अपनी ऊन बेचता है, वह उस रुपये का पूंजी के रूप में उपयोग नहीं करता। लेकिन जब व्यापारी ऊन के लिये इस आशा में रुपया देता है कि वह उसे अधिक कीमत पर बेचेगा तो वह अपना रुपया पूंजी के रूप में लगा रहा

है। जब रुपया किसी जोखिम या व्यापार में लगाया जाता है, जहां से वह लाभ ला सके (अथवा लाने में प्रतिश्रुत हो) तो वह पूंजी बन जाता है। दोनों में अन्तर है उपभोग के लिये खरीदने के लिये बेचना (पूंजीवाद से पूर्व) और लाभ के लिये बेचने के लिये खरीदना (पूंजीवाद)।

लेकिन वह क्या है जो पूंजीपति लाभ के लिये बेचने के लिये खरीदता है। क्या थियेटर की टिकटें? ऊन? कार? मकान? नहीं! इनमें से कुछ भी नहीं। फिर भी वह इन सबका अंग है। किसी औद्योगिक मजदूर से बात कीजिए। वह आपको बताएगा कि उसका मालिक उसे जिस वस्तु के लिये मजदूरी देता है वह है उसकी काम करने की योग्यता। मजदूर की श्रम शक्ति को पूंजीपति लाभ के लिये खरीदता है। लेकिन स्पष्ट है कि पूंजीपति अपने मजदूर की श्रम शक्ति नहीं बेचता। वह लाभ पर जो बेचता है, वह है माल जिसे मजदूर के श्रम ने कच्चे माल से तैयार माल में बदल डाला है। लाभ इस प्रकार प्राप्त होता है कि वह जो उत्पादन करता है, उसके मूल्य की अपेक्षा कम मजदूरी पाता है।

भवनों, मशीनों, कच्चे माल आदि उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का स्वामित्त्व होता है। वह मजदूरी खरीदता है और इनके मेल से पूंजीवादी उत्पादन घटित होता है।

ध्यान दीजिए कि रुपया ही पूंजी का एक मात्र रूप नहीं है। आज एक उद्योगपति के पास बहुत कम नकद रुपया हो सकता है या हो सकता है कि बिलकुल ही न हो और फिर भी वह अपार पूंजी का स्वामी हो सकता है। उसके पास उत्पादन के साधन होते हैं जब वह श्रम शक्ति खरीद लेता है तो उसकी यह पूंजी बढ़ने लगती है।

आधुनिक उद्योग एक बार आरम्भ हो जाता है तो वह स्वयं लाभ देने लगता है और शीघ्र ही अपनी पूंजी स्वयं एकत्र कर लेता है। लेकिन आधुनिक उद्योग के आरम्भ होने से पूर्व वह पूंजी कहां से आई? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है क्योंकि बिना एकत्र पूंजी के अस्तित्व के औद्योगिक पूंजीवाद किसी प्रकार सम्भव नहीं था। न ही यह स्वतन्त्र सम्पत्ति-विहीन मजदूर वर्ग के अस्तित्व बिना ही सम्भव था जिन्हें अपनी आजीविका के लिये दूसरों के लिये काम करना पड़ता है। ये दोनों परिस्थितियां किस प्रकार निर्मित हुई?

आप सम्भवतः यह उत्तर देंगे कि पूंजीवादी उत्पादन का आरम्भ करने के

लिये आवश्यक पूंजी उन होशियार लोगों द्वारा एकत्र की गई है जिन्होंने कठोर परिश्रम किया, कम से कम उतना ही खर्च किया जो अत्यावश्यक था और अपनी बचत थोड़ी-थोड़ी करके इकट्ठी करते चले गये। लोगों ने बचत की, लेकिन आरम्भ में विशाल पूंजी के एकत्र होने का यह मार्ग नहीं था। यद्यपि यह एक आकर्षक कहानी है लेकिन खेद यह है कि यह पूर्णतः सत्य नहीं है। वास्तविक कहानी इतनी सुन्दर नहीं है।

पूंजीवादी युग से पूर्व पूंजी का एकत्रीकरण मुख्यतः वाणिज्य के मार्ग से हुआ—वाणिज्य में केवल पण्य-वस्तुओं का क्रय-विक्रय नहीं अपितु विजय, लूट, शोषण आदि भी सम्मिलित हैं।

धर्म-युद्धों के लिए इतालवी नगर-राज्यों ने पश्चिमी योरोप की सहायता व्यर्थ ही नहीं ली थी। उन "धर्म" युद्धों के समीपस्थ वेनिस, जेनेवा और पीसा में अत्यन्त धनी साम्राज्य स्थापित हुए और इतालवी विजेताओं ने अपने भाग्य का पूरा लाभ उठाया। पूर्व से धन की अजस्र धारा इन व्यापारियों और साहूकारों के प्रतीक्षक हाथों तक प्रवाहित होती रही। इस विषय के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में से एक श्री जॉन ए. हौब्सन, पूर्व के साथ इटली के व्यापार के सम्बन्ध में कहते हैं: "इस प्रकार पूर्व-काल में इस लाभ-प्रद व्यापार की नींव पड़ी, जिसने पश्चिम योरोप को धन के भण्डार से भर दिया, जिसकी बाद में घरेलू उत्पादन के पूंजीवादी ढंग के विकास के लिये आवश्यकता पड़ी।"[1]

अगर श्री हौब्सन सही हैं तो हमें पूंजीवादी संगठन के प्रथम प्रारम्भ के लिये इतालवी प्रायद्वीप में दृष्टि डालनी होगी। और वहां ठीक तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में या उनसे कुछ पूर्व हम उस प्रारम्भ को देखते हैं।

लेकिन पूर्व का यह खजाना बहुत बड़ा होते हुए भी पर्याप्त नहीं था। पूंजीवादी उत्पादन का युग वास्तविक रूप से आरम्भ हो सके, इसके लिये पूंजी के पहले से विशाल और नये प्रवाह की आवश्यकता थी। सोलहवीं शताब्दी से वह पूंजी एकत्र होनी आरम्भ हुई जो आवश्यकता को पूरा करने के लिये पर्याप्त हुई। आधुनिक पूंजीवाद के विकास के प्रसिद्ध अधिकारी विद्वान कार्ल मार्क्स ने इसे संक्षेप में इस प्रकार बतलाया है: "अमरीका में सोने-चांदी की खोज,

[1]J. A. Hobson, *The Evolution of Modern Capitalism* (1894). Revised edition 1926, p. 11. Walter Scott Publishing Co., Ltd., London.

आदिवासियों की खानों में मूलोच्छेद, दासकरण और दफन; विजयों का आरम्भ और ईस्ट इंडीज द्वीपों की लूट-खसोट, काली चमड़ी के व्यापारिक शिकार के लिये समस्त अफ्रीका को पशु-भूमि में बदल डालना ये सब पूंजीवादी उत्पादन के संकेत देते हैं। ये उपाख्यानात्मक अनुष्ठान प्रारम्भिक एकत्रीकरण की मुख्य गतिविधियां थीं।"[1]

यदि आप नृशंसता, हत्या और यन्त्रणा की वह कहानी सुनना चाहते हैं जिसके समक्ष हमारी बीसवीं शताब्दी के अपराधी गिरोहों अथवा दस्युओं की गतिविधियां स्कूली बच्चों के हल्ले-गुल्ले के समान सुनाई देंगी, तो किसी मेक्सिको अथवा पेरू निवासी इण्डियन से कहिए कि वह आपको सोलहवीं शताब्दी में अपने पूर्वजों के श्वेत लोगों के प्रथम सम्पर्क में आने की कहानी सुनाये। मूल निवासियों को ईसाईयत दी गई और उसके साथ ही खानों में बलात् सेवा, मार-पीट और हत्या। लेकिन उन्होंने अपनी पुरानी दुनिया में लाद ले जाने के लिये कितना सोना-चांदी भू-गर्भ से खोद निकाला, जहां वह अन्ततः व्यापारियों और साहूकारों के हाथों में पहुंचा। (और उनके हाथों में सोना-चांदी काहिल नहीं पड़ा रहा। उसका उपयोग और अधिक धन खींचने के लिये निर्माताओं को ऋण देने में हुआ, या व्यापार में। संक्षेप में, वह पूंजी थी।)

यह सत्य है कि मेक्सिको और पेरू के विजेता कोर्टज और पिजारी स्पेनी थे और स्पेनी चिरकाल से अपने उपनिवेशों के साथ कठोर व्यवहार के लिये कुख्यात रहे हैं। लेकिन हालैण्डवासी क्या थे? क्या उनका ढंग अलग था?

सर टी. एस. रैफल्स किसी समय जावा के लैफ्टिनेण्ट गवर्नर रह चुके हैं। वे कहते हैं, "नहीं"। वे हालैण्ड के औपनिवेशिक प्रशासन को "विश्वासघात, घूसखोरी, हत्या और नीचता के असाधारण सम्बन्धों"[2] की कहानी बतलाते हैं। उनका अनुमान है कि 1613 से 1653 तक डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लगभग 6,40,000 गिल्डर प्रतिवर्ष लाभ कमाया।

इस पूंजी को एकत्र करने का एक नमूना इस प्रकार है। "मलक्का को हस्तगत करने के लिये हालैण्डवालों ने पुर्तगाली गवर्नर को घूस दी। उसने 1641

[1]Karl Marx. *Capital* (1867), translated from the third German edition by Samuel Moore and Edward Aveling, and edited by Frederick Engels, vol. 1. p. 775. Wm. Glaisher, Ltd., London, 1918.
[2]Quoted in Karl Marx, *op. cit.*, p. 776.

में उनके लिये नगर के द्वार खोल दिये। नगर में प्रविष्ट होते ही वे उसके निवास की ओर दौड़े और उसके देशद्रोह का पुरस्कार 21,875 पौण्ड 'बचाने' के लिये छलपूर्वक उसकी हत्या कर दी गई। जहां भी उन्होंने कदम रखा, वीरानी और बर्बादी छा गई। जावा के एक प्रान्त बानजुवांगी की आबादी 1750 में 80,000 थी लेकिन 1811 में केवल 18000। धन्य है वाणिज्य!"[1]

इस प्रकार हालैण्ड ने रुपये का ढेर लगा लिया। जिसकी उसे सत्रहवीं शताब्दी के पूंजीवादी राष्ट्रों की प्रमुख पांत में खड़े होने के लिये आवश्यकता थी।

इंग्लैण्ड अगला देश था जिसने सबसे महत्वपूर्ण पूंजीवादी देश होने का किरीट धारण किया। अंग्रेजों ने आवश्यक पूंजी कहां से और कैसे बटोरी? कठोर श्रम, समझदारी से रहने और बचत को एकत्र करने से? आप विश्वास न करें।

डब्लू हौविट 1838 में लन्दन से प्रकाशित अपनी ***उपनिवेशीकरण और ईसाई धर्म*** नामक पुस्तक में ***ओरियण्टल हेरल्ड*** के एक लेखक का उद्धरण प्रस्तुत करता है, जो भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के बारे में कहता है: "हमारा साम्राज्य हमें मतों से नहीं मिलता, यह कानून से भी नहीं मिला, यह प्राप्त किया गया है। यह अब भी प्रत्यक्ष शक्ति के प्रभाव से ... शासित है। देश का कोई भी भाग स्वेच्छा से हमारे अधीन नहीं हुआ है... हमें पहले केवल समुद्र तट पर अपना माल बेचने के लिये उतरने की स्वीकृति मिली थी... धीरे-धीरे, कभी शक्ति के द्वारा और कभी छल से... हमने उस धरती के सार्वभौम शासकों को अधिकार-च्युत कर दिया। हमने अभिजात लोगों को उनके समस्त अधिकारों से वंचित कर दिया है और लोगों के श्रम और साधनों पर निरन्तर दबाव डाल कर हम उनकी समस्त अतिरिक्त और ले जायी जा सकने वाली सम्पत्ति लिये जा रहे हैं।"[2]

यह लेखक क्रोधित प्रतीत होता है। ठीक है न? अगर आप 1769-1770 में भारत में होते तो हो सकता है, आप भी क्रोधित हो जाते। उस समय आपने अपने सहस्रों देशवासियों को भूख से मरते देखा होता। क्योंकि चावल नहीं था?

---

[1]K. Marx, *op. cit.*, p. 777.

[2]W. Howitt. *Colonization and Christianity,* pp. 296, 297. Longman, Orme, Brown, Green and Longmans, London, 1838.

बिलकुल नहीं। चावल पर्याप्त था। फिर अकाल क्यों? क्योंकि अंग्रेजों ने सारा चावल खरीद कर जमा कर लिया था और वे अकल्पनीय मूल्य प्राप्त किये बिना उसे बेचना नहीं चाहते थे। वे मूल्य दीन देशवासी दे नहीं सकते थे।

उपनिवेशों के साथ व्यापार मातृदेश के लिये धन लाया। योरोपीय व्यापारियों के भाग्य जाग उठे। पूंजी के एकत्रीकरण का एक विशेष स्रोत था– अफ्रीका के मूल निवासी काली चमड़ी वाले मनुष्यों का व्यापार। 1840 में प्रोफेसर एच. मेरीवेल ने आक्सफोर्ड में "उपनिवेशीकरण और उपनिवेश" पर भाषण दिये। इस क्रम में एक भाषण में उन्होंने दो महत्वपूर्ण प्रश्न पूछे और तब उनके उतने ही महत्वपूर्ण उत्तर दिये। "मैन्चेस्टर और लिवरपूल को प्रान्तीय नगरों से विशाल महानगरों में किसने बदला? अनवरत गतिशील उद्योगों और शीघ्रातिशीघ्र एकत्र होती हुई धन-राशि की गति को बनाये रखने वाला कौन है? ... उनकी वर्तमान समृद्धि नीग्रो के श्रम और रक्त पर इस प्रकार आधारित है, मानो, उसके हाथों ने उनके बन्दरगाह खोल निकाले हों और उनके वाष्प-इंजनों का निर्माण किया हो।"[1]

प्रोफेसरों के वक्तव्यों पर फब्तियां कसना आज का फैशन हो गया है। तो क्या प्रोफेसर मरीवेल का कथन निर्मूल था? उन्होंने सम्भवत: 1788 में लिवरपूल के व्यापारियों द्वारा लोक सभा को भेजी गई याचिका को पढ़ा था जो उन कुछ पथ-भ्रांत लोगों के उत्तर में भेजी गई थी जिन्होंने यह सुझाव देने की कुरुचि प्रकट की थी कि जीवित मनुष्यों का भयंकर व्यापार एक सभ्य राष्ट्र के लिये अशोभनीय है: "अत: आपके अभ्यर्थी वास्तविक चिन्ता के साथ ...अफ्रीकी दास व्यापार की पूर्ण समाप्ति के लक्ष्य से ... नई व्यवस्था बनाने के प्रयत्नों पर विचार करते हैं। ... यह व्यापार अनेकों वर्षों से निरन्तर लिवरपूल के व्यापार का अत्यंत व्यापक अंग रहा है और अब भी है... आपके अभ्यर्थी विनीत प्रार्थना करते हैं... कि धन के इस स्रोत की समाप्ति के विरुद्ध उनकी याचिका पर ध्यान दिया जाए।"[2]

---

[1]H. Merivale, *Lectures on Colonization and Colonies* (delivered in 1839, 1840 and 1841), p. 302. Oxford University Press, 1928.

[2]*Documents Illustrative of the History of the Slave Trade to America,* edited by Elizabeth Donnan. 3 vols., 1930, 1931, 1932. Vol. 2., pp. 574, 575. Published by the Carnegie Institute of Washington.

पुर्तगालियों ने नीग्रो दास व्यापार सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ आरम्भ किया। ईसाई योरोप के अन्य सभ्य देशों ने तत्काल इसका अनुकरण किया। (पहले नीग्रो दास, अमेरिका में ले जाये जाने के लिये 1619 में हालैण्ड के जहाज में आये।) अफ्रीका के असंख्य नीग्रो लोगों को पकड़ कर ढेर रुपया बनाने और उन्हें नये संसार में उपनिवेशीकरण के लिये प्राण-लेवा कठोर श्रम के लिये "कच्चे माल" के रूप में बेचने का सर्वप्रथम विचार जिस अंग्रेज को आया, वह था जॉन हाकिन्स। इस हत्यारे और अपहरणकर्ता के महान कार्य से "सुयोग्य महारानी" इतनी प्रभावित हुईं कि उन्होंने उसे उसके दूसरे दास-व्यापार अभियान के पश्चात् नाइट की उपाधि प्रदान की। इसके पश्चात ही ***सर*** जॉन हाकिन्स के रूप में उसने श्रृंखला में जकड़े हुए नीग्रो को अपना राजकीय चिन्ह निर्वाचित किया। रिचर्ड हॉकलिट से उसने गर्वपूर्वक अपने अमानुष कारनामों की कहानियां कहीं। हॉकलिट के शब्दों में 1562-1563 की इसकी प्रथम यात्रा का वर्णन इस प्रकार है: "अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त इस बात का विश्वास दिलाये जाने पर कि हिस्पायानोला में नीग्रो बहुत अच्छा व्यापारिक माल है और गिनी के समुद्र-तट पर नीग्रो सरलतापूर्वक उपलब्ध हो सकता है.. उसने स्वयं प्रयत्न करने का निश्चय किया और अपने लन्दन के सम्माननीय मित्रों को अपनी इस इच्छा की सूचना दी... उन सभी ने इस विचार को इतना पसन्द किया कि वे इस कार्य में मुक्त सहयोगी और महत्वाकांक्षी बन गये। और इस प्रयोजन से तुरन्त ही तीन अच्छे जहाजों का प्रबन्ध किया गया... वहां से वह गिनी के समुद्र तट पर सीरा लिओना से गुजरा... जहां वह काफी समय तक ठहरा और कुछ तलवार के बल पर और शेष अन्य उपायों में उसने उस देश के दिये हुए अन्य व्यापारिक माल के अतिरिक्त 300 नीग्रो हस्तगत किये। इस शिकार के साथ वह समुद्र-यात्रा पर बढ़ चला... और सारे नीग्रो (बेच दिये) जिनके विनिमय में ... उसे इतना माल मिला कि न केवल उसने अपने तीनों जहाज अदरक, चमड़े, और चीनी और कुछ मोतियों से भर लिये, अपितु उसे दो अन्य छोटी नौकाएं भी भाड़े पर लेनी पड़ीं... और इस प्रकार समृद्धि की सफलता एवं अपने और अपने उक्त महत्वाकांक्षियों के विशाल लाभ के साथ वह घर लौटा।"[1]

महारानी एलिजाबेथ "उसकी महान सफलता और अत्यधिक लाभ" से

[1] *Documents of the Slave Trade, op. cit.,* vol. I, pp. 45-47, footnote.

अत्यन्त प्रभावित हुईं। उन्होंने भविष्य के किसी भी लाभ में भागीदार बनने की इच्छा व्यक्त की। फलतः उसके दूसरे अभियान में महारानी ने दास-व्यापारी हाकिन्स को एक जहाज उधार दिया। जहाज का नाम था, ***यीशू***।

वाणिज्य यानी विजय, लूट, डाका, शोषण ये वे मार्ग थे जिनसे होकर पूंजीवादी उत्पादन को आरम्भ करने के लिये आवश्यक पूंजी का एकत्रीकरण हुआ। मार्क्स ने बिना कारण नहीं लिखा: "यदि रुपया... संसार के एक गाल पर जन्मजात रक्त-चिन्ह ले कर आता है तो पूंजी सिर से पांव तक प्रत्येक रोम-कूप से रक्त और मवाद के स्राव के साथ एकत्र होती है।"[1] वाणिज्य यानी विजय, लूट, डाका, शोषण ये प्रभावशाली मार्ग थे। इनसे विशाल लाभ प्राप्त हुए, अकल्पनीय धन-राशि एकत्रित हुई। पूंजी का जन्म हुआ।

लेकिन विशाल पैमाने पर पूंजीवादी उत्पादन के आरम्भ से पूर्व कुछ और भी आवश्यक था। पूंजी, पूंजी की भांति अर्थात् लाभार्थ प्रयोग में नहीं लाई जा सकती, जब तक कि लाभ निकालने के लिए उसमें श्रम न जोड़ा जाए। अतः श्रम का पर्याप्त सम्भरण भी आवश्यक था।

आज इस बीसवीं शताब्दी में जबकि हमारे चारों ओर बेकारी है, मजदूर किसी प्रकार का काम पाते ही उसे करने के लिये इच्छुक और तत्पर हैं; हमारे लिये यह समझना कठिन है कि एक समय था, जब उद्योगों में काम करने के लिये मजदूर प्राप्त करना एक वास्तविक समस्या थी। हमें यह "स्वाभाविक" प्रतीत होता है कि लोगों की एक श्रेणी ऐसी हो, जो मजदूरी के लिये काम करने को कारखानों में भरती होने के लिये उत्सुक रहे। पर यह किसी प्रकार भी "स्वाभाविक" नहीं है। एक व्यक्ति दूसरे के लिये केवल तभी काम करेगा, जब उसे करना ही पड़े। जब तक मनुष्य भूमि पा सकता है जहां वह स्वयं अपने लिये उत्पादन कर सके, वह किसी अन्य के लिये काम नहीं करेगा। अमरीका के इतिहास से यह सिद्ध है। जब तक वहां पश्चिम में सस्ती अथवा मुफ्त भूमि उपलब्ध थी, भूमि बुभुक्ष लोगों का पश्चिम की ओर जाना बना रहा जिसका अर्थ था-पूर्व में मजदूरों की कमी। आस्ट्रेलिया में भी यही हुआ। "जब स्वान नदी के किनारे उपनगर स्थापित किया गया... श्री पील ने 50,000 पौण्ड और 300

---

[1]Karl Marx, *Capital, op. cit.*, vol. 1. p. 786.

मजदूर ...अपने साथ लिये.... लेकिन वे सब भूमि प्राप्त करने के मोह में बह गये... और कुछ ही दिनों में उनके पास उनका बिस्तर करने या नदी से पानी ला देने के लिये भी कोई नौकर न रहा।''[1] श्री पील से हमें सहानुभति हो सकती है जो यह नहीं समझते थे कि जब तक कामगर को उत्पादन के अपने साधन– इस अवस्था में भूमि–प्राप्त हो सकते हैं, वह किसी अन्य के लिये काम नहीं करेगा।

जो कुछ इन कामगरों के लिये सत्य है जिनके लिए भूमि ही उत्पादन का साधन है, वही उन कारीगरों के लिये भी सत्य है जिनके उत्पादन का साधन उनके कारखाने और औजार हैं। जब तक ये कारीगर उत्पादन के लिये औजारों का प्रयोग कर सकते हैं और उत्पादन को बेचकर उन्हें पर्याप्त जीविका प्राप्त हो सकती है, वे किसी अन्य के लिये काम नहीं करेंगे। वे क्यों करें?

केवल जब कारीगरों के पास भूमि और औजार नहीं होते–जब वे उत्पादन के इन साधनों से प्रथक हो जाते हैं–वे किसी अन्य के लिये काम करने जाते हैं। वे इसलिये ऐसा नहीं करते कि वे ऐसा चाहते हैं अपितु इसलिये कि जीवन के लिये अनिवार्य भोजन, वस्त्र और आवास खरीदने के लिये उन्हें ऐसा ***करना पड़ता है।*** उत्पादन से अलग होकर मजदूरों के सम्मुख कोई चारा नहीं रहता; उन्हें अपनी एकमात्र शेष वस्तु बेचने पड़ती है। और वह है काम करने की शक्ति, श्रम!

अतः पूंजीवादी उत्पादन के लिये आवश्यक श्रम का सम्भरण किस प्रकार सम्भव हो सका, इसकी कहानी इस बात की कहानी है कि किस प्रकार कामगरों को उनके अपने उत्पादन के साधनों से वंचित किया गया। ''इसलिये जो प्रक्रिया पूंजीवादी व्यवस्था का मार्ग बनाती है, वह उस प्रक्रिया से भिन्न नहीं हो सकती जो कामगार से उसके उत्पादन के साधन छीन लेती है। वह प्रक्रिया एक ओर जीविका और उत्पादन के साधनों को पूंजी में बदल देती है और दूसरी ओर प्रत्यक्ष उत्पादकों को मजदूर श्रमिकों में। ... जब उसका भूमि से सम्बन्ध टूट जाता है और वह किसी अन्य के दासत्व, भू–दास्ता, अथवा अनुबंध से मुक्त होता है तब प्रत्यक्ष उत्पादक यानी मजदूर को सिवाय स्वयं अपने को बेचने के अन्य मार्ग नहीं रह जाता। अपनी श्रम–शक्ति का स्वतन्त्र विक्रेता बनमे के लिये,

[1]Merivale. *op.cit.*,p. 256.

जो अपनी विक्रय-वस्तु श्रम को, जहां भी बाजार देखता है, ले जाता है, उसके लिये व्यापारी-संघों, उनके शिशिक्षु और कर्मी के विनियमनों और उनकी श्रम-व्यवस्था के बन्धनों से मुक्त होना भी आवश्यक हो जाता है... ये नये स्वतन्त्र लोग अपने श्रम के विक्रेता तभी बने, जब उनके उत्पादन के साधन उनसे छीन लिये गये और उन्हें पुरानी सामन्ती व्यवस्था द्वारा प्रदत्त अस्तित्व की रक्षा की गारण्टी से भी वंचित कर दिया गया। उनके स्वामित्वहरण का यह इतिहास मनुष्यता के इतिवृत्त में रक्त और अग्नि के अक्षरों से लिखा गया है।''[1]

सबसे पहले इंग्लैण्ड में विशाल पैमाने पर पूंजीवाद का विकास हुआ। अत: उसके जन्म के सूत्र यहां सबसे स्पष्ट मिलते हैं। पूर्व अध्यायों में हमने देखा है कि किस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में क्षेत्रबन्दी और अत्यधिक ऊंचे भाड़ों ने अनेकानेक किसानों को भूमि से हटाकर सड़क पर डाल दिया था, जहां से वे भिखारी, गुण्डे और चोर बने। इस प्रकार आरम्भ में एक स्वतन्त्र सम्पत्तिविहीन मजदूर-वर्ग का निर्माण हुआ।

क्षेत्रबन्दी अठारहवीं शताब्दी में और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में फिर हुई। इस बार वह अधिक व्यापक थी। अत: भूमि-हीन अभागों की यह सेना बहुत बढ़ गई जिसे मजदूरी के लिये अपनी श्रम-शक्ति बेचनी पड़ती थी। सोलहवीं शताब्दी की क्षेत्रबन्दी का न केवल अधिकार-वंचित लोगों द्वारा ही विरोध हुआ अपितु भूखी जनता के विप्लव के भय से सरकार ने भी इसका विरोध किया। लेकिन अठारहवीं शताब्दी की क्षेत्रबन्दी कानून के संरक्षण में हुई। भूमि-पतियों की सरकारों द्वारा भूमि-पतियों के लिये बनाये गये ''क्षेत्रबन्दी कानून'' नित्य की बात हो गये थे। भूमि पर श्रम करने वाले भूमि-हीन श्रमिक बन गये और परिणामत: मजदूरी पर श्रम करने के लिये उद्योगों में जाने के लिये तैयार हो गये।

यद्यपि क्षेत्रबन्दी आन्दोलन इंग्लैण्ड की विशिष्ट वस्तु है, किसी सीमा तक यह समस्त यूरोप में व्यवहार में लाया गया। इसके प्रमाण हमें 1790 में फ्रांस में शेफे के किसानों की निम्न शिकायत में मिलते हैं जो उन्होंने रियासत के प्रतिनिधियों के नाम की थी: ''अंजू में शेफे के ग्रामवासी ... अपने ग्राम के सार्वजनिक चरागाहों के सम्बन्ध में अपनी इच्छाएं, प्रार्थनाएं और शिकायतें ...

[1] Marx, *Capital, op. cit.*, vol. I, p. 738

आपके सम्मुख प्रस्तुत करने का साहस करते हैं... जिस पर कुछ धनी, शक्तिशाली अथवा लोभी व्यक्तियों ने अन्यायपूर्ण ढंग से अधिकार कर लिया है. .. इस गांव की जनता... शेफे के भू-स्वामियों के पक्ष में दिये गये परिषद के निर्णय से अपनी सम्पत्ति से वंचित कर दी गई है... लोगों के पास पशुओं को चराने के लिये केवल वही चरागाह था और उससे वंचित हो जाने के कारण वे असहाय हो गये हैं और घोर निर्धनता ने उन्हें जकड़ लिया है। अर्थशास्त्रियों द्वारा स्थापित नयी व्यवस्था लोगों में यह विश्वास भर रही है कि साधारण जन कृषि के योग्य नहीं हैं। शक्तिशाली भू-स्वामी, धनी व्यक्ति ग्रामों के साधारण जनों की भूमि को छीन कर उसकी लूट से अपना घर भर रहे हैं... कुछ ग्रामवासियों के लिये चरागाहों से बढ़कर मूल्यवान कुछ भी नहीं है। उसके बिना कृषक पशु नहीं रख सकते हैं। बिना पशुओं के उनके पास खाद नहीं होगी और बिना खाद के वे अच्छी फसल की आशा किस प्रकार कर सकते हैं?"[1]

चरागाहों की हानि ने, जिसकी ये फ्रांसीसी किसान शिकायत कर रहे हैं, अंग्रेज किसानों पर भी भारी प्रहार किया। सफल कृषि के लिये पशुओं को रखने की सुविधा अनिवार्य है। जब किसानों ने चरागाहों के अधिकार खो दिये, तब उसका अर्थ उनके लिये सर्वनाश के अतिरिक्त और कुछ न था। यह स्वाभाविक ही था कि जिन भू-स्वामियों ने उन्हें उनके चरागाहों के अधिकारों से वंचित रखा और जिस सरकार ने वे उपाय लागू किये, जिन्होंने उन्हें भूमि से अलग कर दिया, उनके विरुद्ध वे अत्यन्त कटु थे। उनका असन्तोष निम्न छोटी-सी तुकबन्दी में स्पष्ट झलकता है जो उन दिनों अत्यन्त लोकप्रिय थी।

> कानून उस स्त्री या पुरुष को बन्दी बनाता है
> जो चरागाह से बत्तख चुराता है;
> लेकिन उस बड़े बदमाश को खुला छोड़ देता है
> जो बत्तखों से चरागाह चुराता है।

यह मत सोचिये कि भू-स्वामी उद्योगों के लिये श्रम-शक्ति जुटाने के

[1] *Collections de Documents Inedits Sur l' Histoire Economique de la Revolution Francaise. Les Comites des Droits Feodaux et le Legislation et l'Abolition du Regence Seigneurial, 1789-1793,* pp. 142, 143, Documents Publics par P. Sagnac et. P. Caren. Imprimerie Nationale, Paris, 1907.

उद्देश्य से किसानों को भूमि से अलग कर रहे थे। यह विचार उनके मन में कभी नहीं आया। वे तो केवल भूमि से अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहते थे। अगर क्षेत्रबन्दी न करने से वे अधिक रुपया पा सकते तो उन्होंने क्षेत्रबन्दी न की होती। लेकिन उन्हें, भूमि को खुला छोड़ देने की अपेक्षा बन्द रखने में अधिक लाभ था। आर्थर यंग 1776 में श्रौपशायर की यात्रा करते हुए इस ओर संकेत करता है: "क्षेत्रबन्दी से भाड़े प्राय: दुगुने हो जाते हैं।... देवेन्त्री से तीन मील पर केवल एक वर्ष पुराना एक बन्द क्षेत्र ब्रैम्स्टन को मिला।... खुले क्षेत्र का किराया 6 शिलिंग से 10 शिलिंग था लेकिन अब यह (पट्टे पर) 20 शिलिंग से 30 शिलिंग है।"[1]

सम्भवत: अभागे मजदूरों को, जो सदैव भूमि पर आश्रित रहे हैं, भूमि से हटाने का सबसे कुख्यात उदाहरण स्काटलैण्ड के सदरलैण्ड की डचेस का है। मार्क्स बतलाते हैं: "जहां और किसान छुटकारा पाने के लिये नहीं हैं, वहां झोपड़ियों की 'सफाई' आरम्भ हुई जिससे कि कृषक मजदूर अपने जोते हुए खेतों पर अपने निजी रहने का घर भी बना न सकें।... 19वीं शताब्दी में अपनाये गये ढंग के उदाहरणों में सदरलैण्ड की डचेस द्वारा की गई 'सफाई' का उदाहरण पर्याप्त होगा। अर्थशास्त्र में निष्णात इस महिला ने ...सम्पूर्ण प्रदेश को भेड़ों के पालने की भूमि में बदलने का निर्णय किया। इस प्रदेश की आबादी पहले ही इस प्रकार की प्रक्रिया द्वारा 15,000 रह गई थी। 1814 से 1820 तक लगभग 3,000 परिवारों के इन 15,000 निवासियों को योजना-बद्ध ढंग से खदेड़ा जाता रहा। उनके सभी गांव नष्ट कर दिये गये, जला दिये गये। सभी खेत चरागाहों में बदल दिये गये। अंग्रेज सैनिकों ने बलपूर्वक क्षेत्र खाली करवाये। एक स्त्री ने अपनी झोपड़ी खाली करने से इंकार कर दिया था। वह उस झोपड़ी में ही जीवित जलाकर राख कर दी गई। इस प्रकार इस महिला ने 794,000 एकड़ भूमि हस्तगत कर ली जो न जाने कितने युगों से इन कबीलों के पास थी।"[2]

सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक इंग्लैण्ड में किसानों को भूमि से वंचित करने की प्रक्रिया चलती रही। फ्रांस में छोटे किसानों

---

[1]Arthur Young, *Tours in England and Wales* (1768-1808). p. 134, 137. Reprint No. 14, London School of Economics, London, 1932.
[2]Marx, *Capital, op. cit.*, vol. 1, pp. 752-754

का वर्ग बढ़ने लगा किन्तु इंग्लैण्ड में, जहां औद्योगिक पूंजीवाद किसी भी अन्य देश की अपेक्षा अधिक तीव्रता के साथ विकसित हुआ, छोटे किसानों का वर्ग लगभग समूल नष्ट कर दिया गया। अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज लेखक डॉ. आर. प्राइस बतलाते हैं: "जब यह भूमि कुछ बड़े किसानों के हाथों में चली जाती है तो इसका परिणाम यह होता है कि छोटे किसान एक ऐसे वर्ग में बदल जाते हैं जो दूसरों के लिये काम करके अपनी जीविका कमाता है। ... इसका परिणाम यह होता है कि नगरों और निर्माताओं की संख्या बढ़ती है क्योंकि अधिक लोग, स्थान और नौकरी की खोज में उधर जायेंगे... कुल मिलाकर, निम्न वर्गों के लोगों की परिस्थितियां प्रत्येक रूप में पहले से भी बुरी हो जाती हैं। छोटी-छोटी भूमियों के स्वामियों से वे दैनिक मजदूर और भाड़े के टट्टू बन कर रह जाते हैं।"[1]

उस अवस्था का यह एक सही वृत्तान्त है। भूमि से भगा दिए जाने के पश्चात् "निम्न वर्ग के लोगों" को दैनिक मजदूर बन कर रह जाना पड़ता था। इस प्रकार क्षेत्रबन्दी एक मुख्य मार्ग था जिसमें से होकर श्रम के सम्भरण की आवश्यकता पूरी होती थी।

कुछ अन्य मार्ग भी थे। एक मार्ग उतना सीधा या स्पष्ट नहीं था लेकिन इससे बहुत अधिक लोग प्रभावित हुए। यहां स्वयं फैक्टरी-व्यवस्था थी, जिसने अन्ततः कामगरों को उद्योग के उत्पादन के साधनों से अलग कर दिया, जिस प्रकार वह भूमि से पहले ही अलग हो चुका था।

लोकसभा की 1806 की पत्रिका में "इंग्लैण्ड के ऊन निर्माताओं की अवस्था पर विचार" करने के लिए नियुक्त समिति के प्रतिवेदन में कहा गया है कि "पड़ौस में काफी समय से कुछ कारखाने रहे हैं ... ये कुछ समय से घरेलू वस्त्र-निर्माताओं की ईर्ष्या का कारण बने रहे हैं। इनकी सबसे मुख्य आशंका यह बतलाई गई है... कि कहीं कारखाने घरेलू उद्योगों को नष्ट न कर दें और कहीं स्वतन्त्र छोटे स्वामी निर्माता जो अपनी ही इच्छा से काम करते हैं, भाड़े पर काम करने वाले कामगर न बन जाएं।"[2]

[1]*Ibid.*, vol. I, p. 750.

[2]Report from the Committee Appointed to Consider the State of the Woolen Manufacture of England. Journals of the House of Commons, 1806, vol.61, p. 698.

1806 के इस प्रतिवेदन में जो "गम्भीर आशंका" प्रकट की गई थी, वह बाद में सत्य सिद्ध हुई। आप अच्छी तरह समझ सकते हैं, कि क्यों। फैक्टरी-व्यवस्था हाथ से काम करने वाले कारीगरों की अपेक्षा अपनी शक्ति-चालित मशीनों और श्रम के विभाजन के साथ अधिक तेजी से और अधिक सस्ता उत्पादन निकाल सकती थी। मशीन और हाथ के काम की प्रतिद्वन्द्विता में मशीनों की विजय निश्चित थी और उनकी विजय हुई भी और सहस्रों "स्वतन्त्र छोटे-छोटे स्वामी निर्माता भाड़े पर काम करने वाले कामगरों" की अवस्था में जा पड़े। (स्वतंत्र इस अर्थ में है कि उनके पास उत्पादन के साधन औजार उनके अपने थे।) समर्पण से पूर्व उनमें से अनेक काफी समय तक भूख से लड़ते रहे लेकिन अन्ततः उन्हें समर्पण करना पड़ा।

1840 के सहायक हथकरघा बुनकर आयुक्त द्वारा प्राप्त लोकसभा का एक अन्य प्रतिवेदन इस बात को स्पष्ट करता है कि हथकरघा बुनकरों के लिए अपने समय से पिछड़े साधनों पर टिके रहना क्यों व्यर्थ हो गया। "एक-दूसरे से कम कीमत पर माल बेचकर व्यापार को हस्तगत करने के प्रयत्न में प्रतिद्वन्द्विता की वृद्धि से, ... जो मजदूरी के भाव घटने का मुख्य कारण था, . .. बहुत बड़े परिवर्तन घटित हुए। अपने परिवार और अन्य लोगों की सहायता से जो बुनकर थोड़ा-सा माल तैयार कर पाने में समर्थ थे, उनका व्यापार बड़े निर्माताओं द्वारा डुबो दिया गया। अनेक पूर्व-स्वामी कर्मी बन कर रह गए। निर्धनता ने उन्हें विजित कर लिया था।"[1]

मशीनों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण कीमतों में गिरावट का प्रहार शिल्पकार पर हुआ, इसका सबसे पुष्ट प्रमाण सम्भवतः 1836 में प्रकाशित फिलिप गैस्केल की प्रसिद्ध पुस्तक के निम्न उद्धरण में मिलता है: "वाष्प शक्ति के आविष्कार के साथ एक अत्यन्त असाधारण और सन्तापजनक परिवर्तन हथकरघा बुनकरों की अवस्था में हुआ और यह कहा जा सकता है कि उनकी मजदूरी वाष्प-इंजिनों के नीचे कुचली गई... किसी विशेष वस्त्र के बुनने के लिए दी जाने वाली कीमतों की निम्न तालिका उस असाधारण गिरावट को स्पष्ट करती है। जो इस श्रेणी के श्रम के मूल्य में घटित हुई:

[1]"Reports from Assistant Hand-Loom Weavers' Commissioners", Part II, 1840, p. 217, Journals of the House of Commons, vol. 75, 1819-1820.

1795	..	..	39/9
1810	..	..	15/0
1830	..	..	5/0

"यह एकाकी दृष्टांत नहीं है। यह हथकरघा निर्माण से सम्बन्धित सम्पूर्ण श्रम का एक उदाहरण है।"[1]

हाथ के काम के मूल्यों में यह गिरावट एक करुण कहानी है। अपनी आजीविका कमाने में असमर्थ होकर बुनकर ने अपने उत्पादन का साधन अपना हथकरघा बेच डाला (अगर वह बेच सका)। उसका अगला कदम किसी फैक्टरी के काम-दिलाऊ दफ्तर के सामने पंक्ति में सम्मिलित होना ही था। वहां उसे अन्य व्यवसायों के अन्य कारीगर भी साथ मिल गए जो उसी की भाँति संकट में थे। इस प्रकार मशीन के उत्पादन ने, जो बिना श्रम-सम्भरण के कार्य नहीं कर सकता था, स्वयं ही शिल्प-उद्योग का विनाश कर अपने लिए श्रम के सम्भरण की व्यवस्था कर ली।

इस प्रकार वह सम्पत्ति-विहीन मजदूर श्रेणी अस्तित्व में आई जो पूंजी के एकत्रीकरण के साथ औद्योगिक पूंजीवाद के लिए अनिवार्य थी।

जब उत्पादन और विनिमय की विधियों में क्रान्ति हुई जिसे हमने सामन्तवाद से पूंजीवाद में परिवर्तन कहा है, तो पुराने विज्ञान, पुराने कानूनों, पुरानी शिक्षा, पुरानी सरकार और पुराने धर्म की क्या अवस्था हुई? उनमें भी क्रान्ति हुई। होनी ही थी। 1800 के कानूनों और 1200 के कानूनों की पद्धति में भारी अन्तर था। यही अवस्था धार्मिक शिक्षा की भी थी। व्यापारियों, निर्माताओं और साहूकारों के समाज में उससे भिन्न प्रकार की धार्मिक शिक्षाओं की आवश्यकता थी जो पुजारियों और योद्धाओं का समाज था। एक ऐसे समाज में, जहां काम का उद्देश्य केवल अपने और अपने परिवार के पर्याप्त भरण-पोषण के लिए रुपया कमाना था, वहां चर्च मुनाफाखोरों की निन्दा कर सकता था, लेकिन जिस समाज में काम का मुख्य उद्देश्य ही मुनाफा कमाना हो, चर्च को अपना स्वर बदलना ही था। कैथोलिक चर्च का विकास सामन्ती शिल्प-उद्योग के अर्थतन्त्र के अनुकूल हुआ था, जहां शिल्पकार केवल जीविकोपार्जन के लिए काम करता था। यदि वह अपने आपको पूंजीवादी अर्थतन्त्र के अनुकूल ढालने के लिए अपनी शिक्षाओं में पर्याप्त

[1]Gaskell, *Artisans and Machinery*, pp. 35-38. Parker, London, 1836.

गति के साथ परिवर्तन न कर सका तो प्रोटेस्टेण्ट चर्च विद्यमान था और उसने वह परिवर्तन किया। प्रोटेस्टेण्ट चर्च अनेक भिन्न सम्प्रदायों में विभक्त था लेकिन सभी सम्प्रदायों में केवल मात्रा-भेद से, प्राप्ति के लोभी पूंजीवादी विश्रान्ति पा सकते थे।

उदाहरण के लिए प्यूरिटनों को लीजिए। कैथोलिक कानून-निर्माताओं ने चेतावनी दी थी कि धनी होने का मार्ग नरक का मार्ग है। प्यूरिटन बैक्सटर ने अपने अनुयायियों से कहा कि जब तक वे धन कमाने के अवसरों का लाभ नहीं उठाते हैं, ईश्वर की सेवा नहीं कर सकते। "परमात्मा आपको मार्ग दिखलाता है जिससे आप न्यायत: किसी अन्य मार्ग की अपेक्षा (अपनी आत्मा अथवा किसी अन्य के प्रति कोई पाप किए बिना) अधिक कमा सकते हैं। अगर आप इसे अस्वीकार करते हैं और कम लाभप्रद मार्ग को अपनाते हैं तो आप उसकी पुकार की अवहेलना करते हैं और उसका सेवक होने से इन्कार करते हैं। और उसकी इच्छा पर उसके उपहारों को स्वीकार कर उनका उसी के लिए उपभोग करके आप परमात्मा के लिए ही धनी बनने का प्रयत्न करते हैं, पाप या सुख के लिए नहीं।"[1]

कट्टरवादियों को लीजिए। उनका प्रसिद्ध नेता वेस्ली लिखता है: "हमें लोगों को परिश्रमी और मितव्ययी बनने से रोकना नहीं चाहिए। हमें सब ईसाइयों को अधिक से अधिक धन कमाने और बचत करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए और वस्तुत: यही धनी होने का मार्ग है।"[2]

काल्विनवादियों को लीजिए। प्रौटेस्टेण्ट सुधार-आन्दोलन सोलहवीं शताब्दी में हुआ। यह वह युग था जब भावी विशाल औद्योगिक उत्पादन के लिये आवश्यक पूंजी के एकत्रीकरण के अवसर अभूतपूर्व थे। काल्विन की शिक्षाएं विशेष रूप से पूंजीवादी उद्यम की भावना से पूर्ण थीं। जबकि पहले कैथोलिक चर्च व्यापारी को, उस व्यक्ति के रूप में सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखता था जिसकी "लाभ की लालसा" पाप थी, काल्विन लिखता है: "व्यापार की आय भूमि के स्वामित्व की आय से अधिक क्यों न हो? अपने अध्यवसाय और उद्यम के बिना व्यापारी का मुनाफा कहां से आता है?"[3] इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि

[1]Max Weber, *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism*, p. 162. Allen & Unwin, London, 1930.
[2]*Ibid.*, p. 175.
[3]R.H. Tawney, *Religion and the Rise of Capitalism*, *op. cit.*, p. 105.

काल्विनवाद उन्नतिशील पूंजीवादी वर्ग का धर्म-सम्प्रदाय बन गया।

अमरीका में हम काल्विन के अनुयायी प्यूरिटनों को अच्छे प्रकार से जानते हैं जो न्यू इंग्लैण्ड में बस गये हैं। हमारे इतिहास-ग्रन्थ उस शक्तिशाली संघ की प्रशंसा के गीत गाते हैं जिसके जीवन का उद्देश्य परमात्मा की महत्ता का बखान करना था। हम जानते हैं कि वे अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये किस प्रकार अनुशासित जीवन बिताते थे जिसमें मितव्ययिता और कठोर श्रम वांछनीय था और विलास, अति-व्यय एवं काहिली अवांछनीय। अब इसे एक भिन्न दृष्टिकोण से देखिये। एक ओर धन का एकत्रीकरण और दूसरी ओर श्रम का कठोर अभ्यास जिस अर्थ-व्यवस्था की आधार-शिलाएं हों, उसके लिये काल्विन के उक्त अनुयायियों द्वारा नित्य अभ्यास में अपनाये गये इन धार्मिक आदेशों से बढ़कर और अनुकूल गुण क्या हो सकते थे? वह व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ ईसाई था जिसकी प्रत्येक क्रिया धनोपार्जन, पूंजीवाद की भावना के सबसे अधिक अनुकूल थी। यह पूर्ण गठबन्धन था।

बेंजैमिन फ्रैंकलिन उन लोगों का एक प्रमुख उदाहरण है, जिनमें यह भावना पूर्णरूप से जाग्रत थी। अपने ***पूअर रिचर्ड्स एलमैनेक*** में वह पुण्यमार्ग के सर्वश्रेष्ठ जीवन की प्यूरिटन कुंजी को सीधे-सादे घरेलू मुहावरों में प्रस्तुत करता है:

"कोई भी व्यक्ति यशस्वी नहीं हो सका जो उद्यमी नहीं था।"

"लाभ की आशा दु:ख को कम कर देती है।"

"अपने व्यवसाय की रक्षा करो: तुम्हारा व्यवसाय तुम्हारी रक्षा करेगा।"[1]

और ***युवा व्यापारियों को सम्मति*** में वह कहता है: "संक्षेप में यदि तुम इसे पाना चाहते हो तो धन का मार्ग उतना ही सीधा है जितना बाजार का मार्ग। मुख्यत: यह दो शब्दों पर निर्भर करता है, ***उद्यम*** और ***मितव्ययिता*** पर, अर्थात्, न समय व्यर्थ नष्ट करो और न रुपया .... ईमानदारी के साथ जो कुछ प्राप्त किया जा सके, उसे प्राप्त कर लेने और जो कुछ प्राप्त हो, उसे बचा कर रखने वाला निश्चित ही ***धनी*** बनेगा।"[2]

---

[1]B. Franklin, *Poor Richard's Almanack* (1732-1757), pp. 70, 76, Edited by B.E. Smith, Century Co., N.Y., 1898.

[2]B. Franklin, *The Way to Wealth, To which are Added his Advice to Young Tradesmen* (1757), p. 30. Windsor, Vt., 1826.

यह पूंजीवादी भावना है। काल्विनवादियों के लिये यह शिक्षा कोरी सम्मति नहीं थी, यह ईसाई व्यवहार का आदर्श था। परमात्मा की महिमा के लिये काम करने का सबसे अच्छा मार्ग उन शिक्षाओं को व्यवहार में लाना था।

अगली बार यदि कोई आपसे कहता है कि लाभ की इच्छा करना "मानव-प्रकृति" है तो आप उसे बतला सकते हैं कि यह मानव-प्रकृति किस प्रकार बनी। उसे आप बतलाएं कि सामन्ती समाज में व्यवहारत: अपरिचित बचत और पूंजी किस प्रकार धीरे-धीरे पूंजीवादी समाज में परमात्मा की महिमा के लिये पूजा करने योग्य वस्तु बन गई। यहां तक कि उन्नीसवीं शताब्दी आते न आते "बचत करना और पूंजी लगाना शीघ्र ही एक विशाल वर्ग की प्रसन्नता और कर्म बन गया। बचत शायद ही कभी निकाली जाती थी। और मिश्र ब्याज पर संचित होती हुई उस भौतिक विजय को सम्भव बना देती थी जिसे आज हम सहज स्वााभाविक मानते हैं। नैतिक मूल्य, राजनीति, साहित्य और युग-धर्म सब बचत की उन्नति के षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गये। ईश्वर और माया का पुनर्मिलन हुआ। अच्छे साधनों वाले मनुष्यों के लिये पृथ्वी पर शांति। एक धनी व्यक्ति, अन्तत: स्वर्ग के राज्य में प्रवेश कर सकता था—अगर वह केवल बचत करे।"[1]

प्रारम्भिक वाणिज्य से प्राप्त पूंजी के एकत्रीकरण के साथ सम्पत्तिविहीन मजदूर श्रेणी ने मिलकर औद्योगिक पूंजीवाद की रचना की। फैक्टरी-व्यवस्था ने स्वयं धन के और अधिक सम्भरण के लिये पूंजी के एकत्रीकरण की व्यवस्था की। इस नये धन के स्वामी इन विश्वासों के बीच पाले गये कि यदि वे बचत कर अपनी बचत को पूंजी में लगा दें तो स्वर्ग का राज्य उनका था। वे अपनी पूंजी को पुन: फैक्टरियों में लगा देते थे। इस प्रकार आधुनिक व्यवस्था के उस स्वरूप का आरम्भ हुआ, जिससे आप और हम सब भली-भांति सुपरिचित हैं।

[1]J.M. Keynes, A Tract on Monetary Reform, p. 7. Macmillan & Co., Ltd., London, 1923.

15. उद्योग, कृषि और परिवहन में क्रांति

150 वर्ष पूर्व के समाचारपत्रों में अविश्वसनीय घटनाओं के वृत्तान्तों के साथ "मानो न मानो" शीर्षक कार्टून नहीं होते थे। अगर होते तो बर्मिंघम गजट को शीघ्र ही ज्ञात हो जाता कि यह रोचक समाचार 11 मार्च, 1776 के संस्करण में कहां दिया जाए: "गत शुक्रवार श्री वाट के नये सिद्धान्तों के अनुसार बना हुआ वाष्प इंजिन ब्लूमफील्ड कोलियरी में काम करने लगा। ...अनेक वैज्ञानिक सज्जनों की उपस्थिति में, जिनकी उत्सुकता इस अद्वितीय शक्तिशाली यन्त्र की प्रथम गति को देखने के लिए उत्तेजित हो चुकी थी, ...इस उदाहरण से अनुभवहीन लोगों के सन्देह समाप्त हो गये और आविष्कारों की महत्ता और उपयोगिता अन्तत: निश्चित हो गई.. अनेक वर्षों के सतत अध्ययन और विभिन्न प्रकार के खर्चीले और श्रमसाध्य प्रयोगों के पश्चात्...श्री वाट ने (इसका) आविष्कार किया था।[1]

1880 तक अंग्रेजों को श्री वाट के "आविष्कार की महत्ता और उपयोगिता" इतनी स्पष्ट हो गई कि उसका उपयोग 30 कोलियरीयों, 22 ताँबे की खानों, 18 ढलाईघरों, 17 शराब की भट्टियों और 14 सूती मिलों में होने लगा था।[2]

मनुष्य का काम करने के लिए मशीनों का आविष्कार एक बहुत पुरानी बात थी। लेकिन मशीनों को वाष्प-शक्ति से जोत देने के साथ उत्पादन की पद्धति में महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हुए। शक्ति-संचालित मशीनों के आगमन का

---

[1] *A Century of Birmingham Life from 1741-1841.* Compiled and edited by J.A. Langford. 2 vols. Vol. 1, p. 221. Osborne, Birmingham, 1868.

[2] Cf. J. Lord, *Capital and Steam Power, 1750-1800*, p. 175. P.S. King and Son. London, 1923.

अर्थ था फैक्टरी-व्यवस्था का विशाल पैमाने पर विकास। आप मशीनों के बिना फैक्टरियां स्थापित कर सकते हैं पर फैक्टरियों के बिना शक्ति-चालित मशीनें प्राप्त नहीं कर सकते।

विशाल पैमाने पर दक्षतापूर्ण संगठन और श्रम के विभाजन के साथ फैक्टरी-व्यवस्था का अर्थ था उत्पादन में भारी वृद्धि। फैक्टरियों से माल तीव्र गति से निकल रहा था। उत्पादन में यह वृद्धि अंशतः पूंजी को लाभ पर लगाने के कारण थी ओर अंशतः यह बढ़ती हुई मांग का उत्तर थी। नये-नये देशों की खोज के साथ नये बाजारों का उद्गम भी बढ़ती हुई मांग का एक महत्वपूर्ण कारण था। एक अन्य कारण भी था। फैक्टरी की बनी हुई वस्तुएं घर और बाहर विदेशों में भी अपने बाजार बना रही थी। इसका कारण स्वयं इंग्लैंड में जनसंख्या की वृद्धि थी।

इतिहासज्ञों में विवाद था कि सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में जनसंख्या की वृद्धि जन्म-दर की वृद्धि के कारण थी अथवा मृत्यु-दर की गिरावट के कारण। यद्यपि दोनों कारण सत्य थे परन्तु अब यह सोचा जाता है कि मृत्यु-दर में कमी ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। लेकिन मृत्यु-दर में कमी क्यों होती? सम्भवतः क्योंकि चिकित्सक अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान पा चुके थे जिसके कारण अन्य बातों के अतिरिक्त वे लोग जीवित रह जाते थे जो सम्भवतः मर जाते। लन्दन के अस्पताल के विवरण माताओं और बच्चों के मृत्यु-अनुपात में अविश्वसनीय गिरावट दिखाते हैं:

मृत्यु अनुपात	1749-1758	1799-1800
स्त्रियां	42 में से 1	914 में से 1
बालक	15 में से 1	115 में से 1[1]

ये अंक स्वयं बोलते हैं। 1700 से पूर्व, इंग्लैण्ड में जनसंख्या की वृद्धि प्रति सौ वर्ष में लगभग 1,000,000 थी लेकिन 1700 और 1800 के बीच यह वृद्धि 3,000,000 थी।

सम्भवतः जनसंख्या में वृद्धि का एक अन्य कारण यह तथ्य था कि कृषि

[1]Cf. D. George, *London Life in the 18th Century*, p. 336. Kegan Paul, Trench, Trubner and Co., Ltd., London, 1930.

में महत्वपूर्ण उन्नति होने के कारण लोगों को अच्छा भोजन मिलता था। (यह उन्नति एक प्रकार से जनसंख्या में वृद्धि के कारण स्वयं ही हुई थी।) जिस प्रकार औद्योगिक क्रांति हुई, उसी प्रकार कृषि में भी क्रांति हुई।

किसी स्कूली अंग्रेज बच्चे से कहिए "1649" और वह उसका उत्तर देगा "चार्ल्स प्रथम की मृत्यु"। वह "हालैण्ड से शलजम और कन्द-उपज का आरम्भ" उत्तर देने के बारे में नहीं सोचेगा: लेकिन वह यह उत्तर क्यों दे? शलजम इतना महत्वपूर्ण क्यों था?

इसके उत्तर के लिये आपको पृष्ठ 13 की क्षेत्र-व्यवस्था की तालिका को देखना होगा। भूमि का एक-तिहाई भाग खाली रखना भारी बर्बादी थी। शलजम और रामपर्ण (तिपतिया) के आगमन का अर्थ यह था कि भूमि को पुनः उर्वरा बनाने की समस्या का समाधान हो गया। चार-फसली व्यवस्था एक ऐसी उन्नति थी जिसकी बहुत आवश्यकता थी।

पहला वर्ष	गेहूं
दूसरा वर्ष	शलजम
तीसरा वर्ष	जौ
चौथा वर्ष	रामपर्ण

इससे भूमि अनाज की लगातार दो फसलों से "थक" नहीं जाती थी। इसका अर्थ यह भी था कि भूमि को खाली रखने की बर्बादी से बचा लिया गया था।

शलजम और रामपर्ण की उपज के साथ न केवल भूमि साफ रहने लगी थी अपितु पशुओं के लिये शीत-कालीन चारे की समस्या भी हल हो गई। जहां पहले समस्त शीतकाल में पशु मार दिये जाते अथवा चारे के लिये छोड़ दिये जाते, अब अधिक पशु जीवित रखे जा सकते थे।

नस्ल के गुणों में सुधार के प्रयोग भी इसी समय आरम्भ हुए। ये प्रयोग सफल हुए थे, इसका प्रमाण स्मिथफील्ड बाजार में वैज्ञानिक नस्लीकरण से पूर्व और पश्चात् बेचे गये पशुओं के औसत वजन दिखाने वाली निम्न तालिका से मिलता है:

18वीं शताब्दी का आरम्भ		**18वीं शताब्दी का अन्त**
बैल...	370 पौण्ड	800 पौण्ड
बछड़ा ..	50 पौण्ड	148 पौण्ड
भेड़ ..	28 पौण्ड	80 पौण्ड[1]

और जिस प्रकार उद्योग में प्रयुक्त होने वाले औजारों और मशीनों में सुधार हुए, उसी प्रकार अठारहवीं शताब्दी ने कृषि में प्रयुक्त होने वाले नये और अच्छे हल और फावड़े आदि देखे।

क्षेत्रबन्दी आन्दोलन भूमि–वंचितों के लिये अत्यंत भयानक थे, किन्तु इन्हीं से ही कृषि सम्बन्धी प्रविधि, विज्ञान और विशाल पैमाने पर अपनाये जाने वाले औजारों में उल्लेखनीय सुधार सम्भव हो सके। मुक्त क्षेत्रों और सार्वजनिक चरागाहों के साथ ये सुधार असम्भव थे।

जनसंख्या की वृद्धि का अर्थ था कि कृषि लाभप्रद हो सकती है। बड़े-बड़े भूमिपतियों ने लाभ की आशा से इस समय अपने कृषि–क्षेत्रों में विशाल पूंजी लगाई और उसका एक परिणाम था अधिक और अच्छा भोजन–जिसके परिणामस्वरूप फिर जनसंख्या में और अधिक वृद्धि हुई।

उद्योग और कृषि में क्रांति के साथ परिवहन में भी क्रांति हुई। तीव्र गति के साथ अधिकाधिक वस्तुओं का उत्पादन और अधिक और अच्छी उपज का कोई लाभ न था जब तक कि उन्हें उन लोगों तक न पहुंचाया जा सके, जिन्हें उनकी आवश्यकता हो। सड़कें खराब थीं। वे इतनी खराब थीं कि अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में डाउनशायर के महासामन्त को ***रास्ते की*** मरम्मत के लिये मजदूरों की सेना साथ रखनी पड़ी ताकि वह अपनी यात्रा पूरी कर सके। जो महासामन्त के लिये केवल असुविधाजनक था, बढ़ते हुए बाजारों की मांग के सम्भरण के उत्सुक निर्माताओं के लिये असम्भव था। सस्ते, गतिवान और नियमित परिवहन की आवश्यकता थी। यह उन निर्माताओं की भी आवश्यकता थी जो उत्पादन को किसी विशेष अनुकूल क्षेत्र में केन्द्रित करने की सुविधाओं से लाभान्वित होना चाहते थे, जैसे लंकाशायर में सूत उत्पादन।

अतः अठारहवीं शताब्दी में सड़कों और नहरों के निर्माण में सुधार आरम्भ

[1]Cf. A. Toynbee, *Lectures on the Industrial Revolution of the 18th Century in England* (1884), p. 19. Longmans, Green & Co., 1913.

हुए। मैकैडम रोड (इंजीनियर जॉन मैक ऐडैम), जिससे आज हम और आप सुपरिचित हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बनी थी और इसके बाद रेल और जहाज मार्ग बनाये गये थे। इस बीच नदी के धरातल गहरे किये गये और नहरें खोदी गईं। परिवहन में क्रांति ने न केवल घरेलू बाजारों को प्रत्येक दिशा में विस्तार का अवसर दिया अपितु विश्व बाजार को भी घरेलू बाजार बनाना सम्भव कर दिखाया।

जनसंख्या में वृद्धि, उद्योग, कृषि और परिवहन में क्रांति ये सब परस्पर सम्बन्धित थे। ये वे शक्तियां थीं जो नये संसार का निर्माण कर रही थीं।

16. "बीज तुम बोते हो, काटते हैं दूसरे ही..."

फिफ्थ ऐवेन्यू पर एक बस में सुना गया, "हे भगवान! फिर धरना दिया जा रहा है। अपने संगठित मजदूर-चिन्हों के साथ फैक्टरियों और दुकानों के सम्मुख आगे पीछे प्रदर्शन करते हुए इन हड़तालियों से मैं तो तंग आ चुकी हूं। सरकार इन सब को जेलों में क्यों नहीं ठूंस देती?"

उक्त वक्तव्य देने वाली क्रोधाधिभूत महिला इतिहास से परिचित नहीं थी। वह सोचती थी कि उसके पास एक सरल समस्या का सीधा समाधान है। लेकिन यह उसकी भूल थी। उसका समाधान बार-बार दुहराया जा चुका था और वह कोई समाधान सिद्ध नहीं हुआ था। इंग्लैंड में सौ वर्ष से भी अधिक पहले एक मजिस्ट्रेट ने गृह-विभाग को एक हड़ताल कुचलने की अपनी योजना लिखी: "मैं यह सुझाव रखूंगा कि उन सब लोगों को बन्दी बना लिया जाए जिन्होंने अपनी नौकरी छोड़ दी है और उन सबको ट्रीडमिल भेज दिया जाए।"[1]

यह ठीक वही बात थी जो उक्त महिला ने सुझायी थी, फिर भी यह सुझाव 1860 में लिखा गया था। पर परिणाम क्या हुआ? महिला को ही उत्तर देने दीजिए।

उन्नीसवीं शताब्दी का वह मैजिस्ट्रेट और बीसवीं शताब्दी की वह महिला—दोनों यह समझते हुए प्रतीत नहीं होते कि मजदूर धरने इसलिए नहीं देते कि उन्हें चिन्ह लेकर इधर-उधर घूमना पसन्द है। न ही मजदूर इसलिए हड़ताल करते थे कि वे काम नहीं करना चाहते। कारण कहीं अधिक गहरा है। उसे खोजने के लिए हमें अंग्रेजों का इतिहास खोजना होगा क्योंकि वहीं से औद्योगिक

[1]J.L and B. Hammond, *The Town Labourer 1760-1832*, p. 65 Longmans, Green & Co., 1932.

क्रांति का सूत्रपात हुआ था।

यह एक सर्वज्ञात तथ्य है कि आंकड़ों द्वारा कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के शैशवकाल में आंकड़ों द्वारा वस्तुस्थिति को जितना गलत चित्रित किया गया, वह अभूतपूर्व था। अंकों की प्रत्येक तालिका से असीम उन्नति दिखाई देती थी। कपास, लोहे, कोयले और प्रत्येक वस्तु के उत्पादन को दस गुना दिखाया गया था। बिक्री का परिणाम, उसकी संख्या, मालिकों का लाभ सभी आकाश को छू रहे थे। इन अंकों को पढ़कर आप विस्मयाभिभूत हो जाएगे। आप यह अनुभव करेंगे कि इंग्लैंड अवश्य ही वह स्वर्ग होग, गीतकार जिसके गीत गाते रहे हैं। वह था; लेकिन केवल कुछ लोगों के लिए।

अनेकों के लिए यह कोई बड़ी खुशी की बात नहीं थी। कामगरों के आनन्द और उनके कल्याण के रूप में वे प्रफुल्ल आंकड़े भयंकर झूठ बोलते थे। एक लेखक ने 1836 में प्रकाशित एक पुस्तक में लिखा है: ''दस लाख से अधिक मनुष्य शाब्दिक अर्थों में भूख से मर रहे हैं और यह संख्या निरन्तर वृद्धि पर है। ...वाणिज्य के इतिहास में यह एक नवीन युग है। जिसमें गतिप्राण और उन्नतिशील व्यापार श्रम करने वाले वर्गों की अवस्था के सुधार का नहीं, अपितु उनकी निर्धनता और अवनति का मापदण्ड बनता है। यह वह युग है जिसमें आज ग्रेट ब्रिटेन ने प्रवेश किया है।''[1]

यदि चन्द्रलोक का कोई व्यक्ति इंग्लैंड के व्यस्त द्वीप पर उतार दिया जाता तो उन काल्पनिक अंकों को पढ़कर वह समझता कि पृथ्वी के सभी निवासी पागल हैं। क्योंकि वह एक ओर संख्यासंख्य साधारण मनुष्यों को दिन भर के कठोर परिश्रम के पश्चात रात को अपनी घृणित अस्वास्थ्यकर टूटी-फूटी गन्दी झोपड़ियों में प्रवेश करते देखता और दूसरी ओर वह उन गिनती के लोगों को देखता जिन्होंने कभी श्रम से अपने हाथ मैले नहीं होने दिये तथापि जिन्होंने कानून बनाये, जिनसे जनता शासित होती थी और वे लोग अपने-अपने निजी महलों में राजाओं की भांति रहते थे।

वास्तव में इंग्लैंड दो थे। डिजरायली ने अपने ***सीबिल*** में इस ओर संकेत किया है: ''दो राष्ट्र जिनके बीच कोई समागम नहीं, कोई सहानुभूति नहीं, जो

[1]P. Gaskell, *op. cit.*, Preface. Parker, London, 1836.

एक-दूसरे के स्वभाव, विचारों और एक-दूसरे की भावनाओं से इस तरह अपरिचित हैं, जैसे कि वे भिन्न प्रदेशों में रहने वाले हों अथवा भिन्न ग्रहों के निवासी हों; जिनकी नस्ल अलग-अलग है, जिनका भोजन भिन्न है, जो भिन्न-भिन्न प्रकार से निदेशित होते हैं और जो समान कानूनों द्वारा शासित नहीं हैं।

"आपका तात्पर्य...." एग्रमोण्ट ने झिझकते हुए कहा।"

"**धनी और निर्धन**।"[1]

यह विभाजन नया नहीं था लेकिन मशीनों और फैक्टरी-व्यवस्था के आगमन से दोनों की सीमा-रेखा पहले से बहुत अधिक गहरी हो गई। धनी और अधिक धनी हो गये और निर्धन उत्पादन के साधनों से विच्छिन्न होकर और अधिक निर्धन हो गये। विशेष रूप से दलित वे कारीगर थे, जो काफी अच्छी आजीविका कमा लेते थे लेकिन मशीनों द्वारा अब निर्मित माल की प्रतिद्वन्द्विता में अकिंचन हो गये थे। उनकी अवस्था कितनी निराशापूर्ण थी, इसका एक अनुमान हम हथकरघा बुनकर थॉमस हीथ के साक्ष्य से प्राप्त करते हैं।:

"प्रश्न: क्या तुम्हारी कोई सन्तान है?"

"उत्तर: नहीं; दो बच्चे थे पर ईश्वर का धन्यवाद है कि दोनों मर चुके हैं।"

"प्रश्न: बच्चों की मृत्यु पर तुम सन्तोष व्यक्त करते हो?"

"उत्तर: अवश्य, मैं इसके लिए ईश्वर को धन्यवाद देता हूं। में उनके पालन-पोषण के बोझ से मुक्त हो गया हूं और वे बेचारे निर्दोष प्राणी इस नश्वर जीवन के कष्टों से मुक्त हो गये।"[2]

आपको सहमत होना होगा कि इस ढंग से बात करने वाला व्यक्ति वास्तव में ही दरिद्र होगा और इसमें कोई भूल नहीं होगी।

जो लोग भूख से पराजित होकर मशीन के विरुद्ध नहीं खड़े रह सके और अन्तत: फैक्टरी में प्रविष्ट हो गये, उनका क्या हुआ? आरम्भिक फैक्टरियों में उनकी अवस्था क्या थी?

[1]B.Disraeli, *Sybil or the Two Nations* (1854), p. 74, Macmillan & Company, Ltd., London, 1895.

[2]*Reports from Assistant Hand-Loom Weavers' Commissioners, Op. cit.,* Part II, p. 232. 1840.

नयी मशीन से श्रम का भार हल्का हो जाना चाहिए था पर वस्तुत: श्रम और भी कठोर हो गया। मशीन अपने काम में इतनी कुशल थी कि उससे अधिक से अधिक समय तक काम लिया जाने लगा। मालिकों की मशीन पर इतनी पूंजी लगी होती थी कि उसे खाली नहीं छोड़ा जा सकता था। मशीन को निरन्तर काम में लगाये रखना पड़ता था। साथ ही, चतुर मिल-मालिक जानता था कि मशीन से शीघ्रातिशीघ्र अधिक से अधिक प्राप्त कर लेना आवश्यक था क्योंकि नये आविष्कारों के साथ मशीन शीघ्र ही व्यर्थ हो सकती थी। अत: काम के घण्टे लम्बे थे। सोलह घण्टों का दिन साधारण-सी बात थी। जब अन्तत: बारह घण्टों की दो पारियां निश्चित हो गईं तो कामगरों ने इस परिवर्तन को वरदान समझा।

लेकिन केवल अधिक घण्टे इतने बुरे न होते; कामगर उनके अभ्यस्त थे। अपने घरों में घरेलू व्यवस्था के अन्तर्गत वे इतने घण्टों तक काम कर चुके थे। वास्तविक कठिनाई फैक्टरी के अनुशासन में अभ्यस्त होने में आई। सदैव सिर पर खड़े हुए निरीक्षक के कठोर निरीक्षण और निर्देशन में निश्चित समय पर काम आरम्भ करना, निश्चित समय पर समाप्त करना और फिर निश्चित समय पर आरम्भ करना मशीन की गति के साथ गति मिलाना—सब नया था। और यह कठिन था।

मैनचेस्टर के समीप एक मिल में बुनकर को 80 से 84 डिग्री तापमान में 14 घण्टे प्रतिदिन काम करना पड़ता था और इस बीच उन्हें पीने के लिए पानी मंगाने की भी अनुमति न थी। उनके लिए "निम्न प्रकार के दण्ड नियत थे:

कोई भी बुनकर खिड़की खुली रखे.....1 शिलिंग।
कोई भी बुनकर काम में गन्दा रहे.....1 शिलिंग।
कोई भी बुनकर मुंह-हाथ धोता पाया जाए......1 शिलिंग।
कोई भी बुनकर गैस जलाकर बेलन ठीक करता पाया जाए.....2 शिलिंग।
कोई भी बुनकर सुबह देर तक गैस जलाकर काम करता रहे ....2 शिलिंग
कोई भी बुनकर सीटियां बजाता पाया जाए....1 शिलिंग।[1]

[1]J.L. and Barbara Hammond, *op., cit.*, pp. 19, 20.

यह सब सनकीपन-सा प्रतीत होता है। पर यह सच था। और यह कोई अकेला उदाहरण न था। वे समस्त दोष जो आज हम केवल हलवाइयों अथवा पिछड़ी हुई जातियों में देखते हैं, वे सब प्रारम्भिक उद्योगवाद के इस युग में कारीगरों के साथ विद्यमान थे।

पूंजीवादी समझते थे कि अपनी सम्पत्ति के साथ वे जो चाहे कर सकते हैं। अपने कामगरों और अपनी मशीनों में वे कोई अन्तर नहीं समझते थे। यह पूर्ण सत्य नहीं है क्योंकि मशीनों के साथ पूंजी की लागत का प्रश्न था अत: वे मनुष्यों से मशीनों की संभाल का अधिक ध्यान रखते थे।

मजदूरी के रूप में वे उतना कम से कम ही देते थे, जितना उन्हें देना ही पड़ता था। वे बाजार में अधिक से अधिक श्रम-शक्ति की तलाश में रहते, जिसका वे उपयोग कर सकते थे और उसके लिए वे कम से कम केवल उतना ही देना चाहते थे जो उस श्रम को खरीदने के लिए आवश्यक हो। स्त्रियां और बच्चे मशीन चला सकते थे और उन्हें पुरुषों से कम देना पड़ता था, अत: स्त्रियों और बच्चों को काम दिया जाता था और पुरुष घर में खाली बैठे रहते थे। पहले फैक्टरियों के मालिक दरिद्र बच्चों का श्रम उनके निर्धन मां-बांप से खरीद लेते थे बाद में क्योंकि मां-बाप का उपार्जन परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त नहीं हो पाता था अत: घर में रहने वाले बच्चों को भी मिलों और खानों में प्रवेश पाना पड़ता था। उन आरम्भिक दिनों में उद्योगवाद की भयावहता का नग्न रूप बच्चों के श्रम के विवरणों से कहीं और अधिक स्पष्ट नहीं।

श्री जान मॉस पहले एक सूती मिल के शिशिक्षुओं के प्रशिक्षक रह चुके थे। 1816 में उन्होंने संसद की एक समिति के समक्ष ग्रामीण क्षेत्रों से लाये गये बच्चों के सम्बन्ध में साक्षी दी। ये बच्चे बलात् फैक्टरी में काम करने के लिए विवश किये गये थे। उनकी साक्षी इस प्रकार थी:

"क्या ये शिशिक्षु बस्ती से आते थे?—सभी बस्तियों के थे।"

"किस आयु में उन्हें लाया जाता था?—लन्दन से आने वाले लगभग सात से ग्यारह वर्ष के और लिवरपूल से आने वाले लगभग दस से पन्द्रह वर्ष के थे।"

"उनको कितने साल तक शिक्षा दी जाती थी?—इक्कीस।"

"काम के घण्टे क्या थे? पांच बजे प्रात: से लेकर रात के आठ बजे तक।"

"क्या 15 घण्टे दिन के नियमित काम के घण्टे थे?–हां।"

"मिल की मरम्मत के लिए अथवा कपास की कमी के कारण जब काम बन्द रहता था तो क्या बाद में बच्चों से काम की हानि की पूर्ति करवाई जाती थी?–हां।"

"काम करने के लिए बच्चे खड़े रहते थे कि बैठते थे?–खड़े रहते थे।"

"सारा समय?–हां।"

"मिल में बैठने के लिए चौकियां थीं?–नहीं। ....बल्कि जिस समय उन्हें अपने बिस्तर पर होना चाहिए, उसके बाद भी मैंने उन्हें प्राय: मिल के फर्श पर देखा है।"

"क्या कोई बच्चे मशीनों द्वारा घायल भी होते थे?–प्राय: ही होते रहते थे।"[1]

इसके पश्चात 1833 में राज्य-आयुक्त ने फैक्टरियों में काम करने वाले बच्चों की नौकरी की अवस्था पर अपना प्रतिवेदन प्रकाशित किया। इस प्रतिवेदन में एक ग्यारह वर्ष के बालक थामस की साक्षी है जो एक मिल में (अपने भाई की सहायता से) 4 शिलिंग प्रति सप्ताह पर टूटे धागे जोड़ने का काम करता था। उसकी कहानी का कुछ अंश इस प्रकार है "यदि हम सो जाएं तो हमें कोड़ों से मारा जाता था।... मेरे अंगूठे के बराबर मोटी रस्सी लेकर उसे दोहरी कर लेते थे और उसमें गांठ लगा लेते थे.... मैं छ: से कुछ पहले ही फैक्टरी चला जाता था; कभी-कभी पांच बजे, और रात के नौ बजे तक काम करता था... एक बार मैं सारी रात काम करता रहा... हमने स्वयं ऐसा किया। हम खर्च करने के लिए कुछ पाना चाहते थे। उस दिन हम छ: बजे प्रात: से काम कर रहे थे और अगले दिन रात नौ बजे तक काम करते रहे... अब मैं धागे जोड़ने का काम करता हूं.....। मैं 4 शिलिंग के लगभग कमा सकता हूं... मेरा भाई मेरे साथ काम करता है.. अगर वह मेरा भाई न होता तो मुझे उसे 1 शिलिंग प्रति सप्ताह देना पड़ता... मैं उसे छ: बजे अपने साथ ले जाता हूं और ४ बजे तक अपने साथ रखता हूं।"[2]

समझने की बात है कि बच्चों को श्रम में लगाना कोई नई बात नहीं थी। आपको डीफो की घरेलू व्यवस्था की परिभाषा स्मरण होगी (पृष्ठ 134) लेकिन

[1] *Report of the Minutes of Evidence Taken Before the Select Committee on the State of the Children Employed in the Manufactories, 1816*, pp. 178-180.

[2] *First Report of the Central Board of His Majesty's Commissioners on Employment of Children in Factories, 1833*, pp. 31, 32.

जहां पहले बच्चों का काम अपने माता-पिता का सहकारी था, अब यह व्यवस्था की आधार-शिला थी। जहां पहले बच्चे अपने घरों में अपने माता-पिता की आंखों के सामने उन्हीं द्वारा निश्चित घण्टों और अवस्थाओं में काम करते थे, अब वे फैक्टरियों में एक निरीक्षक की दृष्टि के नीचे काम करते थे, जिसकी अपनी नौकरी इस बात पर निर्भर करती थी कि वह उन छोटे-छोटे शरीरों से कितना अधिक काम निकाल सकता था और घण्टे और काम की अवस्थाएं लाभ-इच्छुक मिल-मालिक द्वारा निश्चित की जाती थीं। जितने घण्टे इन बच्चों को काम करना पड़ता, उससे एक वेस्ट इण्डीजवासी दास-व्यापारी भी सन्तोष प्राप्त कर सकता था। ब्रैडफोर्ड के तीन मिल-मालिकों से बात करते हुए उनमें से एक ने कहा था: "मैं सदैव दासों का स्वामी होने में लज्जा का अनुभव करता हूं। फिर भी वेस्ट इंडीज द्वीपों में हम किसी मनुष्य के लिए इतना क्रूर होना कभी सम्भव नहीं समझते थे कि नौ वर्ष के बालक से दिन में साढ़े बारह घण्टे काम लिया जाए और आप स्वीकार करते हैं कि यह आपका नित्य का काम है।"[1]

यह दास-स्वामी एक अन्य तुलना भी खींच सकता था। वेस्ट इंडीज द्वीपों में और अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में दोनों स्थानों पर दासों के रहने के बाड़े बहुत ही खराब थे। लेकिन यह तर्क दिया जा सकता था कि कुछ बातों में नये फैक्टरी नगरों में मजदूरों के घरों से वे अधिक बुरे नहीं थे। वाष्प-शक्ति के आगमन के साथ अब पहले की तरह यह आवश्यक नहीं रह गया था कि नगर जलाशयों के निकट ही हों। उद्योग कोयला क्षेत्रों के समीप बढ़ रहे थे। लगभग रातों रात महत्वहीन स्थान नगरों में बदल गये थे और पुराने नगर शहर बन गये थे। 1770 में इंग्लैंड की ग्रामीण जनसंख्या कुल संख्या का चालीस प्रतिशत थी लेकिन 1841 में यह बीस प्रतिशत रह गई। नगरों की जनसंख्यावृद्धि के अंक बतलाते हैं कि क्या हो रहा था:

	1801	**1841**
मैनचेस्टर	35,000	353,000
लीड्स	53,000	152,000
बर्मिंघम	23,000	181,000
शेफील्ड	46,000	111,000[2]

[1]J.L. and B. Hammond. *op. cit.*, p. 160.
[2]Th. Rothstein. ***From Chartism to Labourism***, p.9. Martin Lawrence. Ltd., 1929.

प्रसिद्ध स्थान प्रसिद्ध माल तैयार कर रहे थे। माल तैयार करने वाले मजदूर अंधेरी, अस्वास्थ्यकर तंग और गन्दी बस्तियों में रहते थे। एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री नासौ सीनियर 1837 में मैनचेस्टर के एक भाग से गुजरा। उसने जो कुछ देखा, उसका वर्णन उसने इस प्रकार किया है: "जहां तक निवासियों की संख्या और सीमा का प्रश्न था, ये नगर थे। इनका निर्माण बनाने वाले की सुविधा के अतिरिक्त किसी भी अन्य बात को ध्यान में रखकर नहीं हुआ... एक स्थान पर हमने सारी गली को एक नाले के साथ-साथ जाते देखा क्योंकि इस तरह बिना खुदाई किए गहरे गोदाम बनाये जा सकते थे। ये गोदाम माल अथवा कूड़ा डालने के लिए नहीं, मनुष्यों के रहने के लिए थे। *इस गली में* **हैजे से कोई घर नहीं बचा था**। संक्षेप में, इस उपनगर की गलियां कच्ची थीं, बीच-बीच में स्थान-स्थान पर गन्दगी के ढेर थे; गड्ढे पड़े हुए थे। घर साथ-साथ थे, जिनमें न हवा के लिए और न नालियों के लिए कोई स्थान था। पूरा परिवार गोदाम या कमरे के एक कोने में समा जाता था।"[1]

तिरछे अक्षरों पर विशेष ध्यान दीजिए। यह स्पष्ट है कि जिन गरीबों को इन घरों में रहना पड़ता था, उनके स्वास्थ्य पर इस प्रकार के वातावरण का प्रभाव क्या पड़ता होगा। बीमारी और मौत उन गरीबों की घात में रहती थी, जो इतने अभागे थे कि उन्हें इस प्रकार के घरों में रहना पड़ता था। जो व्यक्ति नगर के दूसरे भाग में जन्म लेता था, वह सचमुच ही भाग्यशाली था क्योंकि डा. पी. एच. हालैण्ड के प्रतिवेदन के अनुसार, जिन्होंने 1844 में मैनचेस्टर के उपनगर क्षेत्र में इस विषय पर अनुसन्धान किया था, आप कितने समय तक जीवित रहते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि आप कहां रहते हैं। "जब हम देखते हैं कि कुछ गलियों की तुलना में दूसरी गलियों की मृत्यु-दर चार गुनी और इन गलियों में रहने वाली सभी श्रेणियों की मृत्यु-दर अन्य श्रेणियों की अपेक्षा दो गुनी है और यह भी देखते हैं कि उन गलियों में मृत्यु दर निरन्तर ऊंची रहती है जो बुरी दशा में हैं और प्राय: उन गलियों में सतत कम है, जहां अवस्था अच्छी है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने से नहीं बच सकते कि हमारे ही सहस्त्रों सह-प्राणी, ***हमारे सैकड़ों निकट पड़ोसी*** प्रतिवर्ष केवल आवश्यक

[1]Quoted in F. Engels, *The Condition of the Working Class in England in 1844*, pp. 63, 64. Allen & Unwin, London, 1920.

जागरूकता के अभाव में नष्ट हो रहे हैं।''[1]

अन्य राष्ट्र–धनी वर्ग अपने ''निकट पड़ोसी'' के विनाश के सम्बन्ध में क्या सोचता था? सम्पन्न लोगों का व्यवहार फैक्टरी की अवस्थाओं, काम के लम्बे घण्टों, बच्चों के श्रम आदि के प्रति क्या था? अधिकांश तो इन बातों पर कुछ सोचते ही नहीं थे। जब सोचते भी थे तो इस विचार के साथ अपने आपको आश्वस्त कर लेते थे कि जो कुछ हो रहा है, वही होना था। बाइबिल में नहीं, लिखा है कि ''निर्धन तुम्हारे साथ सदा रहेंगे''?[2] मनुष्य के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध के विषय में बाइबिल ने कुछ और भी कहा है, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वे केवल वही पढ़ते थे जो वे पढ़ना चाहते थे और केवल वही सुनते थे जो सुनना चाहते थे।

अत: कुछ बातें जो आज हमारे और आपके लिए अत्यन्त भयंकर प्रतीत होती हैं। उस युग के धनिकों को स्वाभाविक और उचित प्रतीत होती थीं। बच्चों के लिए स्कूल से बाहर रहना और चौदह घण्टे दिन में काम करना बुरी बात है? बकवास! एक सूती मिल के मालिक श्री जी.ए. ली, जिनकी मिल में बच्चों के काम के घण्टे प्रात: छ: बजे से आठ बजे रात तक थे, कहते हैं: आचार के अनुकूल इससे अधिक उपयुक्त और कुछ नहीं है कि आरम्भ से ही अधीनता, उद्यम और नियमितता का स्वभाव डाला जाए।''[3]

श्री ली निर्धनों के आचार के बारे में चिन्तित थे। इसी प्रकार रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष श्री गिड्डी थे जो श्रमिक श्रेणी के बच्चों के लिए प्रारम्भिक स्कूलों की स्थापना के विरुद्ध थे। श्री गिड्डी के रोचक तर्क इस प्रकार थे: ''निर्धनों की श्रमिक श्रेणियों को शिक्षा देना... इसका प्रभाव उनकी प्रसन्नता और उनके आचार पर बुरा पड़ेगा। उससे समाज में उनकी जो स्थिति उनके भाग्य ने निश्चित कर दी है, उसके अनुसार कृषि और अन्य श्रम-कार्यों में अच्छे सेवक बनने की अपेक्षा वे अपने जीवन की अवस्था से घृणा करना सीखेंगे। ...वे विद्रोहपूर्ण प्रपत्र पढ़ेंगे.... इससे उनमें अपने बड़ों के प्रति अवज्ञा की भावना उत्पन्न होगी।''[4]

[1] *Ibid.*, 107.
[2] St. John, 12:8.
[3] Hammond, *op. cit.*, p. 163.
[4] *Ibid.*, p.57

लेकिन अगर हम इस युग के एक अन्य साक्ष्य पर विश्वास करें तो अपने जीवन की अवस्थाओं से घृणा करने की अपेक्षा आभारी अनुभव करने का प्रत्येक कारण उनके पास विद्यमान था। वे सचमुच भाग्यशाली थे जो मानवता के वरदान फैक्टरी-व्यवस्था के अंग थे। कम से कम ऐण्ड्रयू उरे का यही विश्वास था जिन्होंने 1835 में लिखा: "अपनी हाल की यात्रा में.... मैंने सहस्त्रों वृद्ध, युवा और किशोर स्त्री-पुरुषों को देखा है... बिना पसीने की एक बूंद भी गिराये वे प्रचुर भोजन, वस्त्रालंकार, तथा आवास-गृह प्राप्त करते हैं, वे राजाधिराजों के महलों से भी अधिक हवादार और स्वाथ्यवर्धक भवनों में ग्रीष्म की धूप ओर शीत के पाले से रक्षा पाने के लिए आश्रय ग्रहण करते हैं.... जिनमें हमारे सम्भ्रान्त लोग आज रहते हैं... वे भव्य प्रासाद संख्या, मूल्य, उपयोगिता और निर्माण की प्रवीणता में एशियाई, मिस्री और रोमन निरंकुश शासकों के दर्पपूर्ण कीर्ति-स्तम्भों से कहीं अधिक बढ़कर हैं।... ऐसी है फैक्टरी व्यवस्था।"[1]

सम्भवतः यह जान लेना उचित होगा कि डा. उरे फैक्टरियों की यात्रा कर रहे थे उन्होंने किसी फैक्टरी में काम नहीं किया।

जब डा. उरे ने फैक्टरी-व्यवस्था की प्रशंसा की रट आरम्भ की, उससे बहुत पूर्व एक चर्च-अधिकारी ने दरिद्र निर्धनों को आत्म-संतोष और सहायता दी। किसी साधारण पादरी ने नहीं स्वयं बिशप के सहकारी–आर्चडीकन पैली ने। श्रमिक श्रेणी के उन लोगों को, जो सोचते थे कि वे बहुत बुरी अवस्था में हैं और धनी अच्छी अवस्था में, इस असाधारण चर्च-अधिकारी ने उत्साह के शब्द दिए। "फिर, कुछ आवश्यकताएं जो निर्धनता.... के कारण उत्पन्न होती हैं कठिनाइयां नहीं, आनन्द हैं। मितव्ययिता स्वयं एक आनन्द है। यह ध्यान और उपाय-चिन्तन का अभ्यास है जिससे..... सन्तोष मिलता है.... यह प्राचुर्य में खो जाता है। असीमित भण्डार में से लेने का कोई आनन्द नहीं है... एक अन्य गम्भीर लाभ निम्न अवस्था के लोग पा लेते हैं, जिससे वे सरलतावूर्पक अपनी संतान को पाल सकते हैं। वह सब जो एक निर्धन की सन्तान के लिए आवश्यक

[1]A. Ure, *The Philosophy of Manufactures* (1835), 3rd ed., p. 17. London, 1861.

है, दो शब्दों में निहित है–'उद्यम और अबोधता'।''[1]

और अगर कोई मूर्ख व्यक्ति इतना हठी है कि वह उस बात पर विश्वास नहीं करता कि निर्धनता वास्तव में एक आनन्द है तो आर्चडीकन के तरकश में उसके लिए एक और तीर है। निर्धन धनिकों के अवकाश से ईर्ष्या करते हैं। कितनी बड़ी भूल है। वस्तुत: धनिकों को ईर्ष्यालु होना चाहिए क्योंकि अवकाश कठोर श्रम के पश्चात् ही आनन्ददायक होता है। उनका कथन है: ''अन्य वस्तु, जिससे निर्धन धनिकों से ईर्ष्या कर सकते हैं, वह है विश्राम। यहां वे विषय को पूर्णत: गलत समझते हैं।... विश्राम परिश्रम की निवृत्ति है। अत: जो लोग थकावट को जानते हैं, उनके अतिरिक्त न तो कोई इसका आनन्द उठा सकता है और न इसका अनुभव ही कर सकता है। निर्धन विश्राम का जो आनन्द अनुभव करते हैं उसे धनी ईर्ष्या के बिना नहीं देखते।''[2]

आर्चडीकन पैली ने आत्मसन्तोष देने वाले उक्त शब्द 1793 में लिखे। आपको स्मरण होगा, यह वही समय था, जब फ्रांस में निर्धन अपने देश के विशिष्टाधिकार-प्राप्त वर्ग को अधिकार-च्युत करने का प्रयत्न कर रहे थे। फ्रांस की राज्यक्रांति रक्त-पूर्ण थी। इंग्लैंड के धनी वर्ग ने उसे पसन्द नहीं किया। वे इस विचार से भी घृणा करते थे कि फ्रांस की भयंकर भावना–''उनके सिर उड़ा दो!''–समुद्र पार कर उनके अपने दलित-वर्ग को भी दूषित कर दे। अत: निर्धनों के उस मित्र आर्चडीकन ने उन निर्धन अंग्रेजों को पूर्व चेतावनी दी जो अधिक गर्म मस्तिष्क वाले थे: ''परिवर्तन और केवल वही परिवर्तन वांछनीय है जो क्रमिक और प्रगतिशील उन्नति का बोधक है... जो सफल उद्योग का स्वाभाविक फल है...यह केवल व्यवस्था और शांति से ही... प्राप्त हो सकता है। किसी भी अन्य मार्ग से यह असम्भव है...धनिकों के भाग्य और स्थान की स्पृहा करना अथवा उन्हें बलात् पकड़ कर जन-आन्दोलन और अव्यवस्था द्वारा उन्हें स्थान-च्युत करने की आकांक्षा करना न केवल अधर्म है अपितु मूर्खता भी।''[3]

अंग्रेज निर्धन वर्ग ने चर्च-अधिकारी की सम्मति स्वीकार की। उन्होंने ''धनिकों के भाग्य को हस्तगत नहीं किया''। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बीतता

[1] W. Paley, *Reasons for Contentment; Addressed to the Labouring Part of the British Public*, pp. 11, 12. London, 1793.
[2] *Ibid.*, p. 16.
[3] *Ibid.*, pp. 20, 22.

गया, वे "उस क्रमिक और प्रगतिशील उन्नति" की आकांक्षा अवश्य करते रहे, जिसका उसने वचन दिया था कि वह "सफल उद्योग का स्वाभाविक फल" है। वह फल प्राप्त न हुआ। अतः उन्हें उसके लिए संघर्ष करना पड़ा।

उदाहरणार्थ उन्होंने काम के घण्टे कम करने के लिए संघर्ष किया। इस संघर्ष में उन्हें कुछ धनिकों का भी साथ मिला जिनमें मानवता थी और जो इस बात पर सहमत थे कि चौदह-पन्द्रह घण्टे दिन में बहुत होते हैं। इनमें से कुछ धनिकों ने इस प्रश्न को संसद में उठाया। उन्होंने काम के घण्टे दिन में दस तक सीमित करने के पक्ष में भाषण दिये। उन्होंने अपने कुछ साथी सदस्यों को इस विषय से सम्बन्धित विधेयक के समर्थन के लिए मना लिया। इससे बहुत से लोग अप्रसन्न हो उठे। उन्हीं में डा. उरे भी थे। वह क्रोध से भर उठे। कारण रोचक था: "किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता होगा कि ब्रिटिश संसद के 93 सदस्य इस मत के समर्थक पाये गये कि किसी भी श्रेणी के बालिग कारीगर को दिन में दस घण्टे से अधिक श्रम नहीं करने देना चाहिए—प्रजा की स्वतन्त्रता में यह एक ऐसा हस्तक्षेप है जिसकी स्वीकृति ईसाई जगत की किसी अन्य विधान-सभा ने आज तक नहीं दी होगी। ग्लस्टरशायर के निर्माताओं ने ठीक ही इस प्रस्ताव को 'घोर अंधकारमय युग के योग्य' कहा है।"[1]

डा. उरे भी आर्चडीकन पैली की भाँति श्रमिक वर्ग के मित्र थे। अतः वे और ग्लस्टरशायर के निर्माता उस प्रस्ताव पर कुपित थे जो मालिक़ की इच्छानुसार मजदूरों की लम्बे समय तक काम करने की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करता था। अंग्रेजों की ऐतिहासिक स्वतन्त्रता का क्या होगा, अगर संसद उनसे मरणान्तक श्रम करने के अहस्तान्तरणीय अधिकार छीन लेगी?

यह तर्क कि श्रम के घण्टे सीमित करना मनुष्य की प्राकृतिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप है अत्यन्त महत्वपूर्ण था। अमरीका और इंग्लैंड में इस तर्क का बार-बार प्रयोग किया गया। जिन निर्माताओं ने यह तर्क उठाया, उन्होंने इसे ***लैसे-फेयर*** के सन्देशवाहक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ से प्राप्त किया। (रोचक बात यह है कि स्वयं श्रमिक अपने प्राकृतिक अधिकारों के हनन से चिन्तित नहीं थे।) जैसा कि हमने देखा है, यह सत्य था कि व्यापारवादी नियन्त्रणात्मक नीतियों के

[1]Ure, *op. cit.*, p. 297.

कट्टर आलोचक स्मिथ ने इस प्रकार के हस्तक्षेपों का घोर विरोध किया था। निर्माता ***राष्ट्रों की समृद्धि*** का उद्धरण प्रस्तुत कर सकते थे: "प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम के रूप में अपने पास जो सम्पत्ति रखता है, वह उसकी अन्य समस्त सम्पत्ति का मूल आधार है। अत: यह सबसे पवित्र और अनुल्लंघनीय सम्पत्ति है। एक निर्धन व्यक्ति की पैतृक सम्पत्ति उसकी काम करने की शक्ति और उसके हस्तकौशल में निहित है और अपने पड़ोसी को कोई हानि न पहुंचाते हुए वह उस शक्ति और कौशल को जिस प्रकार उचित समझे, प्रयुक्त कर सकता है। इसमें बाधा डालना इस पवित्रतम सम्पत्ति का अतिक्रमण करना है। इस बात का निर्णय करना कि क्या वह काम में लगाये जाने के योग्य है, निश्चय ही, काम देने वाले की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए, जिसका हित उससे अधिक सम्बन्धित है।"[1]

एडम स्मिथ ने निस्संदेह यह व्यापारवादी विनियमन और नियन्त्रण के विरुद्ध लिखा था। यह कहा जा सकता है कि निर्माता जब 1776 में लिखे हुए इस उद्धरण का उपयोग कर रहे थे, वे इसका संदर्भ से अधिक अर्थ निकाल रहे थे। लेकिन हम यह मान लेते हैं कि स्मिथ को उद्धृत करना उचित था। लेकिन जो उनके हित में नहीं था, वहां स्मिथ ने क्या लिखा था, यह भूल जाना अनुचित था। जो उनके कार्यों को संगत सिद्ध करता है, उसे निकाल लेना और जो उनके विरुद्ध है, उसकी अवहेलना करना यह प्रवृत्ति शासक श्रेणी के लिए उपयोगी थी पर श्रमिक-श्रेणी के लिए विनाशक। लगभग सौ वर्ष से अधिक ऐसा ही होता रहा।

श्रमिक अपनी अवस्था को सुधारने के लिए क्या कर सकते थे? आपने क्या किया होता? मान लीजिए, आप एक मिल तैयार होती देखते हैं, जिसमें मशीनें लगाई गई हैं और शीघ्र ही उन मशीनों ने इतनी हौजरी इतने सस्ते मूल्य पर तैयार करनी आरम्भ कर दी कि आपका उपार्जन दिन-प्रतिदिन कम होता गया और अन्त में भूखों मरने की स्थिति आ गई। आप उन दिनों को स्मरण करेंगे, जब मशीनें नहीं आई थीं। और जो कभी अच्छा जीवन रहा था, वह आज आपको दिवास्पप्नों में विलासमय जीवन प्रतीत होगा। तब आप अपने आपको देखेंगे और जिस निर्धनता में आप पड़ गये हैं, उस पर दहल उठेंगे। आप अपने

[1]Adam Smith, *op. cit.*, vol. I, p. 123.

आपसे कारण पूछेंगे जो आप हजारों बार पहले भी पूछ चुके होंगे आप उसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे–मशीन! मशीन ही थी जिसने मनुष्य से काम छीन लिया और वस्तुओं की कीमतें गिरा दी। मशीन–वही शत्रु थी।

जब निराशान्ध व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंच गया तो अगला कदम अपरिहार्य था।

मशीनों का विध्वंस।

फीते बनाने की मशीनें–मोजे-बनियानें बनाने की मशीनें, बुनने की मशीनें, कातने की मशीनें–जहां जो भी मशीन मजदूरों को भूख और कष्ट का करण दिखाई दी, नष्ट कर दी गई, तोड़ दी गई या जला दी गईं। मशीनों की तोड़-फोड़ करने वाले लुडाइट (गरम दल) कहलाये गये जो मशीनों के विरुद्ध लड़ते हुए समझ रहे थे कि जीवन-स्तर के लिए लड़ रहे हैं। मशीनों के प्रति उनकी समस्त दबी हुई घृणा उभर कर बाहर फूट पड़ी, जबकि वे निम्न प्रकार की तुकबन्दियां गाते हुए तोड़-फोड़ कर रहे थे:

"चारों ओर हम एकत्र होकर खड़े होंगे
और दृढ़ निश्चय के साथ शपथ लेंगे।
हम औजार और खिड़कियां तोड़ डालेंगे,
चमकती मिलों को आग लगा देंगे।"[1]

इस हिंसा के परिणाम की कल्पना आप सहज ही में कर सकते हैं। सम्पत्ति नष्ट कर दी गई। असंयत जन-समूह द्वारा मशीनें तोड़-फोड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दी गईं। जो मशीनों के मालिक थे, उन्होंने शीघ्र कार्य किया। उन्होंने कानून की पुकार की। कानून उनकी पुकार का उत्तर देने में सुस्त नहीं था। 1812 में संसद ने मशीनों का विध्वंस मृत्यु दंड द्वारा दण्डनीय बनाने का एक विधेयक पारित किया। लेकिन विधेयक के पारित होने से पूर्व राज्यसभा के एक सदस्य ने विषय के विरोध में अपना भाषण दिया। उसने कानून निर्माताओं को स्मरण दिलाया कि मशीनों के विध्वंस का कारण मनुष्य का विध्वंस रहा है। "जबकि इन दंगों के आतंककारी स्वरूप की चेतावनी को स्वीकार करना

[1]F. Peel, *The Risings of the Luddites, Charitists and Plugdrawers,* 2nd ed., p. 284. Heckmondwike, 1888.

होगा, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अतुलनीय निर्धनता की परिस्थितियों से इनका जन्म हुआ है। इन प्रमाणों में दयनीय लोगों की दृढ़ता यह सिद्ध करती प्रतीत होती है कि इस विशाल जनता को, जो कभी ईमानदार और उद्यमी थी, स्वयं अपने प्रति इतने संशयाक्रान्त अतिरेक में बदल डालने वाला केवल परम अभाव ही था और कुछ नहीं... अपनी मूर्खता के कारण वे अपने हृदय में यह सोच बैठे हैं कि जिस व्यापार ने कामगरों को बेरोजगार कर दिया है और श्रमिक को उसकी मजदूरी के अयोग्य बना दिया है उस व्यापार की कार्यान्विति में किसी प्रकार के सुधार द्वारा कुछ व्यक्तियों के धनी होने की अपेक्षा उद्यमी निर्धनों का अनुरक्षण और सुकर्म अधिक महत्व का विषय है...

आप इन्हें जमघट कहते हैं जो निराशान्ध, खतरनाक और अज्ञानी हैं। ....क्या हम इस जन-समूह के प्रति हमारे कर्तव्यों से परिचित हैं? यह जनसमूह ही है जो हमारे खेतों में श्रम करता है; मकानों में सेवा करता है—इसी से आपके जहाजों को आदमी मिलते हैं, सेना की भरती होती है—इसी के बल पर आप सारे संसार को चुनौती देने के योग्य बने हैं और अगर इसकी उपेक्षा की जाए, तो ये भी आपको चुनौती दे सकते हैं, और घोर विपत्तियों ने उन्हें निराशान्ध.बना दिया है।''[1]

27 फरवरी, 1812 को जिस व्यक्ति ने यह भाषण दिया था, वह व्यक्ति था लार्ड बायरन।

मशीनों का विध्वंस बुद्धिमत्तापूर्ण योजना नहीं थी। अगर यह सफल भी हो जाती तो इससे श्रमिकों की समस्या हल न होती। वे गलत लक्ष्य पर प्रहार कर रहे थे। मशीन उनकी चोटों का कारण नहीं थी—मशीनों के मालिक भू-स्वामियों की तरह, जिन्होंने भूमि की क्षेत्रबन्दी कर ली थी, प्रकट रूप में नहीं किन्तु प्रभावशाली ढंग से उन्हें उनके उत्पादन के साधनों से अलग कर रहे थे।

श्रपिकों ने शीघ्र ही समझ लिया कि मशीनों का विनाश उनकी मुक्ति का मार्ग नहीं था। कुछ श्रमिकों ने अन्य उपाय ग्रहण करने के प्रयत्न किये। उदाहरणार्थ, यहां एक दयनीय याचिका है जिस पर एक समुदाय ने "निर्धन बुनकर" के रूप में हस्ताक्षर किए हैं। यह याचिका 1818 में ओल्डहैम में अपने मालिकों के नाम लिखी गई थी: "हम, नगर और पड़ोसी क्षेत्रों के बुनकर सादर

[1]*Ibid.*, pp. 71-72, 75.

आपका ध्यान अपनी उस दयनीय स्थिति की ओर दिलाते हैं जिसमें हम मजदूरी के बहुत अधिक गिर जाने के कारण काफी समय से रह रहे हैं और आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप अपनी एक बैठक बुला कर प्रयत्न करें कि मजदूरी बढ़ाई जाय-ओर हमारे कष्टों में कमी हो। जैसा कि आप जानते हैं, हमारी वर्तमान मजदूरी जीवन की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त नहीं। आपके लाभ को हानि पहुंचाने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमारी धारणा है कि यदि आप मिलकर कुछ प्रयत्न करें तो आपके लाभांश पर प्रभाव डाले बिना भी हमारी बात पूरी हो सकती है।"[1]

इस प्रकार की अन्य याचिकाएं भी थीं—सैकड़ों। पर मालिकों को भेजी जाने वाली याचिकाएं शीघ्र ही बन्द कर दी गई थीं क्योंकि उनसे कोई लाभ नहीं हुआ था। बाद में याचिकाएं संसद में भेजी जाने लगीं। अनेकों पर ध्यान ही नहीं दिया गया। लेकिन कुछ अन्य याचिकाओं ने ध्यान खींचा। विधि-ग्रन्थ में पहले से ही कुछ कानून थे जिनसे श्रमिक वर्ग को कष्टों से मुक्ति पाने में कुछ सहायता प्राप्त हो सकती थी। इन याचिकाओं के परिणामस्वरूप ही कानून-निर्माताओं की जांच-समितियां बनी, जिन्होंने सन्देह से ऊपर उठ कर सिद्ध कर दिया कि श्रमिक जो कुछ कर रहे थे, अवस्थाएं उतनी ही भयंकर थीं।

लेकिन विधि-ग्रन्थों में कानूनों का होना एक बात है और कानूनों का व्यवहार में लागू होना दूसरी बात। श्रमिकों ने शीघ्र ही यह भी जान लिया। उन्होंने यह भी समझा कि एक ही कानून उनके ऊपर एक तरह से लागू किया जा सकता है और उनके मालिकों पर दूसरी तरह से।

कभी-कभी यह सत्यता इस प्रकार प्रकट होती कि जब श्रमिक अपनी शिकायत लेकर न्यायालय में पहुंचे तो उन्होंने देखा कि जिस मजिस्ट्रेट ने उनकी शिकायत सुनी है वह उनका वही मालिक है जिसके विरुद्ध वे शिकायत लेकर आए थे। इन परिस्थितियों में निष्पक्ष न्याय का अवसर कम ही था।

लेकिन गठबंधन सदैव निकट का नहीं होता था। इतना ही पर्याप्त था कि अधिकांश अवस्थाओं में मजिस्ट्रेट उसी श्रेणी के थे, जिस श्रेणी के उनके मालिक। अथवा जहां वे उसी श्रेणी के नहीं थे, वे उन बातों पर उन्हीं की दृष्टि

[1] J.L. and B. Hammond, *The Skilled Labourer, 1760-1832,* p. 110. Longmans, Green and Co., London, 1919.

से सोचते थे। श्रमिक नीची दृष्टि से देखे जाते थे और मालिक ऊंची दृष्टि से। मजिस्ट्रेट इस भावना के साथ विचार आरम्भ करता था कि श्रमिकों को कुछ टुकड़े फेंक देने पर उन्हें उस पर आभारी होना चाहिए और उन टुकड़ों के फेंकने पर उन्हें मालिकों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। इन परिस्थितियों में पासा श्रमिक श्रेणी के विरुद्ध पड़ता था। ***नगर का श्रमिक*** में दो विख्यात इतिहासकार वस्तुस्थिति का सार इस प्रकार बतलाते हैं: "संसद ने श्रमिकों को बहुत अधिक सुविधाएं नहीं दीं लेकिन जो थोड़ी-बहुत सुविधाएं उन्हें प्राप्त थीं, उनका मूल्य भी मजिस्ट्रेटों द्वारा उन कानूनों को लागू करने में अस्वीकार कर देने से समाप्त हो गया, जो मालिकों के लिए अहितकर थे।... अधिकांशत: मजिस्ट्रेट यह मान कर चलते प्रतीत होते थे कि अगर मालिक कानून का पालन नहीं करते तो उन्हें आज्ञाकारिता के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता... क्योंकि वे मालिकों से कानून का पालन नहीं करवा सकते थे अत: वे उनसे कानूनों का पालन करवाने के प्रयत्न के लिए लोगों को जेलों में भेजते थे।"[1]

स्पष्ट-दृष्टा एडम स्मिथ यह मानता था कि यह इस विशेष समय की अवस्था नहीं थी अपितु प्रत्येक समय में सभी पूंजीवादी देशों का साधारण सत्य यही था। मालिक अपने कार्यों के समर्थन के लिए अपने नेता की ओर देखते हुए इस बात के लिए सतर्क थे कि वे ***राष्ट्रों की समृद्धि*** के इस सन्दर्भ पर अधिक देर तक स्थित न रहें: "नागरिक सरकार, जहां तक सम्पत्ति की रक्षा के लिए संस्थापित है, वस्तुत: निर्धनों के विरुद्ध धनिकों की रक्षा के लिए अथवा उनके विरुद्ध जिनके पास कुछ नहीं, उन लोगों की रक्षा के लिए संस्थापित होती है, जिनके पास सम्पत्ति है।"[2]

श्रमिकों ने इस सत्य को कटु अनुभवों के पश्चात सीखा। पर वे क्या कर सकते थे? एक प्रत्यक्षत: स्पष्ट उपचार उन्हें स्वयं सूझ पड़ा। अगर वे अपने लिए मताधिकार प्राप्त कर सकें तो वे कानून-निर्माताओं पर कुछ लोगों द्वारा कुछ लोगों के लिए के स्थान पर अधिक लोगों द्वारा अधिक लोगों के लिए का कानून बनाने का दबाव डाल सकते हैं। उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें कानून-निर्माताओं के निर्वाचन में अपनी आवाज उठाने का अधिकार पाना होगा।

[1] J.L. and B. Hammond.*op. cit.*, pp. 66, 67.
[2] Adam Smith, *op. cit.*, vol. II. p. 207.

जब कानून श्रमिकों द्वारा बनाया जाएगा, वह उनके लिए होगा। कानून उनके मार्ग में बाधाएं डालता था–वह उनके मालिकों का बनाया हुआ था। अगर श्रमिक कानून बनाने में सहायता कर सकें, तब उनके लिए कुछ अवसर होगा। अगर सरकार भूमिपतियों को अन्न सम्बन्धी कानून बनाकर, निर्माताओं को चुंगी सम्बन्धी कानून बनाकर संरक्षण दे सकती है तो वह श्रमिक वर्ग की मजदूरी और काम के घण्टों को भी संरक्षण दे सकती है। उन्होंने मताधिकार के लिए संघर्ष किया।

आज अमरीका और इंग्लैंड में हम राजनीतिक प्रजातंत्र के इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि हम यह विश्वास कर लेना चाहते हैं कि ऐसा हमेशा से ही रहा होगा। निस्संदेह, यह सत्य नहीं है। अमरीका और योरोप के दूसरे देशों में सभी नागरिकों को मताधिकार स्वेच्छा से प्रदान नहीं किया गया था। यह संघर्ष का परिणाम था। इंग्लैंड में श्रमिकवर्ग अधिकारपत्र आन्दोलन के पीछे संगठित होकर उठ खड़ा हुआ, जिसकी मांगें थीं:

1. सार्विक मताधिकार (पुरुषों के लिए)।
2. संसद में निर्वाचित सदस्यों को खर्च देना (जिससे निर्धन चुनाव का भार उठा सकें)।
3. वार्षिक संसद।
4. सदस्यता के लिए सम्पत्ति की योग्यता अनिवार्य न हो।
5. गुप्त मत-दान, निर्भय होकर मत देने के लिए।
6. समान निर्वाचन क्षेत्र।

अधिकार-पत्र आन्दोलन अपने आप धीरे-धीरे समाप्त हो गया। तथापि, एक-एक करके ये मांगें अन्ततः पूरी हो गईं (वार्षिक संसद की मांग को छोड़कर)। अधिकार-पत्रवादियों ने राजनीतिक प्रजातन्त्रवाद के लिए संघर्ष किया था क्योंकि वे इसे बेहतर अवस्था के लिए संघर्ष का एक हथियार समझते थे। कट्टरवादी स्टीफेन्स ने अपने श्रोताओं से कहा: "मित्रो, अधिकार-पत्रवाद कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं है जिसमें मुख्य प्रश्न आपके लिए मताधिकार प्राप्त करना है। अधिकार-पत्रवाद रोटी और रोजी का सवाल है। अधिकार-पत्र का अर्थ है, अच्छा मकान, अच्छा भोजन, समृद्धि और काम के घण्टों में कमी।"[1]

[1]Quoted in Engels, *op. cit.*, p. 230.

पादरी स्टीफेन्स आशावादी था। श्रमिक वर्ग ने राजनीतिक प्रजातंत्र के लिए अपने संघर्ष में विजय प्राप्त की लेकिन जिन अच्छी वस्तुओं को पाने की उसने भविष्यवाणी की थी, वे प्राप्त नहीं हुईं। वे खण्ड-खण्ड करके प्राप्त तो हुईं पर केवल मतों के द्वारा नहीं। सम्भवत: श्रमिकों के लिए बेहतर अवस्था, ऊंची मजदूरी और काम के घण्टों में कमी प्राप्त करने का सबसे महत्वपूर्ण अंग था अपने हितों के लिए अपने ही संगठन ट्रेड यूनियन-श्रमिक संघ द्वारा संघर्ष।

श्रमिक संघ नए नहीं थे। ये कामगरों के संगठनों के उन आरम्भिक रूपों में से थे जिनका विकास धीरे-धीरे पुरानी कर्मी-संस्थाओं से हुआ था। लेकिन जब उद्योग में पूंजी का महत्व इतना बढ़ गया, कामगरों की संस्थाओं ने व्यापारी संघों के युग की संस्थाओं का रूप बदल कर आज के श्रमिक-संघ का बाना धारण किया, जिसमें एक व्यवसाय के मजदूर स्वयं अपने पर निर्भर करते हुए बेहतर अवस्था को प्राप्त करने के लिए अपने हितों की रक्षा में संगठित होते हैं।

श्रमिक-संघ रातों-रात नहीं उठ खड़े हुए। वर्ग हितों की रक्षा की भावना के विकास में काफी समय लगा। इस भावना के विकास के बिना राष्ट्रीय स्तर पर वास्तविक संगठन असम्भव था। औद्योगिक क्रांति के साथ श्रमिक-संघवाद ने लम्बे-लम्बे डग भरे। यह होना ही था क्योंकि औद्योगिक क्रांति ने श्रमिकों का नगरों में केन्द्रीकरण किया; परिवहन और यातायात में सुधार हुए जो राष्ट्र-व्यापी संगठन के लिए अनिवार्य थे और वे अवस्थाएं उत्पन्न हुईं जो श्रमिक-आन्दोलन के लिए इतनी आवश्यक थीं। इस प्रकार श्रमिक संगठन पूंजीवाद के विकास के साथ उन्नत हुआ जिसने वर्ग और वर्ग-भावना को जन्म दिया। ओर इसके साथ सहयोग और परिवहन के भौतिक साधनों को उत्पन्न किया। श्रमिक-संघवाद उन देशों में सबसे शक्तिशाली है जिनमें औद्योगीकरण सबसे अधिक है, जहां फैक्टरी-व्यवस्था से बड़े-बड़े नगरों का विकास हुआ है। फ्रेडरिक एंगेल्स ने 1844 में इस ओर संकेत करते हुए लिखा था: "अगर जन-संख्या का केन्द्रीकरण सम्पत्तिशाली वर्ग के विकास में तेजी लाता है तो श्रमिकों के विकास में यह और भी गति उत्पन्न करता है। श्रमिक अपने को एक समूह—एक वर्ग के रूप में अनुभव करने लगते हैं; वे समझने लगते हैं कि व्यक्ति के रूप में वे कितने भी तुच्छ हों, संगठित होकर वे एक शक्ति बन जाते हैं। पूंजीवादी वर्ग से उनका पृथक्करण यानी श्रमिकों के जीवन में उनकी स्थिति से सम्बद्ध

विशिष्ट दृष्टिकोण के विकास की भावना का पोषण होता है, दलित होने की चेतना जाग्रत होती है और श्रमिक सामाजिक एवं राजनीतिक महत्व प्राप्त करते हैं। बड़े नगर श्रमिक आन्दोलन के जन्मस्थान हैं, इन्हीं नगरों में श्रमिकों ने सबसे पहले अपनी अवस्था पर विचार करना और उसके विरुद्ध संघर्ष करना आरम्भ किया, इन्हीं नगरों में सबसे पहले बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग का विरोध प्रत्यक्ष रूप से घोषित हुआ, इन्हीं से श्रमिक-संघों, अधिकार-पत्रवाद और समाजवाद का विकास हुआ।"[1]

औद्योगिक क्रांति, जो प्रथम इंग्लैंड में हुई, दूसरे देशों में फैली। कुछ देशों में अभी यह अपनी राह पर है। और यद्यपि प्रत्येक देश में इसने इंग्लैंड के आदर्श का ही अनुकरण नहीं किया, तथापि परिस्थितियों के विभेद से अथवा धनिकवर्ग के रुख के अनुसार अथवा सरकारी संस्थाओं के अपनाए हुए कानूनी सुधारों के अनुसार इसका रूप भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक दृष्टि से सभी देशों में इंग्लैंड के इतिहास का पुनरावर्त्तन हुआ है। प्रत्येक स्थान पर श्रमिक संघों पर युद्ध हुआ है।

यह एक पुराना युद्ध है। पूर्वातिपूर्व 14वीं शताब्दी में ही अपनी अवस्थाओं को सुधारने के लिए एकत्र होना अवैध घोषित कर दिया गया था और उसके पश्चात् प्रत्येक शताब्दी में कानून ने इस प्रकार के सम्मेलनों का दमन किया है। 1776 में एडम स्मिथ ने इस विषय पर लिखा: "श्रम की सामान्य मजदूरी क्या है, यह सर्वत्र प्राय: उन दो वर्गों के बीच के अनुबन्ध पर निर्भर है जिनके हित किसी प्रकार भी समान नहीं हैं। श्रमिक अधिक से अधिक पाना चाहते हैं: मालिक कम से कम देना चाहते हैं। श्रमिक मजदूरी बढ़ाने के उद्देश्य से सम्मिलित होने का निश्चय करते हैं और मालिक मजदूरी कम करने के उद्देश्य से।

लेकिन यह पूर्वानुमान कठिन नहीं है कि सभी साधारण अवसरों पर दोनों में से कौन सा वर्ग झगड़े में लाभ में रहता है। ...मालिक संख्या में कम होने के कारण सुविधापूर्वक मिल सकते हैं, और इसके अतिरिक्त, कानून उन्हें अधिकार देता है अथवा कम से कम निषेध नहीं करता जबकि वह श्रमिकों के सम्मिलन का निषेध करता है। संसद का कोई कानून मजदूरी को कम करने के

[1]Engels, *op. cit.*, p. 122.

लिए सम्मिलित होने के विरुद्ध नहीं मिलता। किन्तु इसे बढ़ाने के लिए सम्मिलित होने के विरुद्ध अनेक हैं।''[1]

स्मिथ ने 1776 में जो कुछ लिखा, वह संसार के प्रत्येक पूंजीवादी देश में सत्य था (और है)। जहां कानून ने निर्माताओं और श्रमिकों दोनों के लिए संस्थाबद्ध होने का निषेध भी किया है, वहां अधिकांशत: उस कानून को लागू श्रमिकों के विरुद्ध ही किया जाता है, मालिकों के विरुद्ध नहीं। इंग्लैंड फ्रांस, जर्मनी, अमरीका, सभी देशों में कानून ने श्रमिक-संघों पर निर्मम प्रहार किए।

एक चौथाई शताब्दी तक इंग्लैंड में, सम्मेलन कानूनों ने अपने हितों की रक्षा के लिए श्रमिकों का संस्था के रूप में सम्मिलित होना अवैध बनाए रखा। जब श्रमिकों ने संस्थाएं बनाईं, कानून न्याय में तत्पर था। ''स्टाकपोर्ट के हैट बनाने वाले नौ व्यक्तियों को षड्यन्त्र के अपराध में 1816 में दो वर्ष के लिए कारागार की सजा दी गयी। न्यायाधीश (सर विलियम गैरो) ने निर्णय देते हुए टिप्पणी दी: 'इस सुखी देश में जहां कानून नीच से नीच व्यक्ति को भी राज्य के सर्वोच्च व्यक्ति के समान स्तर पर रखता है, सभी समान रूप से संरक्षित हैं और संस्थाबद्ध होने की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती। .....श्री जैक्सन जैसे व्यक्ति के प्रति, जिसने 100 से 130 व्यक्तियों को काम पर लगाया हुआ है, सामान्य कृतज्ञता भी सिखाती है कि हम समाज के एक हितैषी के रूप में देखें'।''[2]

हैट बनाने वालों के लिए, जिन्होंने संघ बनाने का दुस्साहस किया–दो वर्ष का कारागार; श्री जैक्सन के लिए, जिसने उन्हें काम देने की कृपा की थी–प्रशंसा। न्यायाधीश का प्रथम वाक्य फिर पढ़िए। जो कुछ उसने कहा, क्या उसका वास्तविक अर्थ वही था।

इंग्लैंड की भांति फ्रांस में भी मजदूरी बढ़ाने के लिए संघबद्ध होना अवैध घोषित था। न्यायाधीशों को उन श्रमिकों के लिए खेद था जो कानून से भिड़ने की हठ करते थे। लीवैस्यूर के अनुसार, उन्होंने श्रमिकों को संघबद्ध होने के विरुद्ध सम्मति दी थी लेकिन कामगर यह अनुभव करते थे कि विभक्त होकर वे निर्बल थे और संगठित होकर शक्तिशाली। अत: वे अपनी संघ की

[1]Adam Smith, *op. cit.*, vol. 1, pp.68, 69.
[2]Hammond, *The Town Labourer*, p. 209, footnote.

गतिविधियों में दृढ़ रहे। "न्यायाधीशों ने दण्ड दिए यद्यपि उन्होंने सदैव कानून की पूरी शक्ति का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने कहा, 'न्यायालय दयालु रहा है लेकिन यह आपके लिए एक शिक्षा होगी और स्मरण रखें, यदि काम आपको विश्राम और प्रतिफल देता है, समूह-बद्ध होना आपके लिए निर्धनता और कारागार का कारण बनता है।' कामगरों ने... शिक्षा ग्रहण नहीं की। उनकी स्मृति में केवल एक बात रही कि 1822 की हड़ताल ने उनकी मजदूरी बढ़ाकर 35 सेण्टिम कर दी थी और 1833 की हड़ताल ने 40 सेण्टिम। और उन्होंने 50 सेण्टिम मजदूरी के लिए 1845 में फिर काम की हड़ताल कर दी।"[1]

जर्मनी में भी, श्रमिक इस तथ्य को समझने लगे थे कि श्रमिक-संघों ने ही उन्हें वह शक्ति दी है जिसकी उन्हें अपनी अवस्था सुधारने के लिए बहुत आवश्यकता थी। 1864 में बर्लिन के छापेखाने के कर्मियों ने प्रतिनिधियों की प्रशियन सभा को एक याचिका प्रस्तुत की: "इस धारणा के साथ कि श्रमिक वर्गों की सामाजिक अवस्था में सुधार के लिए पहली आवश्यकता यह है कि वर्तमान कानून संहिता में श्रमिकों पर लगाए गए नियन्त्रण हटा दिए जाएं, निम्न हस्ताक्षरित छापेखाने के मजदूर याचना करते हैं: वह यह विचार करते हुए... कि मांग और पूर्ति के अर्थशास्त्रीय नियम श्रमिक की... अस्तित्व-मात्र की कम से कम आवश्यकताओं.... को भी पूरा नहीं करते, व्यक्तिगत रूप से मजदूर.... अपनी मजदूरी बढ़ाने की..... स्थिति में नहीं हैं... और इसलिए संगठन का अधिकार.. न्याय और तर्क दोनों की मांग है... 1845 की औद्योगिक संहिता के नियम जो श्रमिकों के स्वतंत्र संगठन का निषेध करते हैं... हटा दिए जाएं।"[2]

सर्वत्र वही कहानी। श्रमिक अपनी विषमताओं को दूर करने के लिए परस्पर समूह-बद्ध होने के अधिकार के लिए संघर्षरत हैं। अमरीका में समाज सेवक कट्टरवादी संघ के 1935 के प्रतिवेदन के दो विवरण स्पष्ट करते हैं कि संघबद्ध होने के लिए उनका संघर्ष कितना उग्र था: "बीर्टन, डब्लू .वा... आतंक का एक दुष्ट आन्दोलन संघ के सक्रिय सदस्यों के विरुद्ध छेड़ दिया गया है।. ... प्रतिदिन नकाब पहने हुए कुछ लोगों के दल द्वारा संघ के कुछ सदस्य पीटे जाते हैं। पहला व्यक्ति जिसके साथ इस प्रकार का व्यवहार किया गया, सवारी

[1]E. Levasseur, *op. cit.*, vol. II, p. 241.
[2]H. Muller, *Geschichte der deutschen. Gewerkschaften bis zum Jahre 1878*, Verlag Vorwarts, Berlin, 1918.

के बहाने नगर से पन्द्रह मील दूर ले जाया गया और आक्रमणकारियों ने उसे वहां अधमरा करके छोड़ दिया। ...अब तक पांच व्यक्ति बुरी तरह पीटे गए हैं, अन्तिम व्यक्ति एक एकीकृत संस्था का प्रधान है...

ये समस्त विवरण स्पष्ट बतलाते हैं कि इस देश में अधिकार-विशिष्ट और अधिकार-विहीन वर्गों के बीच संघर्ष तेजी से हिंसक रूप धारण कर रहा है.. .. वर्ष भर में कम से कम 73 श्रमिक, फाल निकालने वाले, नीग्रो आर्थिक संघर्ष में मारे गए हैं, लेकिन मालिक एक भी नहीं।''[1]

लेकिन वैधानिक और अवैधानिक सभी प्रयत्नों के उपरान्त भी श्रमिक-संघों का अस्तित्व बना रहा। यह सरल न था। संघों के सदस्य जेलों में भेजे गए, संघ-कोष जब्त हुए, संघों को ''हितकारी संस्थाओं'' अथवा ''सामाजिक क्लबों'' का रूप धारण कर भूमिगत होना पड़ा; संघ के हथियार हड़तालें और धरने कुंठित कर दिए गए—फिर भी श्रमिक-संघ जीवित है। ये श्रमिक-संघ वह सब पाने के सबसे शक्तिशाली साधन थे जो श्रमिक चाहते हैं—जीवन का एक बेहतर मानदण्ड।

एक शताब्दी से कुछ अधिक पूर्व, इंग्लैंड में एक महाकवि ने ''ब्रिटेनवासियों के नाम'' सम्बोधित कर लिखा। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् की अवस्था और उसके प्रति श्रमिकों के प्रतिचार पर उसकी कविता इस अध्याय के निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत की जा सकती है।

ओ ब्रिटेनवासियो!
क्यों तुम भू-स्वामियों के हेतु भूमि जोतते हो,
दे रहे जो नीची से नीची स्थिति तुम्हें?
क्यों तुम उन स्वामियों के हेतु बुन रहे हो यह
नूतन आकर्षक वस्त्र
पटुता से, अथक परिश्रम से;
जिससे उन वस्त्रों को, जो कि बहुमूल्य हैं,
क्रूर वे शासक-गण गौरव से पहनें?

---

[1]Methodist Federation for Social Service, *The Social Questions Bulletin.* January, 1936.

क्यों तुम देते हो भोजन, वसन, रक्षा
जन्म से मृत्यु पर्यन्त सदा उनको ही,
वे जो अकृतज्ञ है, काहिल, निखट्टू हैं;
कर रहे हैं शोषण तुम्हारी पसीने की
गाढ़ी कमाई का,
नहीं, नहीं—खून चूसते हैं वे तुम्हारा।

कार्यशील, कर्मठ ओ मानवो, ब्रिटेन के!
इसी हेतु गढ़ते हो क्या तुम
अगणित औजारों को,
अस्त्रों को, शस्त्रों को,
श्रृंखला की कड़ियों को,
जिनके प्रयोगों से निर्दय वे
नर मधु-मक्खियों से
डंकहीन होकर भी
लूटें वे तुमको ही?
कर सकें प्रयुक्त सभी वस्तुएं वे तुम पर ही
जोकि कड़ी मेहनत से तुमने बनाई हैं।

क्या तुम्हारा अवकाश, शान्ति और विश्राम
आश्रय और भोजन,
प्रेम का सुकोमल अस्तित्व जो कि औषध-सा
घावों को भरता है,
कुछ भी नहीं है क्या वह भी
तुम्हारे लिए?
अथवा वह क्या है, जिस हेतु तुम चुकाते हो,
इतना बड़ा मूल्य
अपने परिश्रम से,
डर-डर कर शोषकों से,
स्वामियों से?

बीज तुम बोते हो,
किन्तु काटते हैं सदैव दूसरे ही उसे;
धन की वह राशि जिसे तुमने ही पाया है,
मांगते हैं, रखते हैं किन्तु दूसरे ही उसे;
वसन और भूषण जो तुमने बनाए हैं,
पहन कर पाते हैं शोभा दूसरे ही उसे;
अस्त्र-शस्त्र जिनका निर्माण तुम करते हो,
किन्तु उसे धारण कर दूसरे सुसज्जित हो
जाते हैं रण में
अपनी विजय के हेतु।

बीज तुम बोओ
किन्तु मत काटने दो
अपनी इन फसलों को
निष्ठुर उन शासकों को;
अर्जन करो, भोग करो अपनी धन-राशि का,
किन्तु मत करने दो
दूसरों को कोषों में संचित
यह अपना धन
उन छली प्रवंचकों को,
धनिकों को, स्वामियों को;
नूतन वसन, भूषणों को बुनो तुम,
किन्तु मत पहनने दो
अकर्मण्य कायरों को;
निर्मित करो अस्त्र-शस्त्र अपनी सुसज्जा को,
धारण करो स्वयं
....सदैव आत्म-रक्षा के लिए।[1]

–पर्सी बिषी शेली।

[1]*Shelley Complete Poetical Works*, edited by G.E. Woodberry, pp. 364, 365. Houghton Miffin Company, 1901.

17. किसके "प्राकृतिक नियम"?

वस्तुएं नीचे गिरती हैं ऊपर नहीं उठती। आप जानते हैं कि अगर आप खिड़की से बाहर कूद पड़ें तो आपका क्या होगा। भौतिक-विज्ञानियों ने इसकी व्याख्या बताकर हमें उपकृत किया है। न्यूटन ने एक गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त सूत्रबद्ध किया है जो उन प्राकृतिक नियमों की श्रृंखला में से एक है, जो हमें बताया जाता है, कि भौतिक जगत का वर्णन करते हैं। इन प्राकृतिक नियमों का ज्ञान आपको अपने कार्यों की योजना बनाने और अपने लक्ष्य तक पहुंचने के योग्य बनाता है। अज्ञान अथवा इन नियमों की अवहेलना से कोई काम कीजिए और आपको उसका परिणाम भुगतना पड़ेगा।

इसी प्रकार, औद्योगिक क्रांति के समय, अर्थशास्त्रियों ने कुछ नियम विकसित किये जिनके बारे में उन्होंने कहा कि वे सामाजिक और आर्थिक संसार में उसी प्रकार सत्य हैं, जिस प्रकार वैज्ञानिक नियम भौतिक संसार में। उन्होंने कुछ सिद्धान्त सूत्रबद्ध किये जो अर्थशास्त्र के "प्राकृतिक नियम" थे। वे अपनी खोजों के सम्बन्ध में अत्यन्त अभिमानी थे। वे इस विषय पर तर्क नहीं करेंगे कि वे नियम अच्छे थे या बुरे। ऐसे विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उनके नियम अटल थे: शाश्वत थे। अगर मनुष्य बुद्धिमान हों और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल कार्य करें तो अच्छी बात है। लेकिन अगर मनुष्य मूर्ख हों और उनके प्राकृतिक नियमों के अनुसार कार्य न करें तो उसका परिणाम वे भुगतेंगे ही।

अब यह सत्य भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता कि ये अर्थशास्त्री सत्य की खोज में अपनी जांच के व्यवहारिक परिणामों के प्रति विशिष्टत: उदासीन थे। लेकिन वे हाड़-चाम के मनुष्य थे और वे एक निश्चित स्थान पर, निश्चित समय में रहते थे। इसका अर्थ यह है कि जिन समस्याओं को उन्होंने लिया है, वे वही समस्याएं थीं जो उस स्थान पर और उस समय में उत्पन्न हुई

थीं और उनके सिद्धान्तों ने समाज के शक्तिशाली वर्गों को प्रभावित किया जिन्होंने परिणामस्वरूप अपने निजी हितों के अनुकूल उन्हें अपनाया अथवा अस्वीकार किया और उसी दृष्टि से उनमें "सत्य" देखा।

जिस प्रकार वाणिज्य-क्रांति के पश्चात् व्यापारी-वर्ग का अभ्युदय अपने साथ व्यापारवाद का सिद्धान्त लेकर आया, जिस प्रकार कृषि-प्रधान फ्रांस देश में धन के स्रोत के रूप में भूमि के महत्व को स्वीकार कर भू-अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्त का विकास हुआ, उसी प्रकार इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के समय उद्योगपतियों का अभ्युदय अपने साथ अपने समय की अवस्थाओं पर आधारित आर्थिक सिद्धान्त लेकर आया। औद्योगिक क्रांति के सिद्धान्तीकरण को हम 'क्लासिकीय अर्थशास्त्र" कहते हैं।

एडम स्मिथ के कुछ सिद्धान्तों से आप परिचित हो ही चुके हैं जिसे क्लासिकीय सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जा सकता है। अन्य प्रमुख क्लासिकीय अर्थशास्त्री थे-रिकार्डो, माल्थस, जेम्स मिल, मैककुलोच, सीनियर ओर जान स्टुअर्ट मिल। वे सभी स्मिथ से अथवा परस्पर एकमत नहीं थे। परन्तु कुछ मूलभूत सामान्य सिद्धान्तों पर उन सभी में पारस्परिक मतैक्य था।

और हार्दिकता से इन सिद्धान्तों से सहमत थे उस युग के व्यापारी कारण उत्कृष्ट था। क्लासिकीय सिद्धान्त आश्चर्यजनक रूप से उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुकूल थे। उससे वे सरलतापूर्वक उन प्राकृतिक नियमों को चुन सकते थे जो उनके कार्यों को पूर्णतः न्यायसंगत सिद्ध करते थे।

व्यापारी प्रमुख अवसर के लिए अपनी दृष्टि खुली रखता था। वह लाभ के लिए व्यग्र था। उसके साथ ही आगमन हुआ क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों का, जिन्होंने कहा कि ठीक इसी में इनकी रुचि होनी चाहिए। केवल यहीं तक शेष न था। साहसी व्यापारी के लिए इससे भी बड़ा आत्म-सन्तोष विद्यमान था। उसे कहा गया कि प्रत्येक क्षण जब वह अपने लाभ की ओर देख रहा था, राज्य की भी सहायता कर रहा था। एडम स्मिथ ने यही कहा। उदाहरणार्थ, जिस धन-लोलुप व्यापारी की आत्मा उसे रातों सोने न देती हो, उसी के लिए मानो उसके आदेश पर तैयार किया गया वह एक पूर्ण नुस्खा था। "प्रत्येक व्यक्ति निरन्तर सबसे लाभप्रद व्यापार-अपनी समस्त पूंजी के सबसे लाभप्रद विनियोजन का मार्ग ढूंढ़ने में लगा रहता है। वास्तव में, जिसे वह अपनी दृष्टि में रखता है,

वह उसका अपना लाभ है, समाज का नहीं। लेकिन उसके अपने लाभ का अध्ययन स्वाभाविक रूप से अथवा आवश्यक रूप से उसे उस नियोजन को प्राथमिकता देने का मार्ग सुझाता है जो समाज के लिए सबसे लाभप्रद है।"[1]

समझे आप?

व्यक्ति के कल्याण के साथ समाज का कल्याण गुंथा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र छूट दे दीजिए। उसे बता दीजिए कि वह जितना चाहे, लाभ कमा सकता है; उसके निजी हितों के मर्म को स्पर्श कीजिए और वाह! देखिए, पूर्ण समाज पहले से अधिक धनी हो गया है। अपने लिए काम कीजिए और आप सार्वजनिक अच्छाई की सेवा कर रहे हैं। अधिक से अधिक लाभ की होड़ के लिए उत्सुक व्यापारी को कितनी सुन्दर विदाई दी जा रही है। ***लेसे-फेयर*** स्पेशल के लिए रास्ता साफ।

क्या सरकार को श्रम के घण्टों और मजदूरी को विनियमित करना चाहिए? अर्थशास्त्र संस्थापकों ने कहा, ऐसा करना प्राकृतिक नियमों में हस्तक्षेप करना होगा ओर इसलिए व्यर्थ होगा।

तो फिर सरकार का कार्य क्या था? शान्ति बनाये रखना, सम्पत्ति की रक्षा करना, हाथ दूर रखना।

प्रतिद्वन्द्विता होनी ही चाहिए। इसने कीमतों को नीचे रखा और सबल और कुशल की सफलता निश्चित कर दी जबकि निर्बल और अकुशल से मुक्ति दिलाई। अर्थात यह सिद्ध हुआ कि एकाधिकार-चाहे मूल्य में बढ़ोत्तरी के लिए पूंजीपतियों का या मजदूरी में बढ़ोत्तरी के लिए श्रमिक-संघों का-प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करना था।

आपको स्मरण होगा, इन उदार धारणाओं की रूपरेखा एडम स्मिथ द्वारा व्यापारवादी विनिमयन, नियन्त्रण ओर प्रतिबन्ध के उत्तर में बनाई गई थी। उसने अपना महान ग्रन्थ 1776 में औद्योगिक क्रान्ति के ठीक आरम्भ के साथ लिखा था। जिन क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों ने इन सिद्धान्तों को अपनाया, इन्हें आगे विस्तारित किया और लोकप्रिय बनाया, उन्होंने अपने ग्रन्थ उस युग में लिखे जब माल के बढ़े हुए उत्पादन और पूंजीवादी वर्ग की शक्ति के उत्कर्ष की दृष्टि से औद्योगिक क्रांति भारी प्रगति कर रही थी। उन्होंने अपने निजी और "प्राकृतिक

1 Adam Smith, *op. cit.*, vol. I, p. 419.

नियम'' प्रतिपादित किये जो तत्कालीन अवस्था के अनुकूल थे।

थामस आर. माल्थस द्वारा रचित ***जन-संख्या सिद्धान्त का विवेचन*** इस युग की सबसे प्रसिद्ध रचनाओं में से एक थी। इसका प्रथम प्रकाशन अंशतः शेली के श्वसुर विलियम गौड्विन की एक पुस्तक के उत्तर में 1798 में हुआ था। गौडविन ने 1793 में प्रकाशित अपनी ***राजनीतिक न्याय पर विचार*** पुस्तक में स्थापना की कि सभी सरकारें एक बुराई थीं: किन्तु जो कुछ भी उन्नति होती रही और मनुष्य सुख की उपलब्धि कर सका, वह विवेक-बुद्धि के उपयोग द्वारा हुई। माल्थस, गौडविन के इस खतरनाक विश्वास के विरुद्ध लड़ना चाहता था।

वह सिद्ध करना चाहता था कि सम्पूर्ण मनुष्य-समुदाय की उन्नति असम्भव थी—जो कुछ भी था, उससे सन्तोष पाने, फ्रांसीसियों की तरह क्रांति करने का प्रयत्न न करने के लिए यह एक अच्छा तर्क था।

वह गौडविन पर इन शब्दों में आक्रमण करता है: ''श्री गौडविन की सबसे बड़ी भूल, जिसे वे अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ में दोहराते हैं, यह है कि वे लगभग सभी बुराइयों और कष्टों को, जो मानव-समाज में देखे जाते हैं, मानव-संस्थाओं पर आरोपित करते हैं। उनके लिए राजनीतिक व्यवस्थाएं समस्त बुराई का फल-पूर्ण स्रोत हैं, और समस्त अपराधों की जड़ हैं जो मनुष्य को अप्रतिष्ठित करती हैं। अगर यही वास्तविकता समझी जाय तो संसार से उस बुराई को जड़मूल से उखाड़ फेंकना निराशाजनक कार्य न प्रतीत होगा, और विवेक इतने महान उद्देश्य को प्रभावित करने के लिए उचित और पर्याप्त साधन प्रतीत होता है। लेकिन सत्य यह है कि यद्यपि मानव-संस्थाएं मनुष्य के प्रति की गई अधिकांश शरारत की प्रत्यक्ष और बलात्-हस्तक्षेपी कारण प्रतीत होती हैं फिर भी वास्तव में, वे हल्की और सतही हैं, अपवित्रता के उन गहराई तक धंसे कारणों की तुलना में वे केवल सतह पर तैरने वाले पंखों के समान हैं जो सरोवर को दूषित करते हैं और मनुष्य जीवन की सम्पूर्ण धारा को पंकिल कर देते हैं।''[1]

वे ''गहराई तक धंसे कारण'' कौन-से थे जो मनुष्य के कष्टों के दायी हैं? माल्थस का उत्तर था कि जन-संख्या को जीवित रखने के लिए खाद्य-साम्रगी की तुलना में जन-संख्या अधिक तेजी से बढ़ती है।

[1]T.R. Malthus, *An Essay on the Principle of Population*. Ist ed., p. 176. 177. J. Johnson, London, 1798.

परिणामस्वरूप, एक ऐसा समय प्रायः आता है, जब खाने के लिए मुंह अधिक हों और उन्हें खिलाने के लिए खाद्य-साम्रगी कम। "जनसंख्या पर जब कोई प्रतिबन्ध न हो तो वह गुणोत्तर अनुपात में बढ़ती है। जीवन के साधन केवल समान्तर अनुपात में बढ़ते हैं... यह जीवन-साधनों की कठिनाई से जन-संख्या पर दृढ़ और सतत् प्रतिबन्ध को ध्वनित करता है। यह कठिनाई कहीं न कहीं आएगी ही और आवश्यक रूप से मनुष्य के एक विशाल समुदाय द्वारा प्रचण्ड रूप से अनुभव की जाएगी....।

इस द्वीप (इंग्लैंड) की जन-संख्या लगभग 70 लाख गिनी गई है, और हम वर्तमान उत्पादन को इस संख्या के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त मान लेते हैं। पहले पच्चीस वर्षों में यह जन-संख्या 140 लाख हो जाएगी। और खाद्य-सामग्री भी दुगुनी हो जाने के कारण जीवन-साधन जन-संख्या की वृद्धि के बराबर रहेंगे। अगले पच्चीस वर्षों में जन-संख्या 280 लाख हो जाएगी और जीवन-साधन केवल 210 लाख के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त होंगे। उससे अगले पच्चीस वर्षों में जन-संख्या 560 लाख हो जाएगी और जीवन-साधन केवल आधी जन-संख्या के लिए पर्याप्त होंगे। और एक शताब्दी के पूरे होने तक जन-संख्या ग्यारह करोड़ बीस लाख हो जाएगी और जीवन-साधन केवल तीन करोड़ पचास लाख के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त होंगे, जिससे सात करोड़ सत्तर लाख लोग जीवन-साधनों से पूर्णतः वंचित रहेंगे।"[1]

माल्थस ने कहा, ऐसा वस्तुतः होता नहीं है। क्योंकि मृत्यु ("संक्रामक रोगों, महामारी और प्लेग....और अकाल" के रूप में) बीच में पड़ जाती है और बढ़ती हुई जनसंख्या से अपनी चुंगी ले जाती है जिससे कि जन-संख्या खाद्य-सम्भरण के साथ सन्तुलित रहती है। "जनसंख्या की गुरुतर शक्ति शमित हो जाती है और वास्तविक जन-संख्या बुराइयों और कष्टों के द्वारा जीवन-साधनों के बराबर हो जाती है।"[2]

माल्थस ने कहा, अतः श्रमिक श्रेणी निर्धन थी, इसका कारण यह नहीं था कि लाभ बहुत ऊंचे थे (मनुष्य का बनाया हुआ तर्क) अपितु कारण यह था कि जन-संख्या जीवन-साधनों की अपेक्षा तेजी से बढ़ती है (प्राकृतिक

[1] *Ibid.*, pp. 14, 23, 24.
[2] *Ibid.*, p. 141.

नियम)। तब निर्धनों की अवस्था को उन्नत करने के लिए कुछ नहीं किया जा सकता? अपनी पुस्तक के प्रथम संस्करण में माल्थस ने कहा: "नहीं, यह अत्यन्त निराशा-पूर्ण प्रतिबिम्ब है कि समाज में किसी असाधारण उन्नति के मार्ग की बड़ी बाधा ऐसी है जिस पर विजय पाने की हम कभी आशा नहीं कर सकते।"[1]

लेकिन 1803 में प्रकाशित अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में माल्थस ने एक मार्ग पा लिया। बुराई और कष्टों के अतिरिक्त जन-संख्या पर एक तीसरा प्रतिबन्ध सम्भव था "संयम"। कोई हड़ताल, क्रांति, करुणा, सरकारी व्यवस्था निर्धनों की उनके कष्टों में सहायता नहीं कर सकती थी–वे स्वयं दोषी थे क्योंकि वे बड़ी तेजी से प्रजजन करते थे। वे इतना शीघ्र विवाह न करें। वे "संयम" का अभ्यास करें–इतने बड़े परिवार न बनायें–और इस प्रकार वे अपनी सहायता कर सकते थे। किसने समाज की अधिक सेवा की? जिस स्त्री ने विवाह करके बहुत-से बच्चे पैदा किये, उसने? अथवा वृद्धा कुमारी ने? माल्थस अपना मत वृद्धा कुमारी के पक्ष में देता है–एक मां, जिसने दस या बारह बच्चों के परिवार का पालन किया है और जिसके पुत्र सम्भवत: अपने देश के युद्ध में लड़ रहे होंगे, यह सोच सकती है कि उसने समाज को बहुत कुछ दिया है... लेकिन अगर इस विषय पर उचित रीति से विचार किया जाए और सम्माननीय माता उपेक्षिता वृद्धा कुमारी के विरुद्ध न्याय की तुला में तौली जाए तो सम्भव है कि माता का पलड़ा हल्का रहे।"[2]

धनिकों के लिए यह एक हर्ष का समाचार था कि निर्धन अपनी निर्धनता के लिए स्वयं दोषी थे।

एडम स्मिथ के पश्चात क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों में सबसे महत्वपूर्ण था डेविड रिकार्डो। वह एक लन्दन निवासी यहूदी था जिसने शेयरों की दलाली में अपार धन कमाया था। बहुत से लोग 1817 में प्रकाशित उसकी पुस्तक ***राजनीतिक अर्थशास्त्र एवं कर-निर्धारण के सिद्धान्त*** को पहली पुस्तक मानते हैं, जिसमें अर्थशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में लिया गया है। एडम स्मिथ की ***राष्ट्रों की समृद्धि*** आपको रिकार्डो की पुस्तक की तुलना में पढ़ने में सरल

[1]Ibid., p. 346.
[2]*Ibid.*, 2nd ed., p. 549.

लगेगी। इसका एक कारण यह है कि स्मिथ अपेक्षाकृत काफी अच्छा लेखक है। एक अन्य और सम्भवत: अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि जहां स्मिथ ठोस है और अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए प्रतिदिन के परिचित उदाहरणों का प्रयोग करता है, वहां दूसरी ओर रिकार्डो दुर्बोध है और काल्पनिक उदाहरणों का प्रयोग करता है जिनमें वास्तविकता की कुछ झलक हो भी सकती है और नहीं भी। वैज्ञानिक पुस्तकें सामान्यत: कठिन और शुष्क होती हैं। रिकार्डो अपवाद नहीं है। तथापि, जो कुछ उसे कहना था, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था और वह संसार के सर्वश्रेष्ठ अर्थशास्त्रियों में से एक माना जाता है।

अपने संक्षिप्त कलेवर में, हम केवल उसके थोड़े से सिद्धान्तों पर अत्यन्त संक्षेप में विचार कर सकते हैं। पहला सिद्धान्त "मजदूरी का लौह-सिद्धान्त" कहलाता है। कामगर अपने श्रम के लिए जो पाते हैं, उसकी ओर रिकार्डो से पूर्व भी कुछ लेखकों का ध्यान गया था। 1776 में तुर्गो ने एक छोटी सी पुस्तक ***सम्पति के निर्माण एवं वितरण का विचार*** में कहा था: "कामगर के पास, जो केवल अपने हाथों और उद्यम पर निर्भर करता है, अपने उस श्रम के भाग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो दूसरों को देने के योग्य हो। वह इसे सस्ते अथवा मंहगे मूल्य पर बेचता है; लेकिन यह सस्ता अथवा मंहगा मूल्य अकेले उस पर निर्भर नहीं करता है; यह उस अनुबन्ध का परिणाम है जो उसने उस व्यक्ति के साथ किया है जो उसे काम पर लगाता है। वह व्यक्ति उसे जितना कम से कम हो सके, उतना ही देता है और क्योंकि उसके पास बहुत से व्यक्तियों में से किसी एक को चुनने का विकल्प होता है, वह उसे प्राथमिकता देता है, जो सबसे सस्ता काम करता है। अत: कामगरों को एक दूसरे के विरोध में अपने मूल्य कम करने पड़ते हैं। प्रत्येक प्रकार के श्रम में यही होना चाहिए और इसके प्रभाव से कामगर की मजदूरी केवल उतने तक ही सीमित रह जाती है, जो उसके अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक होती है।"[1]

तुर्गो ने विषय को यहीं छोड़ दिया है। रिकार्डो ने इस विचार को और आगे बढ़ाया, अत: मजदूरी का लौह-सिद्धान्त उससे सम्बद्ध है। मजदूर केवल उतनी ही मजदूरी पाते हैं जो उन्हें और उनके परिवार को जीवित रखने के लिए पर्याप्त

---

[1]M. Turgot, *Reflections on the Formation and Distribution of Wealth (1766)*. F. Spragg, London, 1793.

हो। इसे रिकार्डो ने इन शब्दों में वर्णित किया है: "श्रम का प्राकृतिक मूल्य.. ...मजदूर ओर उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए आवश्यक भोजन, अनिवार्य वस्तुओं और सुविधाओं के मूल्य पर निर्भर करता है। भोजन और अनिवार्यताओं के मूल्य में वृद्धि होने पर श्रम का प्राकृतिक मूल्य भी बढ़ जाएगा और उनके मूल्य में कमी होने पर श्रम का मूल्य भी कम होगा।"[1]

लेकिन हम और आप जानते हैं कि ऐसे समय आते है, जब मजदूर जीवित रहने के लिए पर्याप्त से अधिक पाते हैं और ऐसे समय भी आते हैं, जब वे पर्याप्त से भी कम पाते हैं। रिकार्डो उस पर भी विचार करता है। श्रम के "बाजार-मूल्य" और उसके प्राकृतिक मूल्य में वह भेद करता है: "श्रम का बाजार-मूल्य वह है, जो मांग के सम्भरण के अनुपात के प्राकृतिक प्रवर्तन से उसके लिए वस्तुतः दिया जाता है। जब श्रम कम हो तो वह महंगा हो जाता है और अधिक हो तो सस्ता। श्रम का बाजार-मूल्य उसके प्राकृतिक मूल्य से कितना भी व्यतिक्रमण क्यों न करे, अन्य पदार्थों की भांति इसकी प्रवृत्ति भी इसके अनुगत रहने की है।"[2]

अन्तिम वाक्य की सत्यता को सिद्ध करने के लिए कि बाजार-मूल्य श्रम के प्राकृतिक मूल्य के अनुगत प्रवृत्त होता है, रिकार्डो माल्थस की पुस्तक का एक पृष्ठ लेता है। वह कहता है कि जब बाजार-ऊंचा हो जाता है, कामगर मजदूरी में परिवार के जीवित रहने योग्य से अधिक पाने लगते हैं ओर तब वे परिवार की वृद्धि की ओर प्रवृत्त होते हैं और अधिक कामगर मजदूरी को नीचे ले आते हैं। जब बाजार मूल्य कम होता है, और जब कामगर मजदूरी में परिवार को जीवित रखने योग्य से कम प्राप्त करते हैं, तब उनकी संख्या कम हो जाती है और कम कामगर मजदूरी को ऊंचा ले जाते हैं।

तो यह था रिकार्डो का मजदूरी का सिद्धान्त–अन्ततोगत्वा, कामगर कभी भी उससे अधिक नहीं पा सकता जो "वृद्धि अथवा ह्रास से निरपेक्ष श्रमिकों की जाति को जीवित रखने और बनाये रखने....के लिए आवश्यक हो।"[3]

रिकार्डो के सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त भूमि-शुल्क के नियम को अच्छी तरह

[1]D. Ricardo, *The Principles of Political Economy and Taxation (1817)*, p. 52, J.M. Dent & Sons, 1926.
[2]*Ibid.*, p. 53
[3]*Ibid.*, p. 52.

समझने के लिए हमें अन्न-कानूनों पर होने वाले विवाद पर विचार करना होगा जो इंग्लैण्ड में रिकार्डो के सिद्धान्तों के समय में चल रहा था। इस विवाद में परस्पर प्रतिपक्षी थे भू-स्वामी और निर्माता।

अन्न-कानून एक प्रकार से गेहूं पर संरक्षण कर थे। गेहूं का तब तक आयात नहीं हो सकता था, जब तक देश का गेहूं एक निश्चित मूल्य की सीमा तक न पहुंच जाए (यह सीमा समय-समय पर बदलती रही)।

इसके पीछे देश के गेहूं की उपज को प्रोत्साहन देने का विचार था, जिससे कि इंग्लैंड के पास आपात्काल में गेहूं का पर्याप्त भण्डार रहे। अंग्रेज किसान को उसके अनाज की उपज के अच्छे मूल्य का विश्वास दिलाकर अनाज के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया गया था। उसे विदेशी गेहूं की प्रतिद्वन्द्विता का भय नहीं होना चाहिए, क्योंकि जब तक उसके अपने गेहूं का एक निश्चित मूल्य उसे नहीं मिल जाएगा, बाहर से कोई गेहूं नहीं आ सकता। इसका अर्थ था अच्छा लाभ; जब तक कि देश का गेहूं मांग से बहुत अधिक न हो जाए, जो इंग्लैंड में 1790 के पश्चात नहीं हुआ।

नैपोलियनकृत युद्धों के कारण गेहूं का मूल्य बहुत चढ़ गया और अधिक से अधिक भूमि कृषि के लिए ली जाने लगी। भू-स्वामी गेहूं का मूल्य ऊंचा रखना चाहते थे, क्योंकि उसका अर्थ था ऊंचा भूमि-शुल्क। और ऊंचे भूमि-शुल्क का अर्थ था, अधिक रुपये की प्राप्ति। निर्माता, गेहूं का ऊंचा मूल्य नहीं चाहते थे क्योंकि इसका अर्थ था कामगरों के जीवन-साधनों के मूल्य में वृद्धि और परिणामस्वरूप असन्तोष, हड़तालें और अन्ततः ऊंची मजदूरी, जिसका अर्थ था उनकी जेबों से रुपयों की निकासी। अतः विवाद उत्पन्न हो गया। भू-स्वामी संरक्षण के लिए चिल्लाने लगे और निर्माता स्वतन्त्र व्यापार के लिए।

रिकार्डो इस संघर्ष के मध्य में था। उसकी सहानुभूति निर्माताओं के साथ थी क्योंकि वह स्वयं उन्नतिशील बुर्जुआ वर्ग से सम्बन्धित था। अतः अन्य बातों के साथ यह जानना आश्चर्यजनक नहीं है कि जिन प्राकृतिक नियमों की उसने खोज की, जो भूमि-शुल्क की प्रकृति की व्याख्या करते हैं, वे नियम बतलाते हैं कि इसलिए, अन्न के मूल्य में वृद्धि से भू-स्वामियों के अतिरिक्त अन्य सभी

वर्ग क्षति ग्रस्त होंगे।''[1]

वह इस निष्कर्ष पर किस प्रकार पहुंचता है? यह सिद्ध करके कि अन्न का मूल्य जितना अधिक होगा, भूमि-शुल्क भी उतना ही ऊंचा होगा। रिकार्डो का तर्क है कि भूमि सीमित है और उसकी उर्वरता में अन्तर है, इसलिए भूमि-शुल्क उद्‌भूत होता है। ''अगर समस्त भूमि की प्रकृति समान होती; अगर वह परिमाण में असीमित होती और गुण में एक-सी होती तो इसके उपयोग के लिए कोई शुल्क न होता...क्योंकि भूमि परिमाण में असीमित नहीं और गुण में एक-सी नहीं और क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि के साथ, निम्नतर गुणों वाली भूमि कृषि के काम में लाई जाने लगती है, केवल इसीलिए इसके उपयोग के लिए शुल्क प्रदान किया जाता है। जब समाज की प्रगति के साथ, उर्वरता में द्वितीय श्रेणी की भूमि कृषि के काम में लाई जाती है, तो तत्काल ही, प्रथम श्रेणी की भूमि पर शुल्क लग जाता है और उस शुल्क की राशि भूमि के इन दो खण्डों के गुणों के अन्तर पर निर्भर करती है।

जब तृतीय गुण वाली भूमि कृषि के लिए ग्रहण की जाती है, तत्काल ही द्वितीय श्रेणी की भूमि पर शुल्क लग जाता है और पहले की तरह उनकी उत्पादक शक्ति के अन्तर द्वारा व्यवस्थित होता है... जन-संख्या की प्रगति के प्रत्येक कदम के साथ देश को कम गुणों वाली भूमि का आश्रय लेना पड़ता है जिससे कि वह अपने खाद्य-सम्भरण में वृद्धि कर सके और इसके साथ ही, उससे अधिक उर्वरता वाली समस्त भूमि पर शुल्क बढ़ जाता है।''[2]

रिकार्डो के अनुसार अन्न-कानून गेहूं का मूल्य बढ़ाकर किसानों को गेहूं के उत्पादन की वृद्धि के लिए निम्नतर स्तर की भूमि की ओर ले जाते हैं। जब किसान निम्नतर स्तर की भूमि की ओर बढ़ा तो उससे अधिक उर्वर भूमि पर भूमि-शुल्क दिये गये। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, कृषि में निम्नतर भूमि की वृद्धि होती चली गयी और शुल्क बढ़ते चले गये। और ये शुल्क भू-स्वामी को इसलिए बिलकुल नहीं मिले कि वह इसके लिए कुछ काम करता था। वह कुछ भी नहीं करता था–फिर भी भूमि-शुल्क बढ़ गया। ''भू-स्वामी के हित उपभोक्ता और निर्माता के हितों के सदैव प्रतिकूल हैं। अन्न का मूल्य स्थायी रूप

---

[1]*Ibid.*, p. 225.
[2]*Ibid.*, p. 35.

से केवल इसलिए बढ़ सकता है, क्योंकि उसके उत्पादन की लागत बढ़ जाती है। वही लागत निश्चित रूप से भूमि-शुल्क में वृद्धि लाती है। अतः यह भू-स्वामी के हित में है कि अन्न के उत्पादन की लागत में वृद्धि हो। तथापि, यह उपभोक्ता के हित में नहीं हैं। उसके लिए यही वांछनीय है कि अन्न, मुद्रा और वस्तुओं की अपेक्षा सस्ता हो क्योंकि सदैव मुद्रा अथवा वस्तुओं से ही अन्न खरीदा जाता है। न ही यह निर्माता के हित में है कि अन्न के मूल्य ऊंचे हों क्योंकि अन्न के ऊंचे मूल्यों से मजदूरी ऊंची हो जाएगी लेकिन उसकी वस्तुओं की कीमतें नहीं बढ़ेंगी।"[1]

निस्संदेह, अन्तिम बात एक बहलावा थी। रिकार्डो के अपने ही मजदूरी के नियम के अनुसार जहां तक कामगरों को जीवित रहने के लिए आवश्यक मजदूरी मिलनी निश्चित थी, उनके लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता था कि अन्न सस्ता था या मंहगा। जब अन्न मंहगा था, उनकी मजदूरी बढ़ जाती थी। जब अन्न सस्ता था, मजदूरी कम हो जाती थी। लेकिन इससे निर्माताओं को अवश्य अन्तर पड़ता था जो अपने उत्पादित माल को केवल इसलिए अधिक कीमत पर नहीं बेच सकते थे क्योंकि अन्न मंहगा हो गया था और इसलिए मजदूरी बढ़ गयी थी। रिकार्डो उसके पश्चात भू-स्वामी और निर्माताओं की सेवाओं की तुलना करता है और भू-स्वामी उसमें भी पिछड़ा मिलता है। "भू-स्वामी और जनता का लेन-देन व्यापार के लेन-देन के समान नहीं है जिसमें ग्राहक और विक्रेता दोनों समान रूप से लाभान्वित होते कहे जा सकें; लेकिन इसमें हानि पूर्णतः एक ओर होती है और लाभ पूर्णतः दूसरी ओर।"[2]

उद्योगपतियों ने रिकार्डो के प्राकृतिक नियमों को सुरक्षार्थ अपने शस्त्रागार में जमा कर लिया। वे अन्न-कानूनों की समाप्ति और स्वतन्त्र व्यापार के युग का उद्घाटन चाहते थे। लेकिन संसद पर भू-स्वामियों का प्रभुत्व था और इसलिए अन्न-कानून काफी समय तक (1846 तक) बने रहे। इस बीच, कुछ भू-स्वामी, जिन्होंने सस्ते गेहूं में देश का कोई लाभ देखना अत्यन्त कठिन समझा, फैक्टरियों की अवस्था और श्रम के घण्टों में चिन्ता अनुभव करने लगे। जो मानवतावादी उद्योगवाद की बुराइयों के सुधार के लिए चिल्ला रहे थे, उन्हें

[1] *Ibid.*, p. 225.
[2] *Ibid.*, p. 225.

शक्तिशाली भू-स्वामियों की सहायता प्राप्त हुई जो स्वयं निर्माताओं से उनके अन्न-कानूनों के विरोध के कारण प्रतिशोध चाहते थे। संसद की समितियां नियुक्त हुईं, जिन्होंने फैक्टरियों की अवस्थाओं की जांच की और अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। काम करने के घण्टे कम करने के कानून पारित करने के प्रयत्न किये गये। निस्संदेह, निर्माताओं की ओर से घोर विरोध हुआ, जिन्होंने भविष्य-वाणी की कि मजदूर अब तक जितनी देर तक काम करते रहे हैं, अगर उन्हें उसी प्रकार मशीनों पर न रखा गया तो निर्माता नष्ट हो जायेंगे। लेकिन श्रमिकों, मानवतावादियों और भू-स्वामियों के सम्मिलित प्रयत्न सफल हुए और काम के घण्टों का नियन्त्रण करने वाले और अवस्थाओं की व्यवस्था करने वाले फैक्टरी-कानून अस्तित्व में आ ही गये। और अधिक नियंत्रण और व्यवस्था के लिए आन्दोलन चलते रहे।

एक अर्थशास्त्र संस्थापक नासौ सीनियर ने एक सिद्धान्त निकाला जिसने सिद्ध किया "कि काम के घण्टे और कम नहीं किये जा सकते क्योंकि मालिक जो लाभ कमाता था, वह काम के अन्तिम घण्टे में से ही निकलता था। उसे निकाल दीजिए और लाभ की समाप्ति के साथ उद्योग पूर्णतः नष्ट हो जाएगा। "वर्तमान कानून के अनुसार, यदि कोई भी मिल, जिसमें अठारह वर्ष से कम आयु के लोग काम करते हैं.. सप्ताह के पांच दिनों में बारह घण्टे और शनिवार के नौ घण्टों से.. अधिक नहीं चलाई जा सकती। अब निम्न विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि इस प्रकार चलाई जाने वाली मिल में सम्पूर्ण शुद्ध लाभ अन्तिम घण्टे में से निकाला जाता है।"[1]

सीनियर का विश्लेषण पूर्णतः काल्पनिक उदाहरण पर आधारित था जिसमें गणित सही था लेकिन निष्कर्ष गलत। प्रत्येक बार जब फैक्टरी ने अपने काम के घण्टे कम किये और फिर भी व्यापार में जमी रही, यही सिद्ध हुआ कि सीनियर के निष्कर्ष गलत थे।

श्रमिकों को सीनियर के अन्तिम घण्टे वाले विश्लेषण से अधिक हानि पहुंचाने वाला सिद्धान्त था वेतन-निधि का सिद्धान्त। यह अधिक हानिकर था क्योंकि इस सिद्धान्त पर अधिकांश अर्थशास्त्रियों का विश्वास था और वे उसकी

[1]N.W. Senior, *Letters on the Factory Act as it Affects the Cotton Manufacture* (1837), 3rd. ed., pp. 4, 5. London, 1844.

शिक्षा देते थे। अन्तिम घण्टे वाला सिद्धान्त कम घण्टों के लिए आन्दोलन के विरुद्ध काम में लाया गया था और वेतन-निधि के सिद्धान्त का उपयोग अधिक मजदूरी के आन्दोलन के विरुद्ध हुआ।

मजदूर श्रमिक-संघों में सम्मिलित हुए और उन्होंने मजदूरी बढ़ाने के लिए हड़ताल कर दी। अर्थशास्त्रियों ने कहा, यह "बिल्कुल पागलपन" है। क्यों? क्योंकि मजदूरी के भुगतान के लिए एक विशेष निधि अलग रख दी जाती है। और मजदूर भी एक निश्चित संख्या में हैं। मजदूर मजदूरी में जो राशि प्राप्त करते हैं, वह दो उपादानों द्वारा निश्चित होती है। और इस प्रकार श्रमिक-संघ इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सकते थे।

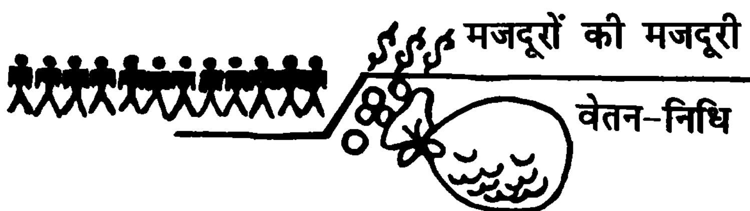
जान स्टुअर्ट मिल इसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है: "न केवल मजदूरी जन-संख्या और पूंजी की सापेक्ष राशि पर निर्भर करती है, अपितु प्रतिद्वन्द्विता के नियम के अधीन मजदूरी किसी अन्य वस्तु से प्रभावित नहीं हो सकती। मजदूरों को काम पर रखने के लिए नियत संकलित निधि में वृद्धि अथवा मजदूरी के लिए प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या में कमी के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से... मजदूरी... नहीं बढ़ सकती और न मजदूरी में देने के लिए निश्चित निधि में कमी अथवा मजदूरी पाने वाले मजदूरों की संख्या में वृद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से कम ही हो सकती है।"[1]

बिल्कुल सीधी बात है। जब तक वेतन-निधि में वृद्धि न हो अथवा श्रमिकों की संख्या में कमी न हो, श्रमिकों के लिए कोई आशा नहीं। अगर कुछ मजदूर स्थूल-बुद्धि हैं और इस बात का दुराग्रह करते हैं कि उन्हें जीवित रहने के लिए अधिक मजदूरी की आवश्यकता है तो उन्हें गणित-शास्त्र का प्रारम्भिक पाठ पढ़ाया जा सकता है। "अंकगणित के चार मूलभूत सिद्धान्तों में से किसी एक के विरुद्ध तर्क करने से कोई लाभ नहीं। मजदूरी का प्रश्न भाग का प्रश्न है। शिकायत की जाती है कि भजनफल बहुत थोड़ा है। अच्छी बात है, भजनफल को बढ़ाने के कितने मार्ग हैं? दो। भाजक वही रखकर भाज्य-संख्या बढ़ा दीजिये। भजनफल बढ़ जाएगा। भाज्य वही रखकर भाजक संख्या घटा

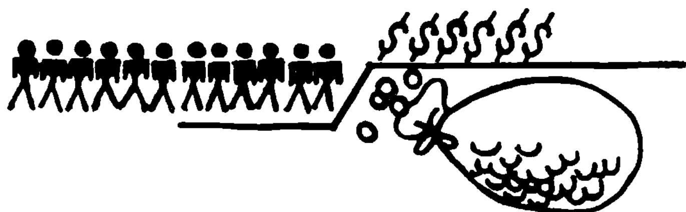
1J.S. Mill, *Principles of Political Economy* (1848), 2 vols., 3rd ed., vol. I, p. 409. Parker & Son, London, 1852.

दीजिए, भजनफल बढ़ जाएगा।"[1]

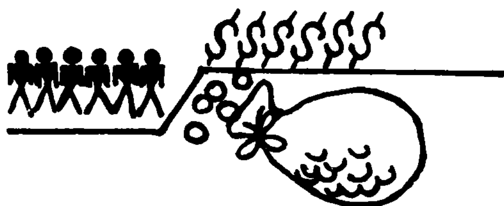
इस प्रकार के अंकगणित के पाठ का यदि चित्र बनाया जाए तो वह इस प्रकार होगा:



अधिक मजदूरी किस प्रकार प्राप्त की जाए?
भजनफल किस प्रकार बढ़ाया जाए?
पहला मार्ग—भाज्य संख्या बढ़ा दीजिए।



दूसरा मार्ग—भाजक संख्या कम कर दीजिए।



[1]Prof. Perry quoted in *The Wages Question*, by Francis A. Walker, p. 143. Henry Holt and Company, Inc., N.Y., 1891 (first published 1876)

सब बिल्कुल स्पष्ट है। अधिक मज़दूरी पाने के दो मार्ग हैं। दूसरा मार्ग, "भाजक-संख्या कम कर दीजिए"–अर्थात मजदूरों की संख्या कम कर दीजिए– मजदूरों को दी जाने वाली पुरानी सलाह थी। माल्थस ने इसे "संयम" कहा था।

पहला मार्ग, "भाज्य-संख्या बढ़ा दीजिए" अर्थात्, वेतन-निधि को बढ़ा दीजिए, सीनियर के अनुसार यह केवल तभी सम्भव था, जब "प्रत्येक व्यक्ति को उस ढंग से काम करने दिया जाए जिसे वह अपने अनुभव से सबसे लाभप्रद समझ चुका है। उद्योग को नियन्त्रणों, निषेधों और संरक्षण-करों से मुक्त किया जाए, जिनके द्वारा विधान-सभाओं ने कभी अज्ञान में, कभी दया-भावना में और कभी राष्ट्रीय ईर्ष्या में उसके प्रयत्नों को कुचल डालने अथवा उसे पथ-भ्रान्त करने का उद्यम किया है।"[1] व्यापार को अकेला छोड़ दीजिए और परिणामस्वरूप मजदूरी के लिए अलग रखी जाने वाली राशि अधिक होगी। व्यापारी सहमत थे।

वेतन-निधि सिद्धान्त निर्माताओं और अर्थशास्त्रियों का कामगरों और श्रमिक-संघों की स्वत्वों की मांग का संहित उत्तर था। श्रमिकों के लिए यह अर्थहीन था क्योंकि वे इसे असत्य समझ चुके थे। वे जानते थे कि श्रमिक-संघ के कार्यों ने उनकी मजदूरी बढ़ाई है। वे विश्वास नहीं करते थे कि एक निश्चित निधि उनके लिए पहले से ही अलग कर दी जाती है जिसमें से उन्हें मजदूरी दी जाती है। जो कुछ उन्होंने व्यवहार में सीखा, उसे एक अमरीकी अर्थशास्त्री फ्रांसिस वाकर ने 1876 में लिखकर पुष्ट कर दिया: "मजदूरी का लोकप्रिय सिद्धान्त ...इस मान्यता पर आधारित है कि मजदूरी गतकाल के उद्योग की बचत के फल में से दी जाती है। इसे विपरीत मेरी धारणा है कि मजदूरी... वर्तमान उद्योग के उत्पादन में से दी जाती है और इसलिए उत्पादन मजदूरी का सच्चा माप प्रस्तुत करता है।... एक मालिक अपने पास संचित निधि को व्यय करने के लिए श्रम खरीदने को मजदूरी नहीं देता है।... मालिक श्रम के उत्पादन की दृष्टि से श्रम खरीदता है और उस उत्पादन की किस्म और राशि यह निश्चित करती है कि वह कितनी मजदूरी दे सकता है।... अत: वह भविष्य के उत्पादन के लिए

---

[1]N.W. Senior, *Three Lectures on the Rate of Wages*, 2nd ed., preface. John Murray, London, 1831.

मजदूरों को काम पर रखता है न कि इसलिए कि उसके पास एक निधि है और उसे वह बांटनी ही है। उत्पादन का मूल्य ही है... जो मजदूरी की राशि निश्चित करता है जो दी जा सकती है, न कि धन की राशि जो उसके पास है अथवा उसके अधिकार में है। इस प्रकार पूंजी नहीं, उत्पादन मजदूरों की भरती और मजदूरी के माप का उद्देश्य प्रस्तुत करता है।"[1]

मजदूरी मजदूरों को पूंजी में से दिया गया "अग्रिम धन" नहीं है, वाकर की इस युक्ति का उत्कृष्ट प्रमाण आज भारत और जापान की टेक्सटाइल मिलों में प्रचलित व्यवहार के द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है, जहां मजदूरी "रोक रखी" जाती है। जापान में "रेशम के कारखानों और छोटी-छोटी सूती फैक्टरियों में काम करने वाली लड़कियों द्वारा अर्जित मजदूरी प्राय: सीधे उनके माँ-बाप को दी जाती है।.. मजदूरी अर्ध-वार्षिक चुकायी जाती है अथवा रेशम के कारखानों में वर्ष भर के श्रम के पश्चात्... (और भारत में) मजदूरी एक मास अथवा छ: सप्ताह के पश्चात दी जाती है।... अगर अगले वेतन-दिन तक के लिए अर्जित मजदूरी में से कुछ अग्रिम धन दिया जाता है तो उस पर मिलें नौ प्रतिशत तक ब्याज ले लेती हैं।"[2]

किन्तु वेतन-निधि के सिद्धान्त के झूठ के प्रतिपादन के लिए बीसवीं शताब्दी के प्रमाण की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं थीं अपने अनुभवों के प्रतिकूल होने के कारण श्रमिक वर्ग उस सिद्धान्त को अवज्ञापित कर चुका था। वाकर ने 1876 में यह सिद्ध करने के लिए अमरीकी जीवन से कई उदाहरण दिए कि इस सिद्धान्त में कोई सत्यता नहीं थी। जब वाकर ने वेतन-निधि के सिद्धान्त के ताबूत में अन्तिम कील ठोंकी, उससे सात वर्ष पूर्व अर्थशास्त्री स्वयं ही यह स्वीकार करने लगे थे कि यह प्राकृतिक नियम कोई नियम ही नहीं था। जॉन स्टूअर्ट मिल वह व्यक्ति था जिसकी 1848 में प्रकाशित रचना ***राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*** ने इस सिद्धान्त के प्रचार में इतना कुछ किया था। मई 1869 में इसने ***पाक्षिक समीक्षक*** में एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए यह प्रत्याख्यान प्रकाशित किया: "अब तक सभी अथवा (मेरे सहित) अधिकांश अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त जिसने इस सम्भावना को अस्वीकार किया

[1]Walker, *op. cit.*,pp. 128-130.

[2]F. Utley, *Lancashire and the Far East*, pp. 110. 387. Allen & Unwin Ltd., London, 1931.

कि श्रमिक-संघ मजदूरी बढ़ा सकते हैं, अथवा जिसने इससे पूर्व वृद्धि की उपलब्धि के प्रवर्तनों को इस दिशा में सीमित कर दिया, जिसे बाजार की प्रतियोगिता ने उनके बिना उत्पन्न किया होता—अपनी वैज्ञानिक आधारशिला से वंचित है और अर्थशास्त्र से इस सिद्धान्त को निकाल दिया जाना चाहिए।"[1]

जान स्टुअर्ट मिल के लिए ऐसा करना एक साहसपूर्ण कार्य था। उसने एक भूल की थी और पूरी ईमानदारी के साथ उसे स्वीकार किया। लेकिन जिस सिद्धान्त ने आधी से अधिक शताब्दी तक श्रमिकों के हितों का संहार किया था, उसकी इस तिरस्कृति में श्रमिकों के लिए बहुत देर हो चुकी थी। उनके लिए उस विज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं थी जिसने, जब भी उनकी मजदूरी की वृद्धि कि लिए प्रयत्न किया, शत्रु के हाथों में तोपखाने का पूरा शस्त्रागार सौंप दिया; उनके लिए उस विज्ञान की कोई उपयोगिता न थी जिसने उनको अपने जीवन में अपनी अवस्था के कभी भी सुधार की कोई आशा न दी। उनके लिए इस विज्ञान की कोई उपयोगिता न थी जिसने हर कदम पर मालिकों की श्रेणी के हितों की ही सेवा की थी।

क्लासिकीय सम्प्रदाय के एक अग्रगण्य अनुयायी प्रोफेसर जे.ई. कैर्नेस ने इस बात की स्वीकृति दी है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर इतना अविश्वास करने के लिए श्रमिकों के पास वास्तविक कारण थे। 1873 में प्रकाशित अपने ***राजनीतिक अर्थशास्त्र के विवेचन*** में कैर्नेस बतलाते हैं कि अर्थशास्त्र पूंजीजीवी वर्ग के लिए हथियार बन गया है। "राजनीतिक अर्थशास्त्र अधिकांश अवसरों पर, विशेष रूप से श्रमिक-वर्गों की चिकित्सा करते समय, अपरिवर्तनीय नियमों की सिद्धान्त-संहिता के रूप में दिखाई देता है; एक ऐसी प्रणाली के रूप में जो आदेश जारी करती है, एक सामाजिक व्यवस्था को 'मंजूर' करती है तो दूसरी को 'निकम्मी' ठहराती है, जो लोगों से विचार-विमर्श नहीं अपितु आज्ञापालन चाहती है। जब हम उन आदेशों पर विचार करते हैं, जो संसार में सामान्यत: राजनीतिक अर्थशास्त्र के नाम से प्रचलित किये जाते हैं—मेरे विचार से तो समाज की वर्तमान स्थिति लगभग निर्दोष होने का यह एक कुशल समर्थन है—तब हम उस घृणा को, बल्कि उस हिंसापूर्ण विरोध को भी समझ

[1]J.S. Mill, *Principles of Political Economy,* edited by W.J. Ashley, p. 993. Longmans, Green & Co., London, 1909.

पाते हैं, जो इनके प्रति उन लोगों द्वारा व्यक्त किया गया है, जिन्हें अपनी वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था की उस प्रशंसा को न दोहराने के लिए कुछ निजी कारण हैं, जो कि ... कथित अर्थशास्त्रीय नियमों के कुछ लोकप्रिय व्याख्याताओं द्वारा की गई है। जब श्रमिक को बतलाया जाता है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र हड़तालों को 'बुरा कहता' है... काम के घण्टों को सीमित करने के प्रस्तावों को सन्देह की दृष्टि से देखता है, लेकिन पूंजी के संचयन को 'स्वीकार करता' है। और मजदूरी की बाजार दर को 'मंजूर' करता है, तब उसकी यह प्रतिक्रिया अस्वाभाविक नहीं लगती कि 'क्योंकि राजनीतिक अर्थशास्त्र श्रमिक के विरुद्ध है इसलिए राजनीतिक अर्थशास्त्र के विरुद्ध उठ खड़ा होना श्रमिक के लिए उचित ही है। यह भी अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता कि इस नई संहिता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाए, मानो यह मालिकों के हित के लिए उपजाई गई प्रणाली है जिसे बिल्कुल अग्राह्य मानकर छोड़ देना श्रमिकों के लिए समझदारी की बात है।''[1]

यह सत्य था कि ''अर्थशास्त्र श्रमिक वर्ग के विरुद्ध था''। यह भी सत्य था कि यह व्यापारियों के लिए था–विशेष रूप से इंग्लैंड के व्यापारियों के लिए। क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों की शिक्षा फ्रांस और जर्मनी में फैली और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में उन देशों के अर्थशास्त्र पर प्रकाशित ग्रन्थ अंग्रेजी क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों के ग्रन्थों के या तो अनुवाद थे या उनके भाष्य। लेकिन धीरे-धीरे उन देशों के विचारकों को स्पष्ट हो गया कि क्लासिकीय सिद्धान्त केवल व्यापारी का सिद्धान्त नहीं था अपितु कुछ अंशों में यह विलक्षण रूप से अंग्रेज व्यापारी का ही सिद्धान्त था। यह बात नहीं थी कि क्लासिकीय अर्थशास्त्री जान-बूझ कर अंग्रेज व्यापारियों की सहायता के लिए निकले थे। यह आवश्यक नहीं था। वे एक निश्चित समय में इंग्लैंड में रहते थे और इन सिद्धान्तों पर वातावरण का रंग चढ़ना ही था। यह रंग चढ़ा–और अन्य देशों के अर्थशास्त्रियों और व्यापारियों ने इसे शीघ्र ही समझ लिया।

उदाहरणार्थ, मुक्त व्यापार को लीजिए। एडम स्मिथ ने इसका उपदेश दिया है और रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी, जिन्होंने इसका अनुकरण

[1]J.E. Cairnes, *Essays in Political Economy,* pp. 260, 261. Macmillan & Company, London, 1873.

किया, इस सिद्धान्त का प्रचार किया है। वे विश्व-व्यापी मुक्त व्यापार के समर्थक थे। न केवल आन्तरिक चुंगी कर ही हटने चाहिए अपितु देशों के बीच भी व्यापार-शुल्क हटा दिया जाना चाहिए। रिकार्डो मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के पक्ष को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करता है: "पूर्णतः मुक्त व्यापार की व्यवस्था में, प्रत्येक छोटा देश स्वाभावतः अपनी पूंजी और श्रम को इस प्रकार लगाता है कि वह प्रत्येक के लिए लाभप्रद हों। व्यक्तिगत लाभ का यह अनुष्ठान प्रशंसनीय रूप से सबके सार्वजनिक हित में हैं उद्योग को प्रोत्साहन देने, प्रवीणता को पुरस्कृत करने और प्रकृति द्वारा प्रदत्त विशिष्ट शक्तियों को सबसे प्रभावोत्पादक ढंग से प्रयुक्त करने से यह अत्यन्त मितव्ययिता और प्रभावकारी ढंग से श्रम का विभाजन करता है और उत्पादन की सामूहिक वृद्धि के द्वारा साधारण लाभ को विस्तृत करता है और एक सामान्य बन्धन और समागम द्वारा सम्पूर्ण सभ्य संसार में राष्ट्रों के विश्वजनीन समाज को परस्पर सूत्र-बद्ध कर देता है। यही वह सिद्धान्त है जो यह निश्चित करता है कि मदिरा फ्रांस और पुर्तगाल गें बनाई जाएगी, अनाज अमरीका और पोलैंड में बोया जाएगा और लोहे का सामान तथा अन्य वस्तुएं इंग्लैंड में निर्मित होंगी।"[1]

यहां रिकार्डो इस उद्धरण में, वस्तुओं के मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के मूल्य के सम्बन्ध में सही भी हो सकता है और गलत भी। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब उसने ये पंक्तियां लिखीं, वह *तत्कालीन इंग्लैण्ड के लिए* पूर्णतः सही था। औद्योगिक क्रांति सर्वप्रथम इंग्लैंड में हुई थी; इंग्लैंड के निर्माता संसार के किसी भी निर्माता से निर्माण की पद्धति, मशीनों की किस्म और परिवहन सुविधाओं में आगे थे। अंग्रेज संसार को अपने कारखानों के उत्पादन से पाट देने के योग्य और तत्पर थे। अतः मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ठीक उनके हित में था।

इसी कारण, वह अन्य देशों के व्यापारियों के अनुकूल न था। अमरीका में अलेक्जैण्डर हैमिल्टन ने वाशिंगटन में संरक्षित चुंगीकर व्यवस्था स्थापित की। अन्य देशों में भी चुंगीकर नियन्त्रण था। लेकिन अंग्रेज क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों के प्रभाव से वे मुक्त व्यापार के विचारों के चोचले आरम्भ करने लग गये थे।

1841 में, जब मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के गुणों की श्रेष्ठता का अंग्रेजी

[1] Ricardo, *op. cit.*, p.81

गीत अन्य देशों में लोकप्रिय हो रहा था, फ्रीडरिक लिस्ट ने इस पर आक्रमण करते हुए अपने ग्रन्थ ***राजनीतिक अर्थशास्त्र की राष्ट्रीय प्रणाली*** को प्रकाशित किया। लिस्ट जर्मन था और तत्कालीन जर्मनी उद्योग में अभी शिशु और पिछड़ा हुआ था। उसने कुछ समय अमरीका में बिताया था और उसने अमरीकी उद्योग की भी वही अवस्था देखी। लिस्ट ने अनुभव किया कि अगर मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्थापित हो जाए तो दीर्घकाल तक इन देशों का उद्योग इंग्लैंड के उद्योग की समानता तक नहीं पहुंच सकेगा। उसने कहा कि वह मुक्त व्यापार का समर्थक था लेकिन जब कम उन्नत देश अधिक उन्नत देशों के बराबर हो जाएं–केवल तभी। "कोई भी देश जो दुर्भाग्यवश, उद्योग, वाणिज्य और जल परिवहन में अन्य देशों से पिछड़ा हुआ है, तथापि यदि उसके पास इन उपलब्धियों के विकास के मानसिक और भौतिक साधन विद्यमान हैं, उसे सबसे पहले अपनी निजी शक्ति का विकास करना चाहिए जिससे कि वह अधिक उन्नत देशों के साथ मुक्त व्यापार में शामिल हो सके।"[1]

उसने कहा कि सस्तापन ही सब कुछ नहीं था, कि सस्ती वस्तुएं भी मंहगी खरीदी जा सकती हैं। किसी विशेष समय में किसी देश को महान बनाने वाला उसकी वस्तुओं का भण्डार नहीं, अपितु वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता है। "***धन के कारण*** स्वयं ***धन*** से पूर्णत: भिन्न हैं। एक व्यक्ति के पास धन हो सकता है.. तथापि अगर उसके पास अपने उपभोग से अधिक मूल्य की वस्तुओं का उत्पादन करने की शक्ति नहीं तो वह निर्धन हो जाएगा।... अत: ***धन के उत्पादन की शक्ति*** स्वयं ***धन*** से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।"[2]

लिस्ट बताता है कि इंग्लैंड मुक्त व्यापार के उद्देश्य को ग्रहण करने से पूर्व महानता प्राप्त कर चुका है और अब वह अन्य देशों के लिए उस लक्ष्य को प्राप्त करना असम्भव बनाने का प्रयत्न कर रहा है: "यह एक अत्यन्त सामान्य चातुर्य-पूर्ण योजना है कि जब कोई महानता की चोटी को प्राप्त कर लेता है तो वह दूसरों को अपने पश्चात् ऊपर चढ़ने के साधन से वंचित रखने के लिए उस सीढ़ी को ठोकर मार कर गिरा देता है, जिससे वह ऊपर चढ़ा है।"[3]

[1]F. List, *National System of Political Economy,* Preface. Longmans, Green & Co., London, 1904 (first published 1841).
[2]*Ibid.,* p. 108.
[3]*Ibid.,* p. 295.

अत: लिस्ट संरक्षण और चुंगी-नियन्त्रण का पक्ष ग्रहण करता है जिनके द्वारा शिशु-उद्योग अपने पांवों पर खड़े होने तक घरेलू बाजार से आश्वस्त होकर पनप सकते हैं। केवल जब वे शक्ति एकत्र कर लें, तभी मुक्त व्यापार के संसार में प्रतिद्वन्द्विता के लिए भेजे जा सकते हैं। लिस्ट अर्थतन्त्र की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध राष्ट्रीय व्यवस्था का शक्तिशाली समर्थक था। अमरीका और जर्मनी में विशेष रूप से उसके विचारों का बहुत प्रभाव था।

लिस्ट एडम स्मिथ और उसके अनुयायियों के मुक्त व्यापार सिद्धान्त के विरुद्ध संरक्षण के प्रबल समर्थन के साथ उन लोगों में से एक था जो क्लासिकीय सम्प्रदाय के भ्रान्ति-हीन होने में अविश्वास करने लगे थे और इन लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इतना लोकप्रिय और शक्तिशाली क्लासिकीय सम्प्रदाय उत्तरार्ध में अपनी शक्ति खोने लगा। ऐसे ही समय में एक ऐसे व्यक्ति की रचनाएं प्रकट हुईं जो क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी उन्हें एक भिन्न मार्ग से अत्यन्त भिन्न निष्कर्षों तक ले गया। वह भी एक जर्मन था। उसका नाम था कार्ल मार्क्स।

18. "दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ!"

"अगर मेरे पास एक करोड़ रुपया होता।" कितनी ही बार हम और आप इस आनन्ददायक कल्पना में विभोर हुए होंगे। हर बार जब समाचार-पत्र किसी लाटरी जीतने वाले भाग्यशाली व्यक्ति का चित्र प्रकाशित करते हैं तो हममें से अधिकांश इस प्रकार की कल्पना में खो जाते हैं। इसी प्रकार सदैव ऐसे लोग रहे हैं जिन्होंने अपना काफी समय उस समाज से बेहतर समाज की कल्पना करने में लगाया है, जिसमें वे रहते आये हैं। प्राय: ये परिकल्पनाएं दिवा-स्वप्नों से अधिक नहीं रहीं, लेकिन यदा-कदा स्वप्न-दृष्टाओं ने अपने आपको मुक्त छोड़ दिया है, और अपने विचारों के लिए कठोर संघर्ष करके उन्होंने अपने यूटोपिया–भविष्य के आदर्श समाज के स्वप्न को पूरा किया।

वस्तुत: यह कार्य कठिन था। प्राय: प्रत्येक व्यक्ति जिसके पास कल्पना हो, इसे पूरा कर सकता था। आपको केवल इतना ही करना था कि आप अपने चारों ओर दृष्टि डालें और आप जान पायेंगे कि क्या छोड़ा जा सकता है। आपने सर्वत्र निर्धनों को देखा था, अपने यूटोपिया में आप निर्धनता को निकाल बाहर कीजिए। आपने उत्पादन और वस्तुओं के विभाजन में अपव्यय देखा, आपने अपने यूटोपिया में उत्पादन और विभाजन का एक ऐसा ढंग निकाला जो शत-प्रतिशत पूर्ण हो। आपने हर प्रकार का अन्याय देखा, आपने अपने यूटोपिया में ईमानदार न्यायालयों की स्थापना की जिसमें ईमानदार न्यायाधीश हैं (अथवा आप ऐसा भी निश्चित कर सकते हैं कि न्यायालय और न्यायाधीश पूर्णत: अनावश्यक हैं)। आपने रोग, कष्ट और दुख देखे, अपने यूटोपिया में आपने प्रत्येक व्यक्ति को स्वास्थ्य, धन और सुख दिया।

सम्भवत: ऐसे रामराज्यों की योजना बनाने वालों का सबसे महत्वपूर्ण

प्रथम सिद्धान्त था पूंजीवाद की समाप्ति। पूंजीवादी व्यवस्था में उन्होंने केवल बुराई देखी। वह हानिकारक, अन्यायपूर्ण और योजना-हीन थी। वे एक योजना-बद्ध समाज चाहते थे जो कुशल और न्याय-पूर्ण हो। पूंजीवाद में थोड़े-से लोग, जो कुछ काम नहीं करते थे, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के बल पर आराम और विलास का जीवन बिताते थे। भावी आदर्श समाज के स्वप्न-दृष्टाओं ने उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व में अच्छे जीवन के साधनों का उत्पादन देखा। अतः अपने स्वप्नों के समाज में उन्होंने योजना बनाई कि बहुजन, जो काम करने वाले हैं, उत्पादन के साधनों के अपने स्वामित्व से आराम और विलास के साथ रहेंगे। यह समाजवाद था—यह यूटोपियाइयों का स्वप्न था।

और तब कार्ल मार्क्स का आगमन हुआ।

वह भी समाजवादी थे। वह भी कामगर श्रेणी की अवस्था को सुधारना चाहते थे। वह भी एक नियोजित समाज चाहते थे। वह भी चाहते थे कि उत्पादन के साधनों पर सभी का स्वामित्व हो। लेकिन—और यह अधिक महत्वपूर्ण है—उन्होंने किसी यूटोपिया की कल्पना नहीं की। उन्होंने व्यवहारतः इस विषय पर कुछ भी नहीं लिखा कि भविष्य का समाज किस प्रकार का होगा। समाज के अतीत में उनकी रुचि अत्यन्त गहरी थी। समाज का जन्म कैसे हुआ, विकास किस प्रकार हुआ और ह्रास किस प्रकार। वह आज की स्थिति तक कैसे पहुंचा। उनकी गहरी रुचि वर्तमान समाज में थी क्योंकि वह उन शक्तियों को खोजना चाहते थे जिनसे उन अगले परिवर्तनों का जन्म होगा जो भावी समाज का निर्माण करेंगे। लेकिन उन्होंने कल की आर्थिक संस्थाओं पर न तो कोई समय खर्च किया और न उनसे कोई सम्बन्ध ही रखा। उन्होंने अपना लगभग अधिकांश समय आज की आर्थिक संस्थाओं के अध्ययन पर ही लगाया। वह जानना चाहते थे कि जिस पूंजीवादी समाज में वह जी रहे थे, उसे गति देने वाले तत्व कौन से हैं। उनकी महान कृति का नाम है: ***पूंजी—पूंजीवादी उत्पादन का आलोचनात्मक विश्लेषण।***

पूंजीवादी समाज के अपने विश्लेषण के द्वारा ही वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि समाजवाद का आगमन होगा—उन्होंने यूटोपियाई की तरह इसके अस्तित्व के स्वप्न नहीं देखे। मार्क्स ने सोचा कि संगठित क्रांतिकारी कामगर श्रेणी के साथ

समाज में गतिशील उन निश्चित शक्तियों के परिणामस्वरूप समाजवाद का आगमन होगा, जिनका प्रस्फुटन अनिवार्य है। जिस प्रकार क्लासिकीय अर्थशास्त्र व्यापारी का अर्थशास्त्र कहलाता है क्योंकि उसमें व्यापारी को सहायता और राहत मिलती है। उसी प्रकार मार्क्स का अर्थशास्त्र कामगर श्रेणी का अर्थशास्त्र कहा जा सकता है क्योंकि इसमें कामगर वस्तुओं की योजना में अपना महत्वपूर्ण स्थान पा सकता है और भविष्य के लिए आशान्वित हो सकता है।

मार्क्स के अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का मूलाधार यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था श्रम के शोषण पर आधारित है।

यह समझना अत्यन्त सरल है कि दासता के युग में श्रमिक अर्थात दास के साथ दुर्व्यवहार होता था। इस पर प्रत्येक सहमत होगा। अधिक भावुक व्यक्ति सम्भवत: क्रोधावेश में आश्चर्यविस्मित-सा चिल्ला सकता है, "घोर दुष्कर्म!

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए काम करे–यह बिल्कुल गलत है। अच्छा ही हुआ कि दासता समाप्त हुई।"

इसी प्रकार यह समझना भी सरल था कि सामन्ती युग में श्रमिक अर्थात् भूदास के साथ दुर्व्यवहार होता था । इसमें कोई विवाद न था। कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यह बिल्कुल स्पष्ट था कि उसे दास की भांति ही अन्य व्यक्ति– भू-स्वामी के लिए काम करना पड़ता था। कल्पना कीजिए, वह सप्ताह में चार दिन अपनी भूमि पर और शेष दो दिन भू-स्वामी की भूमि पर काम करता था। दोनों अवस्थाओं में श्रमिक का शोषण प्रत्यक्ष था।

लेकिन यह समझना उतना सरल न था कि पूंजीवादी समाज में श्रमिक अब भी उसी दुर्व्यवहार का पात्र था। सम्भवत: श्रमिक स्वतन्त्र अभिकर्ता है। दास अथवा भूदास की भांति उसे इस स्वामी अथवा उस भू-पति के लिये काम नहीं करना पड़ता। सम्भवत: वह स्वेच्छा से काम करने अथवा न करने में स्वतंत्र है। जिसके लिए उसे काम करना है उसे उसने स्वयं चुना है और अपने काम के लिए सप्ताह के अन्त में वह वेतन प्राप्त करता है। क्या निश्चित रूप से यह भिन्न था–यह श्रम का शोषण नहीं था?

मार्क्स इससे असहमत हैं। उन्होंने कहा कि पूंजीवादी समाज में श्रमिक का उसी प्रकार शोषण होता है, जिस प्रकार दास और सामन्ती समाज में। मार्क्स ने कहा कि पूंजीवादी समाज में शोषण नकाब में ढका हुआ है। उन्होंने अपने

अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा वह नकाब फाड़ डाली।

इस सिद्धान्त में वह रिकार्डो के मूल्यों के श्रम-सिद्धान्त को ग्रहण करते हैं जिसे एडम स्मिथ से लेकर जॉन स्टुअर्ट मिल तक अधिकांश क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न मात्रा में स्वीकार किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं का मूल्य उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है। मार्क्स, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री बैंजेमिन फ्रैंकलिन को इस श्रम सिद्धान्त के समर्थक के रूप में उद्धृत करते हैं। मार्क्स लिखते हैं: "विलियम पेटी के पश्चात् प्रमुख अर्थशास्त्री यशस्वी फ्रैंकलिन, जिसने वस्तुओं की प्रवृत्ति का अध्ययन किया है, लिखता है, 'व्यापार केवल श्रम के लिए श्रम के विनिमय के अतिरिक्त और कुछ नहीं। सभी वस्तुओं का मूल्य श्रम द्वारा ही मापा जाता है'।"[1]

मार्क्स साधारण वस्तुओं और पण्य वस्तुओं में भेद करते हैं। पण्य उत्पादन पूंजीवादी समाज का विशिष्ट रूप है। "जहां उत्पादन का पूंजीवादी ढंग प्रचलित है। उन समाजों का धन 'पण्य के विशाल संचय' के रूप में प्रकट होता है, जिसकी इकाई एक पण्य-वस्तु होती है। अत: हमारी जांच एक पण्य-वस्तु के विश्लेषण से आरम्भ होनी चाहिए।"[2]

कोई वस्तु पण्य बन जाती है जब उसका उत्पादन सीधे उपभोग के लिए नहीं अपितु विनिमय के लिए किया जाता है। किसी व्यक्ति द्वारा अपने लिए बनाया गया कोट पण्य नहीं है। किसी अन्य को रुपये अथवा अन्य वस्तु के विनिमय में बेचने के लिए बनाया गया कोट पण्य है। "जो भी अपने श्रम के उत्पादन द्वारा सीधे अपनी आवश्यकता को पूरा करता है, वस्तुत: उपयोग-मूल्य उत्पन्न करता है पण्य-वस्तु नहीं। पण्य के उत्पादन के लिए उसे केवल उपयोग-मूल्य का ही नहीं, अपितु दूसरों के लिए उपयोग-मूल्य अर्थात सामाजिक उपयोग-मूल्य का उत्पादन करना होगा।"[3] जो व्यक्ति स्वयं पहनने के लिए नहीं अपितु विनिमय के लिए बेचने के लिए कोट बनाता है, पण्य का उत्पादन करता है।

---

[1] *Capital*, vol. I, p. 19, footnote.
[2] *Ibid.*, p. 1.
[3] *Ibid.*, p. 8.

यहां महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह किस दर से इसका विनिमय करे? इस कोट की अन्य पण्य वस्तु, जूतों की जोड़ी से तुलना कीजिए। वस्तुओं के रूप में, मनुष्य की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के साधनों के रूप में इनमें कुछ भी सामान्य प्रतीत नहीं होता, न ही उनके और अन्य पण्य-द्रव्यों-रोटी, पेन्सिल, कबाब आदि में ही कुछ सामान्य प्रतीत होता है। लेकिन फिर भी इनका विनिमय हो सकता है क्योंकि इनमें कुछ सामान्य है। और उनमें सामान्य क्या है? मार्क्स कहते हैं, कि वे सभी श्रम से उत्पादित हैं। अत: मूल्य अथवा पण्य-द्रव्यों के विनिमय की दर उनमें लगे हुए श्रम की मात्रा से निश्चित होती है। और श्रम की मात्रा उसकी अवधि की सीमा अर्थात् श्रम-काल द्वारा मापी जाती है। "तब हम देखते हैं कि जो किसी वस्तु के मूल्य का परिमाण निश्चित करता है, वह उसके उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम की मात्रा अथवा श्रम-काल है।... एक वस्तु के उत्पादन से दूसरी के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम-काल के अनुसार एक पण्य द्रव्य के सापेक्ष दूसरे पण्य-द्रव्य का मूल्य होता है।"[1]

इस प्रकार अगर कोट को बनाने में सोलह घण्टे लगे और जूतों का जोड़ा तैयार करने में आठ घण्टे, तो कोट का मूल्य जूतों के जोड़े के मूल्य का दुगुना होगा और एक कोट का दो जोड़े जूतों से विनिमय होगा। मार्क्स ने अनुभव किया कि इन दोनों अवस्थाओं में श्रम का रूप समान नहीं था। कोट में बुनने, कातने और सीने वालों का श्रम लगा था जबकि जूतों में अन्य प्रकार का श्रम। लेकिन, मार्क्स का कथन है, श्रम सभी समान हैं। अत: इस अर्थ में परस्पर तुलनीय भी कि यह मानव शक्ति का व्यय है। सीधा, अकुशल और औसत श्रम तथा कुशल श्रम भी तुलनीय है। कुशल श्रम केवल पहले प्रकार का गुणज रूप है। अत: एक घण्टे का कुशल श्रम दो घण्टे के अकुशल श्रम के बराबर हो सकता है।

मार्क्स कहते हैं, अत: किसी पण्य-द्रव्य का मूल्य उसके उत्पादन के लिए आवश्यक सामाजिक श्रम-काल से निश्चित किया जाता है। आप आपत्ति करेंगे कि "इसका अर्थ यह हुआ कि एक मन्द, अकुशल कारीगर द्वारा उत्पादित पण्य-द्रव्य का मूल्य एक कुशल और क्षिप्र कारीगर द्वारा उत्पादित पण्य के मूल्य से अधिक होगा क्योंकि मन्द कारीगर उसे पूरा करने में अधिक समय लगायेगा"।

[1] *Ibid.*, p. 6.

मार्क्स ने इस आपत्ति का पूर्वानुमान लगा लिया था और इसका उत्तर इस प्रकार दिया: "ऐसा प्रतीत हो सकता है कि अगर पण्य का मूल्य ***उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा*** द्वारा निश्चित होता है तो व्यक्ति जितना काहिल अथवा सुस्त होगा, उसका पण्य उतना ही अधिक मूल्य का होगा क्योंकि उसे पण्य को बनाने में अधिक समय लगाना होगा। यह एक दुखपूर्ण भूल होगी। आपको स्मरण होगा कि मैंने "***सामाजिक श्रम***" शब्द का प्रयोग किया है और इस '***सामाजिक***' की योग्यता में अनेक बातें सन्निहित हैं। जब हम कहते हैं कि पण्य का मूल्य उसमें लगाये गए ***श्रम की मात्रा*** द्वारा निश्चित होता है, तो उसका अर्थ है कि एक निश्चित समाज में उत्पादन की निश्चित सामाजिक औसत अवस्थाओं के अन्तर्गत निश्चित सामाजिक क्षमता और नियोजित श्रम के औसत कौशल द्वारा उत्पादन के लिए ***आवश्यक श्रम की मात्रा***।"[1]

एक फैक्टरी में, मान लीजिए, दो सौ कामगर काम करते हैं। उनमें से कुछ दूसरों से अच्छा काम करेंगे। लेकिन श्रम की एक औसत क्षमता होगी। जो उस औसत क्षमता से अच्छा काम करते हैं, उनका काम उनके काम की पूर्ति करेगा जो औसत के कम काम करते हैं। मान लीजिए, एक कोट को बनाने में औसत अथवा सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल सोलह घण्टे है। कुछ कारीगरों को कम समय की आवश्यकता होगी, कुछ को अधिक की। लेकिन ये साधारण स्तर से अत्यन्त सामान्य व्यतिक्रम हैं। उत्पादन के साधनों अर्थात् मशीनों के साथ, जिन्हें श्रम वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रयोग में लाता है, यह श्रम-काल समान रहेगा। वस्त्र-उद्योग में कुछ यंत्र पुराने करघों के साथ काम करते हैं। कुछ में बिल्कुल नये ढंग के करघे लगे हुए हैं, जो अभी साधारणत: अपनाये भी नहीं गये हैं। फिर भी समस्त उपकरणों का एक औसत स्तर है—उससे अधिक और कम परस्पर समतुल्य हो जाता है और इस प्रकार सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल का अर्थ है औसत उपकरणों के साथ काम करता हुआ औसत श्रम। यह निस्संदेह स्थान और समय के साथ बदलता रहता है लेकिन किसी एक देश में, किसी एक समय में यह सामान्य औसत स्तर होता है जिसे श्रम और उत्पादन के साधन पुष्ट करते हैं।

---

[1]K Marx, *Value, Price and Profit* (1865), edited by Eleanor Aveling, p. 33. International Publishers, N.Y., 1935.

फिर क्या? मान लीजिए हम स्वीकार कर लेते हैं कि किसी पण्य-द्रव्य का मूल्य उसके उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल द्वारा निश्चित होता है। इससे यह किस प्रकार सिद्ध होता है कि पूंजीवादी समाज में श्रम का शोषण किया जाता है? कि सम्पत्ति-सम्पन्न वर्ग सम्पत्ति-हीन वर्ग के श्रम पर जीवित रहता है? यह किस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रमिक भी भूदास की ही भांति समय के एक अंश तक अपने लिए काम करता है और शेष समय में अपने स्वामी के लिए?

दोनों बातों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पूंजीवादी समाज में मजदूर स्वतंत्र व्यक्ति है। वह दास की भांति किसी स्वामी की सम्पत्ति नहीं है न ही वह भूदास की भांति भूमि से बंधा है। हम पहले (14वें अध्याय में) जान चुके हैं कि वह किस प्रकार न केवल अपने स्वामी से अपितु उत्पादन के साधनों से भी "स्वतंत्र हो गया"। हम जान चुके हैं कि किस प्रकार उत्पादन के साधन (भूमि, औजार, मशीनें आदि) एक छोटे-से वर्ग के स्वामित्व में आ गये और सामान्यतः कामगरों में वितरित नहीं होते थे। जिनके पास उत्पादन के साधन नहीं हैं, वे केवल मजदूरी के लिए अपने आपको उन लोगों को भाड़े पर देकर ही अपनी जीविका कमा सकते हैं जिनके पास उत्पादन के साधन हैं। निस्संदेह, श्रमिक अपने आपको पूंजीपति के पास बेचता नहीं है। (इससे वह दास बन जाएगा) लेकिन वह अपनी एक मात्र पण्य-वस्तु अपनी काम करने की क्षमता, श्रम-शक्ति को बेच देता है।

"अतः अपने रुपये को पूंजी में बदलने के लिए धनपति को बाजार में स्वतंत्र श्रम मिलना ही चाहिए। स्वतंत्र दोनों अर्थों में कि एक स्वतंत्र व्यक्ति के नाते वह अपनी श्रम-शक्ति को अपनी पण्य-वस्तु के रूप में दे सकता है और दूसरी ओर, उसके पास कोई अन्य पण्य-वस्तु बेचने के लिए नहीं है, और अपनी श्रम-शक्ति का पूरा मूल्य प्राप्त करने के लिए आवश्यक कुछ भी उसके पास नहीं है।"[1]

इस स्वतंत्र श्रमिक को अपनी पण्य-वस्तु किस दर से बेचनी होगी अर्थात्, उसकी श्रम-शक्ति का क्या मूल्य है? श्रम-शक्ति का मूल्य किसी भी अन्य पण्य-द्रव्य के समान उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा द्वारा

[1]*Capital op. cit.*, vol. 1, p. 147.

निश्चित होता है। दूसरे शब्दों में, श्रमिक की श्रम-शक्ति का मूल्य उसके जीवित रहने और क्योंकि श्रम सम्भरण बना रहना चाहिए अतः परिवार की वृद्धि के लिए आवश्यक समस्त वस्तुओं के बराबर होगा। ये समस्त वस्तुएं मिलकर विभिन्न स्थान और समयों पर भिन्न-भिन्न होंगी। (उदाहरणार्थ, आज चीन और अमरीका में ये भिन्न-भिन्न हैं) श्रमिक को उसकी श्रम-शक्ति के बदले में मजदूरी मिलती है। वह मजदूरी सदैव उस रकम के बराबर होनी चाहिए जो श्रमिक के लिए अपनी और अपनी सन्तान की श्रम-शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक समस्त पण्य-द्रव्य खरीद सके।

मार्क्स इसे इस प्रकार कहते हैं: "श्रम-शक्ति का मूल्य श्रम के संवर्धन के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों का मूल्य है... उसके जीवन-निर्वाह के साधन... श्रमिक व्यक्ति की स्थिति में उसके प्रतिपालन के लिए पर्याप्त होने चाहिए। उसकी प्राकृतिक आवश्यकताएं, जैसे कि भोजन, वस्त्र, ईंधन, मकान, उसके देश की जलवायु और अन्य भौतिक अवस्थाओं के भेद से भिन्न-भिन्न होती हैं। दूसरी ओर, उसकी तथाकथित आवश्यकताओं की संख्या और मात्रा. ... स्वयं ऐतिहासिक विकास की उपज होती है। और इसलिए काफी सीमा तक देश की सभ्यता के परिणाम पर.... और जिस स्वभाव और आराम की मात्रा का अभ्यास स्वतन्त्र श्रमिक वर्ग को पड़ चुका है, उस पर ...निर्भर करती है।

"श्रम-शक्ति का स्वामी नाशवान है।... संकटों और मृत्यु द्वारा बाजार में श्रम-शक्ति की जो कमी होती रहती है, उसकी अनुपूर्ति कम से कम उतनी ही नयी श्रम-शक्ति द्वारा निरन्तर होती रहनी चाहिए। अतः श्रम-शक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक जीवन-निर्वाह के साधनों की रकम में श्रमिक के अनुपूरकों अर्थात उसकी सन्तान के लिए आवश्यक साधन भी सम्मिलित होंगे जिससे कि इन विलक्षण पण्य-स्वामियों की जाति बाजार में अपनी उपस्थिति बनाये रखे।"[1]

इसका सीधा अर्थ यह है कि श्रमिक अपनी श्रम-शक्ति के लिए उतनी ही मजदूरी पायेंगे जो केवल उन्हें और उनके परिवार को जीवित रखने के लिए, (कुछ देशों में) रेडियो, अथवा कार अथवा यदा-कदा सिनेमा के टिकट खरीदने के लिए पर्याप्त हो।

उपर्युक्त उद्धरण में ध्यान दीजिए कि मार्क्स "इस विलक्षण पण्य-स्वामियों

[1]*Ibid.*, pp. 149, 150.

की जाति" का निर्देश करते हैं। श्रमिकों की पण्य-वस्तु, श्रम-शक्ति के बारे में "विलक्षण" क्या है? यह विलक्षण इस बात में है कि अन्य पण्य-वस्तुओं से विपरीत, इसका अपना जो मूल्य है उससे यह अधिक मूल्य उत्पन्न कर सकती है। जब कामगर अपने आपको भाड़े पर चढ़ाता है, तो वह केवल उस समय के लिए अपनी श्रम-शक्ति नहीं बेचता, जो उसकी अपनी मजदूरी के मूल्य के उत्पादन में लगता है अपितु पूरे कार्यकारी दिन की अवधि के लिए बेच देता है। अगर कार्यकारी दिन दस घण्टे का है और श्रमिक की मजदूरी के मूल्य के उत्पादन के लिए आवश्यक काल छः घण्टे के बराबर है तो चार घण्टे शेष रह जायेंगे और श्रमिक इन चार घण्टों के अतिरिक्त श्रम-काल में ***अपने लिए नहीं, अपितु अपने मालिक के लिए*** काम करता है। मार्क्स इन छः घण्टों को ***आवश्यक श्रम-काल*** तथा चार घण्टों को ***अतिरिक्त श्रम-काल*** कहते हैं। दस घण्टों के श्रम के कुल उत्पादन के मूल्य का 6/10वां भाग उसकी मजदूरी के बराबर है और 4/10वां भाग अतिरिक्त मूल्य के बराबर होगा जो मालिक को प्राप्त होता है, जिससे वह अपना मुनाफा बनाता है।

"इस प्रकार पण्य-वस्तु का मूल्य उसमें निहित ***कुल श्रम-परिमाण*** द्वारा निश्चित होता है। लेकिन उस परिमाण के एक अंश की प्राप्ति सममूल्य मजदूरी के रूप में होती है और अन्य शेष अंश की प्राप्ति उस मूल्य के रूप में, जिसके लिए कोई सममूल्य नहीं दिया जाता है। पण्य में सन्निहित श्रम का पहला अंश ***वैतनिक*** श्रम है शेष ***अवैतनिक*** श्रम। अतः पण्य-वस्तु को ***उसके मूल्य*** पर बेचने से, अर्थात इसमें लगे हुए ***श्रम के कुल परिमाण*** के स्फुटन के रूप में पूंजीपति को अवश्य ही इसे लाभ पर बेचना होगा। वह केवल उसे ही नहीं बेचता है जिसके बराबर उसकी लागत आई है अपितु उसे भी बेचता है, जिस पर उसकी कोई लागत नहीं आई यद्यपि इस पर उसके कामगार के श्रम की लागत लगी हुई है। पण्य-वस्तु की पूंजीपति की लागत और उसकी वास्तविक लागत भिन्न वस्तुएं हैं। अतः मैं फिर कहता हूं कि सामान्य और औसत लाभ पण्य-वस्तुओं को ***उनके वास्तविक मूल्यों पर*** न कि ***उनसे अधिक पर*** बेचने से प्राप्त होता है।"[1]

इस प्रकार मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त इस रहस्य को स्पष्ट

[1]*Value, Price and Profit, op. cit.*, pp. 44, 45.

कर देता है कि पूंजीवादी समाज में श्रम का शोषण किस प्रकार होता है। हम समस्त प्रक्रिया को छोटे-छोटे वाक्यों के रूप में संक्षिप्त करते हैं:

पूंजीवादी व्यवस्था विक्रेय वस्तुओं अर्थात् पण्य-द्रव्यों से सम्बन्धित है।

पण्य-द्रव्य का मूल्य उसके उत्पादन में लगे हुए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल पर निर्भर करता है।

श्रमिकों के पास उत्पादन के उनके अपने साधन (भूमि, औजार, कारखाने) नहीं होते।

जीवित रहने के लिए उन्हें अपनी एकमात्र पण्य-वस्तु अपनी श्रम-शक्ति बेचनी पड़ती है।

उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य अन्य पण्य-द्रव्यों की तरह उसके पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक रकम–इस अवस्था में उसे जीवित रखने के लिए आवश्यक रकम के बराबर होता है।

अतः उसके जीवित रहने के लिए जो आवश्यक होगा, उसे दी गई मजदूरी केवल उसके बराबर ही होगी।

लेकिन श्रमिक यह रकम अपने कार्यकारी दिन के एक अंश (पूरे दिन के कम समय) में ही उत्पन्न कर लेता है।

इसका अर्थ है कि समय के केवल उतने अंश तक ही श्रमिक अपने लिए काम करता है।

शेष समय में वह अपने मालिक के लिए काम करता है।

जो कुछ श्रमिक को मजदूरी में मिलता है, और जिस पण्य द्रव्य का वह उत्पादन करता है, उसके मूल्य में जो अन्तर है, वह अतिरिक्त मूल्य है।

अतिरिक्त मूल्य मालिक को मिलता है जो उत्पादन के साधनों का स्वामी है।

यह स्वामी-श्रेणी के प्रतिफल–मुनाफा, ब्याज, शुल्क का स्रोत है। अतिरिक्त मूल्य पूंजीवादी समाज में श्रमिकों के शोषण की माप है। कार्ल मार्क्स अमरीकी इतिहास के एक जिज्ञासु विद्यार्थी थे और इसलिए सम्भवतः अब्राहम लिंकन के लेखों और भाषणों से परिचित थे। हम नहीं जानते कि अब्राहम लिंकन को भी कभी कार्ल मार्क्स की रचनाएं पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था या नहीं लेकिन हम जानते हैं कि कुछ विषयों पर उनके विचार समान थे। अब्राहम

लिंकन के इन शब्दों पर विचार कीजिए: "हमने किसी भी अच्छी वस्तु का पहले श्रम की लागत के बिना न तो कभी उपभोग किया है और न हम कभी कर सकते हैं। और जहां तक अधिकांश अच्छी वस्तुएं श्रम द्वारा उत्पादित होती हैं, ऐसी सभी वस्तुएं अधिकार से उनकी होनी चाहिए, जो अपने श्रम से इनका उत्पादन करते हैं। लेकिन संसार में सभी युगों में ऐसा होता रहा है कि श्रम किसी ने किया है और दूसरे बिना श्रम किये फल का अधिकांश भाग भोगते हैं। यह गलत है और नहीं होना चाहिए। किसी भी अच्छी सरकार का यह उचित लक्ष्य होगा कि वह प्रत्येक श्रमिक के लिए उसके श्रम के सम्पूर्ण उत्पादन अथवा यथासम्भव अधिक से अधिक भाग की प्राप्ति करवाये।"[1]

यह अब्राहम लिंकन की वाणी है। वह भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि श्रम से काम होता है और पूंजी का इसके साथ हिस्सा बंटाना वस्तुत: लूट है। वह इससे भी आगे बढ़ता है। उसका अन्तिम वाक्य फिर पढ़िए। आप देखेंगे कि वह इस सम्बन्ध में कुछ करना चाहता है। यही यूटोपियाई करना चाहते थे। वही मार्क्स ने किया। लेकिन उन सबमें इसे करने की प्रणाली में भेद था।

यूटोपियाई समाजवादियों ने "अपने यूटोपिया की सिद्धि में.... इस बात की तनिक चिन्ता नहीं की कि समाज में गतिशील महान् औद्योगिक शक्तियां आकांक्षित परिवर्तनों को सहन करेंगी अथवा नहीं।"[2] वे मानते थे कि बस केवल इतना ही आवश्यक था कि आदर्श समाज की एक रूपरेखा खड़ी कर ली जाए, शक्तिशाली अथवा धनी (अथवा दोनों) में रुचि उत्पन्न की जाए, अल्प पैमाने पर इसका प्रयोग किया जाए और तब लोगों के मधुर विवेक पर छोड़ दिया जाए कि वे इसे स्वीकार कर लें।

इस प्रकार प्रसिद्ध अंग्रेज समाजवादी राबर्ट ओवेन ने एक पुस्तक लिखी, जिसका विषय उसके नाम से ही जाना जा सकता है। इस पुस्तक का नाम था, ***नये नैतिक संसार की पुस्तक।*** क्या इस पुस्तक में उसके नये समाज के परिवर्तन के लिए श्रमिक वर्ग को विद्रोह के लिए ललकारा गया है? नहीं। अपनी पुस्तक के अन्त में वह ग्रेट ब्रिटेन के राजा हिज मैजेस्टी विलियम चतुर्थ को एक

[1]Nicolay and Hay *Abraham Lincoln Complete Works,* vol. I, p. 92. Century Company, N.Y., 1920.

[2]H.W. Laidler, *A History of Socialist Thought,* p. 56. Thomasy. Crowell Company, N.Y., 1927.

पत्र लिखता है, जिसमें वह कहता है: "यह पुस्तक... *एक नये नैतिक संसार* के आधारभूत सिद्धान्तों को व्यक्त करती है और इस प्रकार यह समाज के नव-निर्माण और मानव जाति के चरित्र के पुनर्निर्माण के लिए नया आधार प्रस्तुत करती है.... समाज का जन्म कल्पना की आधारभूत भूलों से हुआ है और संसार भर में मानव संस्थाएं और सामाजिक व्यवस्थाएं इन भूलों पर आधारित हैं... मान्यवर, आपके शासन में अपनी समस्त बुराइयों के साथ इस व्यवस्था की स्वयंसिद्ध सत्य और सबके लिए प्राप्य सुख पर आधारित नयी व्यवस्था में परिवर्तन की सम्पूर्ण सम्भावनाओं के साथ उपलब्धि हो सकेगी।"[1]

और प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजवादी चार्ल्स फोरियर भी श्रमिक श्रेणी से आगे जाकर धनपतियों की ओर देखता है कि वे उसके नयी व्यवस्था के प्रयोगों में सहायता दे सकें: "एक बार उसने सार्वजनिक घोषणा की कि वह प्रतिदिन एक निश्चित समय पर किसी लोक-हितैषी व्यक्ति के लिए घर पर रहकर प्रतीक्षा करेगा जो उसे उसके सिद्धान्तों पर आधारित एक बस्ती के विकास के लिए दस लाख फ्रैंक देने की व्यवस्था कर सके। उसके पश्चात् बारह वर्षों तक वह प्रतिदिन दोपहर को ठीक समय घर पर रहकर उस उदार आगन्तुक की प्रतीक्षा करता रहा; परन्तु खेद है कि कोई भी लखपति उसके द्वार पर न आया।"[2]

एक अन्य फ्रांसीसी समाजवादी सन्त-साइमन के अनुयायी फोरियर के प्रस्तावों के विरोधी थे किन्तु वे भी सोचते थे कि सामाजिक परिवर्तन घटित करने के लिए बुर्जुआ वर्ग का सहयोग आवश्यक है। अपने मुखपत्र *ग्लोब* के दिनांक 18 नवम्बर, 1831 के संस्करण में उन्होंने यह उद्धरण प्रकाशित किया: "श्रमिक वर्ग तब तक नहीं उठ सकता, जब तक कि उच्च वर्ग अपने हाथ न बढ़ाये। सूत्रपात इन्हीं से होना चाहिए।"[3]

मार्क्स ने यूटोपियाईयों के इन प्रस्तावों का उपहास किया और उन्हें सनकी समझा। 1848 में अपने आजीवन मित्र और सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स (एंगेल्स ने मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् उनके अधूरे *कैपिटल* के द्वितीय और तृतीय खण्ड प्रकाशित किये) के सहलेखन में लिखे गये *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* में मार्क्स

---

[1]Robert Owen, *Book of the New Moral World,* p. 58. London, 1836.
[2]H.W. Laidler, *op. cit.,* p. 70.
[3]E. Levasseur *op. cit.*, vol. II, p.18

और एंगेल्स ने यूटोपियाई समाजवाद की निन्दा की है: "वे समाज के प्रत्येक सदस्य की अवस्था सुधारना चाहते हैं, यहां तक कि सबसे सम्पन्न लोगों की भी। अत: वे स्वाभवत: बिना किसी वर्ग-भेद के समस्त समाज का आह्वान करते हैं। नहीं, विशेष प्राथमिकता शासक वर्ग को मिलती है। जब लोग एक बार उनकी प्रणाली को समझ जाते हैं तो वे किस प्रकार समाज की सर्वश्रेष्ठ अवस्था की सर्वश्रेष्ठ सम्भव योजना को देखने में असफल हो सकते हैं?

अत: वे समस्त राजनीतिक और विशेष रूप से क्रांतिकारी गतिविधियां छोड़ देते है; वे शान्तिपूर्ण साधनों और छोटे-छोटे प्रयोगों के प्रयासों और उदाहरणों की शक्ति से नये समाज के सिद्धान्तों का पथ-निर्माण करना चाहते हैं जिसकी असफलता निश्चित है....

वे अब भी अपने सामाजिक यूटोपिया के स्वप्नों की उपलब्धि, छोटे-छोटे स्वतन्त्र 'सामाजिक एककों' के निर्माण [फोरियर], 'घरेलू बस्तियों' की स्थापना और 'छोटे आदर्श समाज' की स्थापना [एतिएनी कैबे, एक अन्य फ्रांसीसी समाजवादी] आदि के स्वप्नों से करते हैं जो नन्हे से रामराज्यों के समान होंगे; और इन समस्त हवाई किलों की उपलब्धि के लिए उन्हें बुर्जुआ लोगों की तिजोरियों और उनकी भावनाओं से अपील करनी पड़ती है।"[1]

इस "बुर्जुआ लोगों की तिजोरियों और उनकी भावनाओं से अपील" करने ने ही मार्क्स और एंगेल्स को चिढ़ा दिया था। उनकी दृष्टि से नये समाज का परिवर्तन शासक वर्ग के प्रयत्नों से नहीं, अपितु श्रमिक वर्ग के क्रांतिकारी कार्यों से लाया जाना था। बेबेल लाइटनेश्ट और अन्य जर्मन क्रांतिवादियों को लिखते हुए उन्होंने सितम्बर 1879 में इस विषय पर अपना स्पष्ट मत प्रकट किया है: "लगभग चालीस वर्ष तक हमने वर्ग संघर्ष पर इतिहास की प्रबल शक्ति के रूप में बल दिया है और विशेष रूप से बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष को वर्तमान सामाजिक क्रांति का विशाल उत्तोलक माना है; अत: हमारे लिए उन लोगों के साथ सहयोग करना असम्भव है जो आन्दोलन से इस वर्ग-संघर्ष का हटाना चाहते हैं। जब इण्टरनेशनल की स्थापना हुई थी, हमने युद्ध का यह नारा सूत्र-बद्ध किया था कि श्रमिक वर्ग की मुक्ति श्रमिकों के अपने प्रयत्नों से प्राप्त

[1]K. Marx and F. Engels, *Manifesto of the Communist Party* (1848), edited by Engels. Kerr edition, pp. 54, 56.

होनी चाहिए। अत: हम उन लोगों से सहयोग नहीं कर सकते हैं जो कहते हैं कि श्रमिक इतने शिक्षित नहीं कि वे स्वयं अपनी मुक्ति ला सकें और पहले लोक-हितैषी बुर्जुआ और निम्न-बुर्जुआ द्वारा मुक्त किए जाने चाहिए।"[1]

मार्क्स और एंगेल्स ने जब वर्ग-संघर्ष को "इतिहास की प्रबल शक्ति" बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष को "वर्तमान सामाजिक क्रांति का उत्तोलक" कहा तो उनका तात्पर्य क्या था? इन प्रश्नों का उत्तर केवल उस दृष्टिकोण की परीक्षा से पाया जा सकता है जिससे उन्होंने इतिहास को देखा।

इतिहास का आपका दर्शन क्या है? क्या आप मानते हैं कि ऐतिहासिक घटनाएं मुख्यत: अकस्मात से होती हैं; कि वे केवल आकस्मिक घटनाएं होती हैं जिनमें परस्पर कोई पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता? अथवा क्या आप यह विश्वास करते हैं कि ऐतिहासिक परिवर्तन विचारों की शक्ति के कारण घटित होते हैं? अथवा क्या आप यह मानते हैं कि ऐतिहासिक आन्दोलन महापुरुषों के प्रभावों में खोजे जा सकते हैं? अगर आप इनमें से किसी भी विचार को मानते हैं तो आप मार्क्सवादी नहीं हैं। मार्क्स जिसके प्रवर्तक और मुख्य प्रवक्ता थे, इतिहासकारों का वह सम्प्रदाय इतिहास के आन्दोलन की उन परिवर्तनों के रूप में व्याख्या करता है जो समाज में समाज की आर्थिक शक्तियों के परिणामस्वरूप घटित होते हैं।

इस सम्प्रदाय के अनुसार घटनाएं एक दूसरी से स्वतंत्र नहीं हैं अपितु परस्पर सम्बद्ध होती है; इतिहास केवल अव्यवस्थित तथ्यों और घटनाओं का सम्मिश्रण होता है, परन्तु वास्तव में यह सम्मिश्रण नहीं, यह एक निश्चित नियम के अनुसार होता है, जिसे खोजा जा सकता है।

एंगेल्स मार्क्स के दर्शन का आधार इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं: "इस प्रणाली में—और इसी में इसका विशेष गुण निहित है—पहली बार समस्त प्राकृतिक, ऐतिहासिक, बौद्धिक संसार एक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया गया है अर्थात निरन्तर गति, परिवर्तन, रूपान्तर, विकास के रूप में। और उस आन्तरिक सम्बन्ध की खोज के प्रयत्न किये गये हैं, जो इस समस्त गति और विकास को एक समग्र रूप प्रदान करता है। इस दृष्टिकोण से मनुष्य जाति का

[1]Martin Lawrence, *Karl Marx and Friedrich Engels Correspondence, 1846-1895*, pp. 376, 377. London, 1934.

इतिहास विचार-हीन चिन्तन का क्रमहीन आवर्त नहीं रह जाता... अपितु स्वयं मनुष्य के विकास की प्रक्रिया के रूप में प्रकट होता है।''[1]

प्रत्येक सभ्यता के अर्थतंत्र, राजनीति, कानून, धर्म और शिक्षा सब परस्पर सम्बद्ध हैं। प्रत्येक अन्योन्याश्रित है। और जो कुछ भी है, वह अन्यों के कारण है। इन समस्त शक्तियों में अर्थ की शक्ति सबसे महत्वपूर्ण और सबका मूलाधार है। सबका वृत्तकेन्द्र वह सम्बन्ध है जो उत्पादक के रूप में मनुष्यों के बीच विद्यमान रहता है। मनुष्य किस प्रकार रहता है, यह इस पर निर्भर है कि वह अपनी जीविका किस प्रकार कमाता है—किसी निश्चित समय पर निश्चित समाज में उत्पादन के प्रचलित ढंग क्या है।

मार्क्स इसे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं: ''अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि वैधानिक सम्बन्ध और राज्य के रूप न तो स्वयं में समझे जा सकते हैं और न ही मानव-मस्तिष्क के तथाकथित साधारण विकास से उनकी व्याख्या हो सकती है। बल्कि उनकी जड़ें जीवन की भौतिक अवस्थाओं में धंसी हुई हैं ... मनुष्यों द्वारा किये गये सामाजिक उत्पादन में वे निश्चित सम्बन्धों का रूप ग्रहण करते हैं... उत्पादन के ये सम्बन्ध अपने उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था के अनुकूल होते हैं। उत्पादन के इन सम्बन्धों का कुल जोड़ समाज के आर्थिक ढांचे का निर्माण करता है, जो वास्तविक आधार है जिस पर वैधानिक और राजनीतिक अधिरचना का विकास होता है और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना का निश्चित रूप उत्पन्न होता है। भौतिक जीवन में उत्पादन का रूप जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रिया की साधारण प्रवृत्ति का निर्माण करता है। यह मनुष्य की चेतना नहीं, जो उसके अस्तित्व को निश्चित करती है अपितु इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व ही इस चेतना का निर्माण करता है।''[2]

यह दृष्टि हमें इतिहास के विश्लेषण और व्याख्या के लिए आधार प्रस्तुत करती है। मनुष्यों के जीविका कमाने का ढंग, उत्पादन और विनिमय का ढंग प्रत्येक समाज का आधार है। ''धन का वितरण किस प्रकार होता है और समाज किस प्रकार वर्गों में विभाजित है... यह इस बात पर निर्भर करता है कि उत्पादन

[1]F. Engels, Socialsm, Utopian and Scientific, Kerr edition, p. 85.

[2]K. Marx, *A Contribution to the Critique of "Political Economy"* (1859), Kerr edition, 1904, Preface, p. 11.

क्या है, उत्पादन किस प्रकार होता है और उत्पादित वस्तुओं का विनिमय किस प्रकार होता है।" इसी प्रकार अधिकार, न्याय और शिक्षा आदि के सम्बन्ध में समाज की विचारधारा आर्थिक विकास की उस अवस्था के अनुकूल होती है जिसे वह समाज विशेष प्राप्त कर चुका है। अब वह क्या है जो सामाजिक और राजनीतिक क्रांति उत्पन्न करती है? क्या वह केवल मनुष्य के विचारों में परिवर्तन मात्र है जो क्रांति का कारण बनता है? नहीं। ये विचार परिवर्तन पर निर्भर करते हैं जो पहले अर्थशास्त्र में उत्पादन और विनिमय के ढंग में घटित होता है।

मनुष्य प्रकृति पर अपनी विजय में उन्नति करता है। वस्तुओं के उत्पादन और विनिमय के नये और बेहतर तरीकों की खोज होती है। जब ये परिवर्तन आधारभूत और दीर्घप्रभावी होते हैं, सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होता है। उत्पादन के पुराने ढंग के साथ जो सम्बन्ध विकसित हो चुके हैं वे घनीभूत हो जाते हैं। साथ-साथ रहने के पुराने ढंग कानून, धर्म और शिक्षा में जड़ पकड़ लेते हैं। जिस वर्ग के हाथों में सत्ता है, वह उस सत्ता को बनाये रखना चाहता है—और उस वर्ग के साथ उसका संघर्ष होता है जिसका उत्पादन के नये ढंग के साथ सामंजस्य होता है। परिणाम होता है क्रांति।

मार्क्सवादियों के अनुसार, इतिहास के प्रति यह दृष्टिकोण इस संसार को समझना सम्भव बना देता है जो अन्यथा अस्पष्ट रहता है। मनुष्यों के जीविकोपार्जन के तरीकों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले वर्ग-सम्बन्धों के दृष्टिकोण से इतिहास को देखने से पहली बार अबोध बुद्धिग्राह्य हो जाता है। इतिहास की इस अवधारणा को साधन बनाकर सामन्तवाद से पूंजीवाद और पूंजीवाद से साम्यवाद के संक्रमण को समझ सकते हैं।

क्योंकि मार्क्स और एंगेल्स ने अतीत का अध्ययन इस दृष्टिकोण से किया है, अतः वे बुर्जुआ पूंजीजीवी वर्ग को इतिहास में उसका उचित स्थान दे सके। उन्होंने यह नहीं कहा कि पूंजीवाद और पूंजीपति बुरे थे—उन्होंने इस बात की व्याख्या की कि उत्पादन का पूंजीवादी ढंग पूर्वकालिक परिस्थितियों में से किस प्रकार विकसित हुआ। उन्होंने सामन्तवाद के साथ बुर्जुआ वर्ग के संघर्ष और विकास के काल में उनके क्रांतिकारी चरित्र पर बल दिया: "हम देखते हैं कि उत्पादन और विनिमय के वे साधन जिनके आधार पर बुर्जुआ वर्ग ने अपना

निर्माण किया, सामन्ती समाज में जन्म ले चुके थे। उत्पादन और विनिमय के इन साधनों के विकास की एक निश्चित अवस्था पर... सम्पत्ति के सामन्ती सम्बन्ध अब तक विकसित उत्पादक शक्तियों के उपयुक्त नहीं रह गये थे, अनेक प्रकार के बन्धन बन गये थे। उनका विस्फोट होना अवश्यम्भावी था। वे चूर-चूर हो गये।

"उनके स्थान पर, स्वतंत्र प्रतिद्वन्द्विता बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक और राजनीतिक पेंग द्वारा अपने अनुकूल सामाजिक और राजनीतिक विधान लेकर प्रविष्ट हुई।"[1]

इस प्रकार, सामन्तवाद से पूंजीवाद का संक्रमण हुआ क्योंकि नयी उत्पादक शक्तियां और एक क्रांतिकारी वर्ग (बुर्जुआः पूंजीजीवी)—दोनों उपस्थित थे। यह सदैव सत्य होगा। पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नये समाज की स्थापना केवल इसलिए नहीं होगी कि मनुष्य समुदाय उसे चाहता है। नहीं। नयी उत्पादन शक्तियां उपस्थित होनी चाहिए और उनके साथ एक क्रांतिकारी वर्ग भी हो, जिसका काम हो उन उत्पादक शक्तियों को समझना और उनका संचालन करना।

सामन्तवाद से पूंजीवाद के परिवर्तन का यही रूप था और मार्क्स और एंगेल्स ने कहा, पूंजीवाद से साम्यवाद के परिवर्तन का भी यही रूप होगा।

लेकिन अतीत के समाज पर दृष्टि डाल कर उसका वर्णन करना कि उसमें क्या हुआ था, एक बात है; वर्तमान समाज पर दृष्टि डालकर वर्णन करना कि क्या घटित होगा, दूसरी बात है। मार्क्स और एंगेल्स के पास क्या प्रमाण थे कि सामन्तवाद की भांति पूंजीवाद इतिहास के मंच से हट जाएगा? उनके पास क्या प्रमाण थे कि पूंजीवाद के आन्तरिक ढांचे में ही दरारें पैदा हो जाएंगी? क्या प्रमाण थे कि उत्पादन की शक्तियां जकड़ी हुई थीं और उत्पादन के सम्बन्धों द्वारा उनके स्वतंत्र विकास और विस्तार में बाधाएं उत्पन्न हो रही थीं?

मार्क्स और एंगेल्स ने 1848 में पूंजीवादी समाज का विश्लेषण किया और उसके उत्पादन की प्रणाली के भीतर ही कुछ विशिष्ट लक्षणों की ओर संकेत किया जिनके बारे में उनका तर्क था कि वे पूंजीवाद के विनाश के लक्षण थे। उन्होंने निम्न बातों की ओर ध्यान दिलाया:

[1] *Communist Manifesto*, p. 19.

धन का कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में केन्द्रित होना बढ़ रहा है।

कुछ बड़े उत्पादकों द्वारा अनेक छोटे उत्पादक कुचले जा रहे हैं।

अधिकाधिक श्रमिकों को विस्थापित करने वाली मशीनों का उपयोग बढ़ रहा था और "औद्योगिक आरक्षित सेना" का निर्माण हो रहा है।

जनसमुदाय के दुख कष्ट बढ़ रहे हैं।

व्यवस्था में आवर्ती अवरोधों—संकटकाल—की प्रत्येक प्रत्यावृत्ति पहले से अधिक विध्वंसक है।

और सबसे महत्वपूर्ण—पूंजीवादी समाज का आधारभूत विरोधाभास—यह तथ्य है जहां सामूहिक प्रयत्न और श्रम के परिणामस्वरूप, स्वयं ***उत्पादन*** का अधिकाधिक ***सामाजीकरण*** हो रहा है, ***विनियोजन निजी—वैयक्तिक*** है। श्रम निर्माण करता है, पूंजी विनियोजन करती है। पूंजीवाद में, श्रम का उत्पादन सम्मिलित दायित्व, एक सहकारी प्रक्रिया बन चुका है जिसमें सहस्त्रों श्रमिक मिलकर काम करते हैं (प्राय: केवल एक वस्तु उत्पादन के लिए, जैसे, कार)। लेकिन सामाजिक रूप से उत्पादित उत्पादन उत्पादकों द्वारा नहीं अपितु उत्पादन के साधनों के स्वामी—पूंजीपतियों द्वारा विनियोजित होते हैं। और यही संकट का मूल है। समाजीकृत उत्पादन बनाम पूंजीवादी विनियोजन।

मार्क्स के ***कैपिटल*** के एक प्रभावशाली परिच्छेद में इस सबका सार इस प्रकार दिया गया है: "एक पूंजीवादी सदैव अनेकों को समाप्त करता है। इस केन्द्रीकरण अथवा थोड़े-से पूंजीपतियों द्वारा अनेकों के सम्पत्तिहरण के साथ ही साथ निरन्तर बढ़ते पैमाने पर श्रम के सहकारी रूप की प्रक्रिया का विकास होता है..... श्रम के साधनों का श्रम के साधनों के केवल सार्वजनिक रूप में उपयोगी रूपान्तरण... पूंजी के धुरन्धरों की संख्या में निरन्तर कमी के साथ... जन-समुदाय के दुख उत्पीड़न, दासत्व, अपमान और शोषण को जन्म देता है। लेकिन इसके भी साथ... स्वयं पूंजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया के तन्त्र के द्वारा अनुशासित, संयुक्त और संगठित.. श्रमिक वर्ग का विद्रोह जन्म लेता है। पूंजी का एकाधिकार उत्पादन की प्रणाली में विस्फोट उत्पन्न करता है...। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रम का समाजीकरण अन्तत: एक ऐसे बिन्दु तक जा पहुंचता है जहां वह अपने पूंजीवादी चौखटे के अनुपयुक्त हो जाता है। यह चौखटा भयंकर विस्फोट के साथ चूर-चूर हो जाता है। पूंजीवादी निजी सम्पत्ति

के विनाश का घण्टा बजता है। स्वत्वहर्त्ताओं का स्वत्वहरण होता है।"[1]

मार्क्स और एंगेल्स ने उस युग की पूर्व-कल्पना की जब उत्पादन की सामाजिक शक्तियां निजी सम्पत्ति और वैयक्तिक स्वत्वहरण द्वारा आरोपित प्रतिबन्धों द्वारा जकड़ी नहीं रहेंगी। उन्होंने अनुभव किया कि प्रतिफल संघर्ष एक नये सामंजस्यपूर्ण समाज की स्थापना करेगा जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण कुछ अल्पसंख्यक पूंजीपति स्वत्वहर्ताओं के हाथों सें बहुसंख्यक सर्वहारा उत्पादकों के हाथों में हस्तान्तरित हो जाएगा।

लेकिन यह परिवर्तन किस प्रकार घटित होगा? मनुष्यों के कार्यों से। और वे कौन-से मनुष्य थे जो इन परिवर्तनों को लायेंगे? सर्वहारा। क्यों? क्योंकि यही लोग पूंजीवाद के विरोधाभासों से सबसे अधिक दुखी थे, क्योंकि ये लोग निजी सम्पत्ति पर आधारित उस व्यवस्था को बनाये रखने में कोई रुचि नहीं रखते थे जिसमें इनको इनका उचित भाग प्राप्य नहीं। पूंजीवाद से साम्यवाद का विकास स्वयं पूंजीवाद में निहित है और इस संक्रमण का हथियार है सर्वहारा वर्ग।

मार्क्स उन बातूनी क्रान्तिकारियों में से नहीं थे जो केवल दूसरों को यह बतला कर ही संतुष्ट हो सकते थे, कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्यों करना चाहिए। नहीं, वह अपने जीवन-दर्शन से ही जीवित थे और जहां तक उनका दर्शन केवल संसार की व्याख्या-मात्र नहीं, अपितु संसार को बदलने का एक हथियार भी था, वह स्वयं एक सच्चे क्रांतिकारी के नाते संघर्ष से अलग नहीं अपितु उसका एक अंग बन कर ही रह सकते थे। वह उस क्रांति का एक अंग थे।

जब उन्होंने अनुभव किया कि पूंजीवाद की समाप्ति का साधन सर्वहारा थे, स्वभावतः उन्होंने अपना ध्यान श्रमिक-वर्ग को उसके आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष के लिए संगठित और शिक्षित करने में लगाया। वह 28 सितम्बर 1864 में लन्दन में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ (प्रथम इण्टरनेशनल) के सक्रिय और प्रभावशाली सदस्य थे। उसकी स्थापना के दो मास पश्चात् 29 नवम्बर, 1864 को मार्क्स ने अपने एक जर्मन मित्र डाक्टर कुगेलमैन को लिखा: "संघ अथवा इसकी समिति महत्वपूर्ण है क्योंकि लन्दन

[1]*Capital*, vol. I, pp. 788, 789.

श्रमिक संघ के नेता इसमें हैं... पेरिस के श्रमिक नेता भी इससे सम्बन्धित है।"[1]

मार्क्स और एंगेल्स ने श्रमिक-संघों को बहुत महत्व प्रदान किया: "श्रमिक वर्ग का श्रमिक-संघों के माध्यम से वर्ग के रूप मे संगठन... सर्वहारा वर्ग का वास्तविक वर्ग-संगठन है जिसमे वह पूंजी के साथ अपने नित्य संघर्ष को चलाता है जिसमें वह शिक्षा प्राप्त करता है ....।"[2]

श्रमिक शिक्षा किसके लिये प्राप्त करता है? अधिक मजदूरी, काम के घण्टे कम करने और बेहतर अवस्था की प्राप्ति के संघर्ष के लिये। जी हां। लेकिन यह शिक्षा एक इससे अधिक महत्वपूर्ण संघर्ष के लिये भी थी–वह संघर्ष था निजी सम्पत्ति की समाप्ति द्वारा श्रमिक वर्ग की सम्पूर्ण मुक्ति का संघर्ष। क्योंकि पूंजीवाद की समस्त बुराइयां उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के कारण उत्पन्न होती हैं अतः मार्क्स और एंगेल्स के कार्यक्रम का मुख्य आधार था निजी सम्पत्ति का उन्मूलन जो शोषण का आधार है। "साम्यवादियों का प्रथम उद्देश्य है... सर्वहारा लोगों को वर्गबद्ध करना, बुर्जुआ आधिपत्य की समाप्ति, सर्वहारा समाज द्वारा राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति... साम्यवाद का विशेष गुण सम्पत्ति का उन्मूलन नहीं अपितु बुर्जुआ सम्पत्ति का उन्मूलन है। लेकिन आधुनिक बुर्जुआ निजी सम्पत्ति, उत्पादन और उत्पादन के स्वत्वहरण की इस व्यवस्था की अन्तिम और पूर्ण अभिव्यक्ति हैं जो कुछ थोड़े से लोगों द्वारा अनेकों के शोषण पर, वर्ग-विद्वेष पर आधारित है।

इस अर्थ में साम्यवादियों का सिद्धान्त एक वाक्य में सूत्रबद्ध किया जा सकता है: निजी सम्पत्ति का उन्मूलन...

आप (बुर्जुआ-पूंजीजीवी) लोग हमारे निजी सम्पत्ति की समाप्ति के इरादों से भयभीत हैं। लेकिन आपके वर्तमान समाज में निजी सम्पत्ति ने पहले से ही समस्त जन-संख्या के 9/10 भाग को सम्पत्ति से वंचित कर रखा है। कुछ थोड़े-से लोगों के लिए इसका अस्तित्व ही इसीलिए है क्योंकि उन 9/10 लोगों के लिए इसका अस्तित्व है ही नहीं। इसलिए आप हमारे सम्पत्ति के उस रूप से निस्तार पाने के संकल्प के लिये हमारी भर्त्सना करते हैं जिसके अस्तित्व की आवश्यक शर्त ही यह है कि समाज के विशाल बहुसंख्यक वर्ग के लिये किसी

[1] K.Marks, *Letters to Dr. Kugelmann,* Marx-Engels-Lenin Institute translation. p. 26. Martin Lawrence, London.
[2] *Karl Marx and Friedrich Engels Correspondence.* p. 336.

प्रकार की सम्पत्ति का अस्तित्व न रहे।

एक शब्द में, आप हमारी भर्त्सना करते हैं क्योंकि हम आपकी सम्पत्ति से निस्तार चाहते हैं। निश्चित रूप से हम यही चाहते हैं....

आपत्ति की गई है कि निजी सम्पत्ति के उन्मूलन से समस्त काम ठप्प हो जाएगा और सार्वजनिक काहिली हम पर छा जाएगी।

इसके अुनसार, बुर्जआ समाज को बहुत पहले ही केवल अपनी काहिली के कारण मिट जाना चाहिए था। क्योंकि इसके जो सदस्य काम करते हैं वे कुछ भी प्राप्त नहीं करते और जो कुछ प्राप्त करते हैं, कोई काम नहीं करते।''[1]

अत: निजी सम्पत्ति जिस रूप में पूंजीवादी समाज में विद्यमान है—जिसमें स्वामी वर्ग को दूसरों के शोषण का अधिकार प्राप्त है, इस रूप में, सम्पत्ति का उन्मूलन आवश्यक था। लेकिन किस प्रकार? सम्पत्ति-स्वामियों को कह कर कि वे अपनी सम्पत्ति का त्याग कर दें? उनके सम्पत्ति-अधिकारों के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए मत देकर? मार्क्स और एंगेल्स ने कहा, बिल्कुल नहीं।

फिर किस प्रकार? उन्होंने किस मार्ग का समर्थन किया?

क्रांति।

''साम्यवादी अपने विचारों और उद्देश्यों को गुप्त रखने से घृणा करते हैं। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उनका लक्ष्य केवल समस्त वर्तमान सामाजिक अवस्थाओं को बल-पूर्वक उलट देने से प्राप्त हो सकता है। शासक वर्ग साम्यवादी क्रांति के नाम से थर्राना चाहिए। सर्वहारा वर्ग अपनी श्रृंखलाओं के अतिरिक्त और क्या खोयेगा? उनके पास जीतने के लिए सारा संसार पड़ा है।

दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ!''[2]

शासक वर्ग को यह उठती हुई चुनौती, क्रांति का यह आह्वान प्रथम फरवरी, 1848 में प्रकाशित हुआ। यह एक रोचक तथ्य है कि इसके प्रकाशन से एक मास पूर्व, 12 जनवरी,1848 को लोकसभा में भाषण देते हुए महान अमरीकी नेता अब्राहम लिंकन ने क्रांति को अपनी पूर्ण स्वीकृति प्रदान की थी: ''कोई भी लोग कहीं पर भी शक्ति और प्रवृत्ति होने पर उठने और वर्तमान सरकार को हटाकर नयी सरकार बनाने का अधिकार रखते हैं जो उनके अधिक

[1] *Comminist Manifesto,* pp. 30-35
[2] *Ibid.*,p. 58.

अनुकूल हो। यह सबसे मूल्यवान, सबसे पवित्र अधिकार है–हम आशा और विश्वास करते हैं कि यह एक ऐसा अधिकार है जो संसार को मुक्ति दिलाता है।"[1]

लिंकन ने "उठने और वर्तमान सरकार को हटाने" के अधिकार की बात क्यों की? पुरानी सरकार के ढांचे के भीतर ही इच्छित परिवर्तन क्यों न लाए जाएं।

संभवतः इसलिए क्योंकि उसने सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता। सम्भवतः क्योंकि मार्क्स और एंगेल्स के साथ उसका भी विश्वास था कि "वर्तमान राज्य की कार्यपालिका केवल समस्त बुर्जुआ वर्ग के सामान्य कार्यों की व्यवस्था की समिति मात्र है"।[2]

इसका सीधा अर्थ यह है कि जिन लोगों के पास सम्पत्ति है और जिनके पास नहीं है, इन दोनों के संघर्ष में सम्पत्ति-हीनों के विरुद्ध सम्पत्तिशालियों के पास सरकार के रूप में एक शक्तिशाली हथियार है। राज्य-शक्ति का प्रयोग शासक वर्ग के हितों में होता है–हमारे समाज में इसका अर्थ है पूंजीवादी वर्ग के हित में।

वस्तुतः मार्क्सवादियों के अनुसार यही कारण है कि राज्य सबसे पहले स्थान पर आता है। वर्तमान समाज उत्पीड़क और उत्पीड़ित, पूंजीजीवी और सर्वहारा वर्गों में विभाजित है। इन दोनों में संघर्ष है। जो वर्ग आर्थिक रूप से शासन करता है–जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व है–वही राजनीतिक रूप से भी शासन करता है। और "राजनीतिक शक्ति.... केवल एक वर्ग की दूसरे वर्ग के उत्पीड़न की संगठित शक्ति है।"[3]

हमें यह विश्वास कराया जाता है कि राज्य वर्ग से ऊपर है। सरकार सब लोगों–उच्च और निम्न, धनी और निर्धन का प्रतिनिधित्व करती है। लेकिन वास्तव में क्योंकि आज आर्थिक समाज निजी सम्पत्ति पर आधारित है, यह स्पष्ट है कि पूंजीवाद अर्थात निजी सम्पत्ति के दुर्ग पर होने वाले किसी भी आक्रमण को राज्य के प्रतिरोध का आवश्यकता पड़ने पर हिंसा की सीमा तक सामना करना पड़ेगा।

[1] *Abraham Lincoln, Complete Works,* vol. I, p. 105.
[2] *Communist Manifesto,* p. 15.
[3] *Ibid.*, p. 42.

अत: इसका प्रभाव यह होगा कि जब तक वर्गों का अस्तित्व है, राज्य वर्गों से ऊपर नहीं उठ सकता। यह अवश्य ही शासक वर्ग के पक्ष में रहेगा। एडम स्मिथ ने इसे इस रूप में व्यक्त किया; "जब भी विधान परिषदें स्वामी और उनके कामगरों के अन्तर को विनियमित करने का प्रयत्न करती हैं, इसके पार्षद सदैव स्वामी होते हैं।"[1]

हमारे अपने समय के अत्यन्त निकट अन्य महान हस्ती ने सुस्पष्ट शब्दों में, अपनी सम्मति व्यक्त की कि अमरीकी सरकार उसके आर्थिक जीवन के नियन्त्रकों द्वारा नियन्त्रित होती है। 1913 में प्रेसीडेण्ट बुडरो विल्सन ने लिखा: "स्थिति के बारे में तथ्य इस प्रकार हैं: कि अपेक्षाकृत लघुसंख्यक लोग इस देश के कच्चे माल का नियन्त्रण करते हैं; कि अपेक्षाकृत लघुसंख्यक जल-शक्ति का नियन्त्रण करते हैं... और वही लोग मुख्यत: रेल-मार्गों का नियन्त्रण करते हैं; कि परस्पर गठबन्धन से वे मूल्यों का नियन्त्रण करते हैं, और वही कुछ लोग देश के अधिकांश ऋण का नियन्त्रण करते हैं।... अमरीका की सरकार के स्वामी अमरीका के निर्माताा और पूंजीपति हैं।"[2]

लेकिन यह स्वीकार कर लेने पर भी कि राज्य का शासन-तन्त्र शासक-वर्ग के नियन्त्रण में है, क्या इसका अर्थ यह होगा कि सर्वहारा वर्ग के लिए नियन्त्रण पर अधिकार करने का एकमात्र मार्ग सरकार को बलपूर्वक हटा देना ही है? मत-दान द्वारा सरकार को क्यों नहीं बदला जा सकता? प्रजातंत्र की पद्धति से शक्ति प्राप्त क्यों न की जाए? सर्वहारा, मतों द्वारा अपने आपको सरकार में प्रविष्ट क्यों नहीं करते?

ये महत्वपूर्ण प्रश्न हैं जो स्वयं श्रमिकों में भी कटु विरोध का कारण बन जाते हैं। एक उत्तर क्रांतिकारियों द्वारा प्राय: दिया जाता है कि शक्ति का प्रयोग ***अवश्य*** होना चाहिए, रक्त ***अवश्य बहना*** चाहिए। इसलिए नहीं कि वे हिंसा का प्रयोग पसन्द करते हैं अपितु इसलिए कि शासक वर्ग इसके बिना अपनी स्थिति छोड़ेगा नहीं। यह तर्क प्रबल है। मार्क्स अगर 1932 में जीवित होते तो उन्होंने इसके समर्थन में सम्भवत: ***न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यन*** को निम्न समाचार भेजा होता:

---

[1]*Wealth of Nations*, vol. II, p. 143.
[2]Woodrow Wilson, *The New Freedom*, pp. 57, 189, 190. Doubleday, Page and Co., N.Y., 1913.

बल्गारिया साम्राज्य की राजधानी साम्यवादियों के हाथों में
सोफिया में कम्युनिस्टों को अधिकतम मतों की प्राप्ति
नगर परिषद् अल्पकालिक होगी

सोफिया, बल्गारिया, 26 सितम्बर–कल के नगरपालिका के चुनावों में कम्युनिस्टों की भारी विजय वहां सर्वत्र आश्चर्य और घबराहट का कारण बन गई।

सोफिया की नगर-परिषद की पैंतीस सीटों में से संयुक्त सरकारी दल और प्रजातन्त्रवादियों की दस और जेन्कोफ पार्टी की तीन सीटों के विरुद्ध कम्युनिस्टों को बाईस सीटों पर विजय प्राप्त हुई। 1931 में संसद् के चुनावों से कम्युनिस्टों के मतों की संख्या दुगुनी हो गई है, जबकि सरकारी दल के समर्थकों की संख्या पहले से आधी रह गई है।

सोफिया रूस से बाहर पहला यूरोपीय नगर है जो कम्युनिस्टों के पास आया है और यह विरोध और भी विशिष्ट हो जाता है, जब हम देखते हैं कि बल्गारिया एक राजतन्त्र है और राजा बोरिस का आवास, नगर-सभा-भवन से केवल कुछ मिनटों के अन्तर पर है।

इस कारण और अन्य कई कारणों से एक कम्युनिस्ट नगर प्रशासन सहन नहीं किया जा सकेगा। ज्योंही चुनाव-परिणाम ज्ञात हुए, प्रधान मंत्री निकोलस मुशनौफ ने नगर-परिषद की बैठक होने से पूर्व ही इसे भंग करने के अपने इरादे की घोषणा कर दी। यह भी सम्भावना है कि कम्युनिस्ट पार्टी अवैधानिक और निषिद्ध घोषित कर दी जाए।

कम्युनिस्टों की विजय का कारण गिरी हुई आर्थिक व्यवस्था थी जिसके कारण अनेक ऐसे लोगों ने भी विरोध व्यक्त करने के लिए कम्युनिस्टों को मत दिए जिनका बोल्शेविक विचारधारा के साथ कोई सम्बन्ध न था।"[1]

इस रूढ़िवादी रिपब्लिकन समाचार-पत्र के अनुसार कम्युनिस्टों ने विजय प्राप्त की। तथापि उनका कार्यभार ग्रहण करने का अधिकार अस्वीकार कर दिया गया। यहां तक कि भविष्य के लिए अस्तित्व का अधिकार ही अस्वीकार कर

[1]*New York Herald Tribune,* Sept. 27. 1932 (my italics).

दिया गया। इस समाचार-पत्र के संवाददाता के मस्तिष्क में उस समय क्या रहा होगा, जब उसने लिखा "इस कारण और ***अन्य कई कारणों से***"? वस्तुतः इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि कम्युनिस्टों की विजय का अर्थ था शासक वर्ग की निजी सम्पत्ति को चेतावनी।

मार्क्स और एंगेल्स ने श्रमिक वर्ग को सम्भावित घटनाओं के लिए तैयार करने का प्रयत्न किया। तैयार रहने के लिए श्रमिकों में वर्ग-चेतना का होना वर्ग के रूप में संगठित होना और इतिहास के विकास में अपने योगदान को समझना आवश्यक होगा। उन्हें अपने स्वत्वहर्ताओं के स्वत्वहरण, निजी सम्पत्ति के और इसके साथ वर्गों और वर्ग-सत्ता के उन्मूलन लिए तैयार रहना होगा।

मार्क्स और एंगेल्स ने अनुभव किया कि पूंजीवाद का विनाश निकट था। अगर श्रमिक तैयार न होंगे तो उस विनाश का अर्थ होगा विप्लव। अगर श्रमिक तैयार होंगे तो इसका अर्थ होगा समाजवाद। "तब पहली बार एक निश्चित अर्थ में मनुष्य अन्ततः अस्तित्व की पशु-अवस्था मात्र से वास्तविक मनुष्य की अवस्था में प्रवेश करता है.... केवल उसी युग से मनुष्य स्वयं अधिकाधिक चेतना-सम्पन्न होकर स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करेगा—केवल उसी युग से निरन्तर और मुख्यतः उन्नतिशील रूप में उसके द्वारा गतिशील सामाजिक उद्देश्य उसके इच्छित परिणाम ला सकेंगे। यह मनुष्य का आवश्यकता के राज्य से स्वतंत्रता के राज्य में उत्कर्ष है।"[1]

---

[1] *Socialism, Utopian and Scientific, op. cit.*, pp. 134, 135.

19. ''यदि सम्भव होता तो मैं नक्षत्रों पर भी अधिकार कर लेता...''

निस्संदेह ये सब बातें भयावह थीं।

औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भ में क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों द्वारा मूल्य के श्रम सिद्धान्त की जिस रूप में व्याख्या की गई थी, उससे एक उपयोगी कार्य सिद्ध हुआ। बुर्जुआ वर्ग ने जो कि तत्कालीन प्रगतिशील वर्ग था, उसका प्रयोग अप्रगतिशील किन्तु राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली सामंतवर्ग के विरुद्ध किया जिसे बिना कार्य किये अन्य लोगों के श्रम के फल का उपभोग करने वाला दिखाया गया। रिकार्डो के हाथों में, जिसने इसका प्रयोग भूमि-शुल्क सिद्धांत के साथ करके सामंतीय वर्ग पर आघात किया, मूल्य का श्रम सिद्धान्त अनुकूल था।

किन्तु मार्क्स के हाथों में निश्चय ही यह सिद्धान्त अनुकूल नहीं था। मार्क्स ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त को स्वीकार किया था और अपने मतानुसार इसे चरम परिणति तक पहुंचा दिया था। बुर्जुआ वर्ग की दृष्टि से यह परिणाम विनाशक था। क्योंकि अब नक्शा ही बदल गया था। शत्रु के विरुद्ध *उनके* हाथों में जो *उनका* हथियार था, सर्वहारा वर्ग उस हथियार को *उन्हीं* के विरुद्ध प्रयोग में लाने लगा था।

तथापि मुक्ति सन्निकट थी। *कैपिटल* के प्रकाशित होने के कुछ वर्ष पश्चात् अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के नितांत नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। तीन भिन्न-भिन्न देशों के तीन अर्थशास्त्रियों-इंग्लैंड में स्टेनले जेवोन्स (1871), आस्ट्रिया में कार्ल मेजर (1871) और स्विटजरलैण्ड में लीअन वालरस (1874) ने स्वतंत्र रूप से काम करते हुए इस सिद्धान्त पर अल्पाधिक एक ही समय पर आघात किया। क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों तथा मार्क्स और एंगेल्स की भांति उनके भी कई अनुयायी बन गये, जिन्होंने उनके मत का व्याख्यान और

प्रतिपादन किया। तदुपरान्त संशोधन, पुनरीक्षण और परिवर्द्धन किये गये। तथापि उनके सिद्धान्त का मूल विचार आज भी पुरातन अर्थशास्त्र का केन्द्राधार है।

इन अर्थशास्त्रियों द्वारा मूल्य की जो व्याख्या की गई है वह सीमांत उपयोगिता सिद्धान्त के रूप में विख्यात है। राजनीतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के दूसरे पृष्ठ पर जेवोन्स ने अपने नये सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार किया है। "अत्यधिक विचार और अन्वेषण के उपरान्त मैं इस मौलिक निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि मूल्य पूर्णतः उपयोगिता पर निर्भर करता है।"[1]

उपयोगिता वस्तुतः लाभदायिता का पर्याय है तथा उस व्यक्ति की भावना को प्रकट करता है जो उस वस्तु को खरीदने जा रहा है। यदि उसे उस वस्तु की अत्यधिक आवश्यकता है तो उसके लिए उसकी उपयोगिता बहुत अधिक है। उसकी जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी ही अधिक उसकी उपयोगिता है। जितनी ही कम आवश्यकता है उतनी ही कम उपयोगिता है। उपयोगिता के अनुसार ही वह उसका मूल्य निश्चित करेगा। अतः उसकी कीमत इसी पर निर्भर करती है।

देखा जा सकता है कि उक्त सिद्धान्त क्लासिकीय मत और मार्क्स के सिद्धान्त से भी कितना भिन्न था। उनके अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगे हुए श्रम पर निर्भर करता था। तथापि जेवोन्स ने कहा, "एक बार जो श्रम लग जाता है, उसका वस्तु के भावी मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता"। इससे आर्थिक महत्व उत्पादन से हट कर उपयोग में और लागत-विभाग से हट कर विक्रय-स्थल में आ गया। यह सिद्धान्त अपेक्षाकृत दुरूह है, क्योंकि किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह अनुमान लगाना सरल है कि उसमें कितना श्रम व्यय हुआ, किन्तु उसकी उपयोगिता का अनुमान लगा सकना उतना सरल नहीं है। वस्तुतः श्रम की लागत की माप की जा सकती है, अर्थात यह एक वस्तुगत मानदण्ड है। किन्तु उपयोगिता व्यक्ति विशेष की दृष्टि से बदलती रहती है। और वह संतोष की उस मात्रा पर निर्भर करती है जो उसे उस वस्तु के क्रय करने के उपरान्त उससे प्राप्त होता है, अर्थात यह ***व्यक्तिगत*** मानदण्ड है।

यह समझना सरल है कि विभिन्न व्यक्तियों की एक ही वस्तु से प्राप्त

---

[1]W.S. Jevons, *Theory of Political Economy*, p. 2. Macmillan & Company, Ltd., London, 1871.

होने वाली संतोष की मात्रा भिन्न होती है। दूसरे शब्दों में विभिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही वस्तु की उपयोगिता भिन्न-भिन्न रहती है। तथापि वह वस्तु एक ही कीमत पर बिकती है। अर्थात उसका मूल्य एक-सा रहता है। (अधिकांश अर्थशास्त्रियों के लिए कीमत रुपयों के रूप में किसी वस्तु के मूल्य को कहते हैं, तथापि मार्क्स इस सिद्धान्त से सहमत नहीं थे।) यदि मूल्य उपयोगिता पर निर्भर करता है तो विभिन्न उपयोगितायें एक ही कीमत में किस प्रकार बिक सकती हैं? यहां पर "सीमांत" शब्द का उपयोग किया जाता है। इसे समझ लेना अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि आप अर्थशास्त्र की किसी आधुनिक पाठ्य पुस्तक को पढ़ेंगे तो उसमें "सीमांत उपयोगिता", "सीमांत उत्पादकता" तथा "सीमांत लागत" इत्यादि का सैकड़ों स्थानों पर उल्लेख मिलेगा।

मान लीजिए किसी कारण से बाजार में केवल 100,000 मोटर कारें हैं। कुछ सम्भावित ग्राहक इतने धनी हो सकते हैं तथा उनकी आवश्यकता इतनी अधिक हो सकती है कि वे उसके लिए कुछ भी कीमत देने को तैयार हों। कुछ अन्य ग्राहक ऐसे हो सकते हैं जिन्हें कार खरीदने की इच्छा तो हो किन्तु वे इतने धनी न हों अथवा वे यह सोचते हों कि कार बहुत खर्चीली होगी, इसलिए इस धन का किसी अन्य कार्य में उपयोग करना अधिक अच्छा होगा। इसके पश्चात् वे लोग होंगे जो कार के लिए उचित रकम देने को तैयार हों, तथापि वे इसे सावधानी से व्यय करेंगे क्योंकि उनके पास इतना पैसा नहीं हैं वे अपने सीमित धन को कई अन्य प्रकार से व्यय कर सकते हैं जिससे कि उन्हें लगभग कार के समान ही संतोष प्राप्त हो जायेगा। यदि कार की लागत उस वस्तु से अधिक हो जिससे कि उन्हें लगभग उतना ही संतोष प्राप्त हो तो वे कार नहीं खरीदेंगे। "हम केवल उतनी ही चाय या कोई अन्य वस्तु खरीदते हैं जो हमारे द्वारा व्यय किये गये धन के सममूल्य की होती है। तदनंतर हम नहीं खरीदते हैं और यदि कीमत कम है तो हम अधिक खरीदते हैं। इसका कारण वह उपयोगिता है जिसका जेवोन्स ने उल्लेख किया है। अत: हमारी खरीद की उपयोगिता मूल्य के अनुसार होती है....।"[1] यह बात यहां तक चलती है जब तक कि दोनों पहलुओं में संतुलन नहीं हो जाता है। कहीं पर वह एक लाखवां ग्राहक भी होगा

[1]E. Cannan, *op. cit.*, p. 201.

जो वह कीमत देने को तैयार है जिस पर कार निर्माता अपनी कार बेचने को तत्पर है। कुछ ग्राहक इससे अधिक भी दे सकते हैं और हजारों व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं जो कीमत कम होने पर कार खरीद लेंगे। किन्तु कारों की संख्या 100,000 है और यदि निर्माता उन सबको बेचना चाहता है तो वह उन्हें उस कीमत पर बेचेगा जो उस एक लाखवें ग्राहक की रुचि एवं क्षमता के अनुकूल होगी। यदि वह कम कारें बेचना चाहे तो उसे इससे अधिक कीमत मिल सकती हैं। कम कीमत पर वह इससे अधिक कारें बेच सकता है। किन्तु यदि उसके पास केवल 100,000 कारें बेचने के लिए हैं और वह सभी कारें बेचना चाहता है तो उसे उस व्यक्ति की क्षमता का ध्यान रखना होगा जो केवल उसे खरीद भर सकता है। यदि उसे यह ज्ञात होता है कि 100,000 ग्राहक उसे अपेक्षित मूल्य देने को तैयार नहीं हैं तो या तो वह कुछ कारों को बाजार से हटा लेगा और कम कारें बेचेगा अथवा यदि वह सभी कारों को बेचना चाहता है तो उसे अपेक्षाकृत कम रकम और भिन्न रुचि वाले लोगों को सुलभ बनाने हेतु उनका मूल्य घटाना होगा। स्वतन्त्र बाजार में वह एक ही कार को विभिन्न व्यक्तियों को अलग-अलग मूल्य पर नहीं बेच सकता है।

निस्संदेह वह एक लाखवां या सीमांत ग्राहक कोई विशेष ग्राहक नहीं है। वह उन एक लाख व्यक्तियों में से कोई भी हो सकता है जैसे उसके द्वारा खरीदी जाने वाली कार एक लाख में से कोई भी हो सकती है। बाजार के संचालन और कीमतों के निर्धारण की सैद्धान्तिक व्याख्या के रूप में यह व्यक्ति सीमांत मांग को प्रकट करता है। यदि कीमत अधिक होगी तो वह कोई अन्य वस्तु खरीद लेगा जिससे उसे अपेक्षाकृत अधिक संतोष प्राप्त होगा। कीमत कम होने पर खरीददार अधिक हो जायेंगे और संभरण अपेक्षाकृत बहुत कम होगा। निर्माता अपनी वस्तु की कीमत इस प्रकार निश्चित करेगा जिससे कि वे लोग जो केवल कम कीमत देकर खरीदना चाहते हैं, न खरीद सकें।

अब इसका दूसरा पहलू देखिये और मांग की दृष्टि से उसकी व्याख्या कीजिए। मान लीजिए कि 1,000 व्यक्ति एक रेफ्रिजरेटर के लिए 1,000 डालर देने को तैयार हैं। 1,000 अन्य व्यक्ति उसके लिए 750 डालर देने को तैयार हैं। अर्थात् 2,000 व्यक्ति 750 डालर देने को तैयार हैं। इसी प्रकार घटते-घटते हम वहां तक पहुंच सकते हैं (अर्थात वे व्यक्ति जो क्रमशः कम देने की क्षमता

रखते हैं) जहां 5,000,000 व्यक्ति कम से कम 50 डालर देने की क्षमता रखते हैं। प्रश्न यह है कि उनमें से कितने व्यक्ति रेफ्रिजरेटर खरीदेंगे और उसकी कीमत क्या होगी? (इस उदाहरण को अधिक सरल बनाने के लिए हम यह कल्पना करेंगे कि बाजार में केवल एक ही किस्म का रेफ्रिजरेटर है।) यह इस बात पर निर्भर करेगा कि क्या निर्माता इस कीमत पर 5,000,000 रेफ्रिजेरटरों का निर्माण करना उचित समझता है। यदि बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के उपरान्त भी उसको रेफ्रिजरेटर की कीमत 50 डालर से अधिक पड़ती है तो वह ऐसा नहीं करेगा, अथवा यदि उसे इसमें लगने वाले श्रम की तुलना, में अत्यल्प लाभ प्राप्त होगा तो वह अपनी पूंजी किसी अन्य क्षेत्र में विनियोजित करेगा, जहां से उसे अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त हो। 5,000,000 रेफ्रिजरेटरों का उत्पादन ही नहीं किया जायेगा। निर्माता अपनी पूंजी का ठीक उसी प्रकार सीमांत उपयोग करता है जिस प्रकार उपभोक्ता। यदि निर्माता को किसी अन्य क्षेत्र में पूंजी लगाने से अधिक लाभ प्राप्त हो तो वह रेफ्रिजरेटरों में पूंजी लगायेगा ही नहीं। वह केवल उतनी ही पूंजी रेफ्रिजरेटरों के निर्माण में लगायेगा जितनी उसके हितों के अनुकूल होगी—यदि वह उससे कम पूंजी लगाता है तो वह एक अच्छे अवसर से हाथ धोता है। (यह क्षेत्र शीघ्र ही उन लोगों से और अधिक पूंजी आकृष्ट कर लेगा जो लाभ कमाना चाहते हैं।) यदि वह अधिक रकम लगायेगा तो "उद्योग अतिपूंजीकृत" हो जायेगा और उससे लाभांश प्राप्त नहीं हो सकेगा। वह समझता है कि 3,000,000 व्यक्ति एक रेफ्रिजरेटर के लिए 150 डालर दे सकते हैं। इससे उसे उचित लाभ की मात्रा भी प्राप्त हो जाती है। वह किसी अन्य क्षेत्र में पूंजी लगाकर इससे अधिक लाभ नहीं प्राप्त कर सकता है। और अधिक उत्पादन से कीमतों में गिरावट होगी। फलत: लाभ कम प्राप्त होगा। परिणामस्वरूप उस उद्योग में पूंजी नहीं लगायी जायेगी।

निस्संदेह यह सभी बातें बहुत जटिल हैं। तथापि "सीमांत उपयोगिता" में अन्तर्हित सिद्धान्त अत्यन्त सरल है। उसे आप अपने दैनिक जीवन में सर्वत्र प्रतिफलित होते हुए देख सकते हैं। किसी वस्तु से प्राप्त होने वाली संतोष की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि पहले से ही यह वस्तु आपके पास कितनी है। जितनी ही अधिक वह वस्तु आपके पास होगी, उतना ही कम संतोष आपको उसकी और अधिक मात्रा के प्राप्त होने से होगा। मान लीजिए बालकों की एक

बेस-बॉल टीम खेल आरम्भ करने को तत्पर है। तथापि उनके पास कोई बैट नहीं है। यदि उन्हें एक बैट प्राप्त करने का अवसर मिलेगा तो क्या वे उसके लिए कोई भी कीमत देने से चूकेंगे? कदापि नहीं। कल्पना कीजिए कि खेल आरम्भ करने के लिए, पहले से ही चार बैट उनके पास है और उन्हें पांचवां प्राप्त करने का अवसर मिलता है। तो क्या वे उसी उत्सुकता से उसकी कीमत चुकायेंगे? कदापि नहीं उनके लिए बैटों की सीमांत उपयोगिता इतनी गिर गयी है कि वे पांचवां बैट खरीदने की प्रतीक्षा ही नहीं करेंगे।

जितनी ही अधिक कोई वस्तु आपके पास होती है उतनी ही कम आपको उस वस्तु की और अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। यदि आपके पास 10 सूट हैं तो एक अन्य सूट का आपके लिए उतना अधिक महत्व नहीं है जितना उस व्यक्ति के लिए जिसके पास केवल एक ही सूट है। जेवोन्स इसे स्पष्ट करने के लिए पानी का उदाहरण लेता है: "पानी को सामान्यत: सर्वाधिक उपयोगी वस्तु कहा जा सकता है। प्रतिदिन एक पाव जल की उपयोगिता, किसी व्यक्ति को अत्यधिक कष्टकारक मृत्यु से बचाने के लिए बहुत अधिक है। भोजन बनाने और कपड़े धोने के प्रयोजन के लिए प्रतिदिन कई गैलन जल की भारी उपयोगिता है। तथापि इन कार्यों के लिए जल की उपयुक्त मात्रा उपलब्ध हो जाने पर जल की अतिरिक्त मात्रा केवल उपेक्षा का विषय बन जाती है। हम केवल यह कह सकते हैं कि एक सीमा तक जल अनिवार्य है। अतिरिक्त मात्रा की उपयोगिता भिन्न कार्यों के लिए भिन्न हो सकती है। तथापि एक सीमा से अधिक होने पर यह उपयोगिता समाप्त हो जाती है....। एक ही वस्तु की उपयोगिता इस बात से बढ़ती-घटती रहती है कि उस वस्तु की कितनी मात्रा हमारे पास पहले से ही विद्यमान है।"[1]

सीमांत उपयोगिता के सिद्धान्त का उपयोग रोटियों और हीरों की कीमतों में अन्तर समझाने के लिए किया जाता है। प्रथम दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि रोटी की कीमत हीरे से अधिक होनी चाहिए क्योंकि रोटी की उपयोगिता अधिक है। तथापि रोटी का संभरण इतना अधिक है कि एक या दो अधिक रोटियों से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। किन्तु धनी व्यक्तियों की संख्या की तुलना में, जो हीरों के लिए कोई भी कीमत देने के लिए इच्छुक हो सकते हैं, हीरों

[1]Jevons, *op. cit.*, p. 52.

की मात्रा इतनी कम है कि उनकी कीमतें बहुत ऊंची हैं।

यह तर्क कि उपयोगिता में वृद्धि के साथ मूल्य-वृद्धि नहीं होती वरना लोहे की कीमत सोने की अपेक्षा अधिक हो जाती, वस्तु की ***सम्पूर्ण मात्रा*** के महत्व को वस्तु की ***पृथक इकाई*** से, जो कि मूल्य की सामान्य माप है, संतुलित करता है। कोई उपयोगी वस्तु जिन प्रयोजनों की पूर्ति करती है उनको समग्र रूप में ही देखा जाता है..... । केर्नेस ने कहा है कि स्वर्ण की अपेक्षा लोहा विश्व के लिए अधिक उपयोगी है। अर्थात विश्व से ***तमाम*** सोना हटा लेने की अपेक्षा ***तमाम*** लोहा हटा लेने से अधिक हानि होने की संभावना है। यदि हम संचित मात्रा में उनकी उपयोगिता लेते हैं तो हमें उनकी कीमतों को भी उसी रूप में लेना होगा। ऐसा करने पर उपयोगिता और मूल्य के बीच का विरोधाभास दूर हो जाता है। यदि विश्व को समस्त उपलब्ध लोहा अथवा उपलब्ध सोना खरीदना पड़े तो लोहे के लिए सोने की अपेक्षा वह अधिक कीमत देने को तैयार हो जायेगा। अर्थात (समस्त) सोने की अपेक्षा (समस्त) लोहे का मूल्य अधिक होगा।

"सम्पूर्ण वस्तु और उसकी एक इकाई के क्रय अथवा विक्रय के बीच. .. भ्रांति... एक हीरे और कोयले की तुलना में सर्वाधिक स्पष्ट है। सजातीय वस्तु की तुलना सजातीय वस्तुओं से की जानी चाहिए। सम्पूर्ण कोयला सम्पूर्ण हीरों से कहीं अधिक उपयोगी ही नहीं, अधिक मूल्यवान भी है।"[1]

तथपि अर्थशास्त्रियों ने जो कुछ भी कहा–इस प्रश्न तथा अन्य प्रश्नों पर उनके विवादों की गणना नहीं की जा सकती–तथा भले ही कुछ समय के लिए किसी भी सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हो, पूंजीपति स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि कारण कुछ भी हो यदि वे किसी वस्तु के सम्भरण पर नियन्त्रण रख सकते हैं तो वे उस वस्तु की कीमत पर भी नियन्त्रण रख सकते हैं। किसी वस्तु का मूल्य इसलिए गिर सकता है कि उसके उत्पादन में कम समय लगा है अथवा क्योंकि उसकी मात्रा में वृद्धि हो गई है और तद्नुसार उसकी सीमान्त उपयोगिता कम हो गई है तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि संभरण के अभिसाधनों में कीमतों के निर्धारण की शक्ति विद्यमान है। और कीमतों के निर्धारण की शक्ति लाभ को प्रभावित करती है।

[1]Cannan. *Review of Economic Theory*, pp. 203-204.

यदि 10 डालर प्रति इकाई के हिसाब से 5,000 वस्तुओं का उत्पादन किया जाए और उन्हें 11 डालर प्रति इकाई के हिसाब से बेचा जाए तो कुल लाभ 5,000 डालर या विनियोजित पूंजी का 10 प्रतिशत होगा। यदि केवल 4,000 का उत्पादन किया जाए तो प्रति इकाई उत्पादन लागत 10.50 डालर हो जाएगी। किन्तु कीमत 12.50 डालर तक बढ़ाई जा सकती है। इससे लाभ की कुल मात्रा 8,000 डालर या 19 प्रतिशत हो सकती है। अत: कम्पनी इनके संभरण की इस प्रकार व्यवस्था करेगी कि उसे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सके। वह व्यापक मांग की पूर्ति के लिए तब तक प्रयत्न नहीं करेगी जब तक ऐसा करने में उन्हें अधिक लाभ प्राप्त न हो। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से यह संभव है कि 7 डालर प्रति इकाई के हिसाब से 100,000 इकाइयों का उत्पादन हो सके और बाजार में 8 डालर प्रति इकाई के हिसाब से उनकी खपत हो सके। तथापि इससे उनके लाभ की मात्रा केवल 14 प्रतिशत होगी।

आपको ज्ञात है कि सोलहवीं शताब्दी में डच व्यापारियों ने मसालों की कीमतें ऊंची रखने के लिए उनका उत्पादन कम कर दिया था। यद्यपि इस प्रकार के पुराने एकाधिकार समाप्त कर दिये गये हैं तथापि हम यह देखेंगे कि आधुनिक संसार में जब कभी वस्तुओं के उत्पादन में इतनी वृद्धि हुई कि कीमतों के अत्यधिक गिरने का खतरा पैदा हो गया, किस प्रकार नये और अधिक शक्तिशाली एकाधिकार उत्पन्न हुए।

औद्योगिक क्रांति में इंग्लैंड का जो शीर्ष स्थान था, उसका उसने पूरा लाभ उठाया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धांश में इंग्लैंड के लिए समस्या यह नहीं थी कि वह उत्पादित सामान को कहां बेचे अपितु उनके लिए विश्व के समस्त देशों से आने वाली मांग की पूर्ति के लिए माल के गतिशील उत्पादन की समस्या थी। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इंग्लैंड द्वारा प्रतिपादित स्वतंत्र व्यापार नीति को अमरीका में कभी 'मान्यता प्राप्त' नहीं हुई थी, जहां आपको स्मरण होगा, आरंभ से ही संरक्षक सीमा-शुल्क की व्यवस्था थी। गृह-युद्ध के पश्चात् अमरीका में सीमा-शुल्क का नियन्त्रण और भी अधिक कर दिया गया था। रूस में भी 1877 से, जर्मनी में 1879 में और फ्रांस में 1881 से सामान्य सीमा-शुल्क व्यवस्था लागू कर दी गई। परिणामस्वरूप अंग्रेज निर्माताओं के लिए खुला क्षेत्र नहीं रहा। उनके उत्पादनों

को सीमा-शुल्क की सीमाएं पार करने में कठिनाई होने लगी। इंग्लैंड के ग्राहकों को उसके माल की आवश्यकता नहीं रही। वे स्वयं निर्माण करने लगे थे। वे स्वावलंबी हो गए थे। सीमा शुल्क प्राचीरों के भीतर ''शिशु'' उद्योगों का द्रुत वेग से ''विकास'' होने लगा।

आलंकारिक रूप से नहीं, अपितु शब्दश: 1870 के पश्चात का युग अमरीका में ''ट्रस्टों'' और जर्मनी में ''मूल्य संघों'' का युग है। प्रतिद्वन्द्विता का स्थान एकाधिकार ने ग्रहण कर लिया। बड़े व्यापारियों ने छोटे प्रतिस्पर्द्धियों को हटा दिया। छोटी कम्पनियां या तो बड़ी कम्पनियों की स्पर्द्धा में समाप्त हो गईं अथवा उनमें विलीन होकर और अधिक बड़ी कम्पनियां बन गईं। हर कहीं विकास, विलय और केन्द्रीकरण हुआ–विशाल उद्योगों का विकास हुआ और वे एकाधिकारिता की ओर बढ़ने लगे।

एकाधिकारिता द्वारा प्रतिद्वन्द्विता का स्थान ग्रहण किसी बाह्य शक्ति के कारण नहीं हुआ। अपितु यह प्रतिद्वन्द्विता का ही विकसित रूप है। एकाधिकारिता प्रतिद्वन्द्विता से पैदा हुई। इससे यह सत्य प्रमाणित होता है कि प्रत्येक पद्धति, अथवा घटना के भीतर ही उसके कायाकल्प की संभावना विद्यमान रहती है।

एकाधिकारिता बाह्य आक्रमक जैसी कोई चीज नहीं थी जिसने प्रतिद्वन्द्विता को पराजित कर दिया हो। यह प्रतिद्वन्द्विता का स्वाभाविक विकास मात्र था।

अमरीकी गृह-युद्ध के पश्चात संचार और परिवहन के साधनों में जो क्रांति हुई, उसकी कहानी से आप परिचित हैं। अच्छे और अधिक रेल-मार्गों का निर्माण हुआ। नदियों और समुद्रों पर बड़े-बड़े जहाज तैरने लगे। तार की सुविधा का विकास किया गया तथा उसका प्रयोग अधिक लोकप्रिय हो गया। परिवहन तथा संचार के नियमित, द्रुत और सस्ते साधनों के द्वारा उत्पादन के आवश्यक साधनों को एक स्थान में एकत्र और केन्द्रित करना संभव और साध्य हो गया। टेक्नालाजी में अप्रत्याशित विकास तथा अच्छी मशीनों के नये-नये पेटेण्टों के साथ विशाल पैमाने पर उत्पादन तथा श्रम-विभाजन संभव हो गया। विशाल पैमाने पर उत्पादन के लिए समय पूर्णत: अनुकूल हो चुका था। साथ ही इसके परिणामस्वरूप प्रति इकाई लागत में कमी के साथ उत्पादन में वृद्धि हो रही थी। अन्तत: समवाय संघों के लिए संघर्ष के क्षेत्र में प्रवेश कर विजय प्राप्त करना संभव हो गया था।

जो कुछ भी संभव था, कर लिया गया था।

व्यापार एक संघर्ष है। किसी भी व्यापारी से पूछिए। एक कहावत है कि संघर्ष की क्रीड़ा में "एक अच्छा बड़ा व्यक्ति एक अच्छे छोटे व्यक्ति को हड़प जाता है"। वाणिज्य क्षेत्र में यह कहावत सत्य प्रमाणित होती है। दो कम्पनियां किसी एक व्यापारिक क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता कर रही हैं। एक कम्पनी अपने माल की कीमत घटा कर दूसरे पर आघात करती है। दूसरी कम्पनी अपने माल की कीमत और अधिक गिरा देती है। यह क्रम चलता रहता है। एक कम्पनी दूसरी कम्पनी पर इस प्रकार घात-प्रतिघात करती रहती है और फल यह होता है कि कीमतें उत्पादन की लागत से भी नीचे गिर जाती हैं। विजय किसकी होगी? स्पष्ट है कि जो फर्म न्यूनतम लागत में उत्पादन करती है वह लाभ में रहेगी। यह भी स्पष्ट है कि जितने ही बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाएगा उतनी ही उत्पादन की लागत कम होगी। तात्पर्य यह है कि बड़े व्यापारी को प्राथमिक लाभ प्राप्त है। तथापि महत्वपूर्ण बात यह है कि संघर्ष में जमे रहा जाये। और इस संघर्ष में जमे रहने की शक्ति की माप है सुरक्षित पूंजी जिस पर यह निर्भर है कि आप कितने समय तक जमे रह सकते हैं। बड़ी पूंजी वाली फर्म ही सुदृढ़ है। कीमतों के गिरने से यद्यपि उस पर आघात होता है तथापि छोटे व्यापारी पर यह एक ऐसा आघात है कि वह शीघ्र ही मैदान छोड़ कर भाग खड़ा होता है। मार्क्स जिन्होंने सम्भवतः कोई दंगल या अखाड़ा न देखा होगा, व्यापार बनाम व्यापार के झगड़े के स्थायी दर्शक थे। वह इसका विवरण इन शब्दों में देते हैं: "प्रतिद्वन्द्विता का युद्ध वस्तुओं को सस्ता करके लड़ा जाता है। किसी वस्तु का सस्ता होना... श्रम की उत्पादकता पर, और यह पुनः उत्पादन के पैमाने पर.. निर्भर करता है। अतः बड़ी पूंजी छोटी पूंजी को पछाड़ देती है.... प्रतिद्वन्द्विता में. .. कई छोटे पूंजीपति नष्ट हो जाते हैं और उनकी पूंजी अंशतः उनके विजेताओं के हाथों में चली जाती है और अंशतः नष्ट हो जाती है।"[1]

अंतिम वाक्य से यह स्पष्ट है कि सामान्य दंगल और व्यापार बनाम व्यापार के दंगल में अंतर है। पहले प्रकार के दंगल में पराजित व्यक्ति को पछाड़ दिया जाता है और विजयी नये और बड़े प्रतिद्वन्द्वियों की खोज में मैदान खाली कर देता है। दूसरे प्रकार के दंगल में भी विजयी यही काम करता है किन्तु

[1]*Capital,* vol. 1, pp. 640, 641.

अधिकांशतः वह मैदान छोड़ने से पहले अंशतः नरभक्षी का काम करता है। वह पराजित व्यक्ति को हड़प जाता है और अपने भावी प्रतिद्वन्द्वियों के लिए पहले से भी अधिक अपराजेय बन कर खड़ा हो जाता है।

वह जितना ही शक्तिशाली बनता जाता है उतना ही उसे पराजित करना कठिन होता जाता है। अन्य प्रतिद्वन्द्वी उससे टकराकर चूर हो जाते हैं। वह बड़ा व्यापारी चैम्पियन बन जाता है। कम से कम कुछ समय के लिए कोई उसका सामना नहीं कर सकता है।

स्वतंत्र प्रतिद्वन्द्विता ने ट्रस्टों को जन्म दिया। व्यापार का दंगल कभी-कभी न्यायोचित होता था। अधिकांशतः यह दंगल अन्यायपूर्ण होता था। (जो व्यापारी संसार अन्याय के आघात पर आघात सहने का आदी हो चुका था, उसकी दृष्टि से भी ये दंगल अन्यायपूर्ण होते थे।) परन्तु न्यायोचित हो अथवा अन्यायपूर्ण, संघर्ष अत्यन्त तीव्र था। जिस व्यापारी का चलता हुआ व्यापार ठप्प हो जाए, वह प्रायः पूर्णतः नष्ट हो जाता था। उसमें पुनः उठ खड़े होने की शक्ति नहीं रहती थी। वह कभी पागल हो जाता था और कभी-कभी आत्महत्या भी कर लेता था। तथापि इस विषय के एक विशेषज्ञ, विश्व के विशालतम ट्रस्ट निर्माता के पुत्र जान डी. रॉकफेलर, जूनियर के मतानुसार इस संघर्ष का परिणाम उचित ही होता है। ट्रस्ट विषय पर ब्राउन विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सम्मुख एक भाषण देते हुए उन्होंने कहा: "अमेरिकन-ब्यूटी गुलाब अपने पूर्ण सौन्दर्य और सुगन्ध में तभी प्रस्फुटित होता है जबकि उसके चारों ओर अंकुरित होने वाली पहली कलियों को नोच लिया जाए।"[1]

ट्रस्ट क्षेत्र में प्रथम "अमेरिकन-ब्यूटी" तेल के रूप में प्रकट हुआ। 1904 तक स्टैंडर्ड आयल कम्पनी ने देश के अस्सी प्रतिशत शोधित तेल पर आधिपत्य स्थापित कर लिया था। यह बात इस्पात, चीनी, व्हिस्की, कोयला तथा अन्य वस्तुओं पर भी लागू हुई। इन ट्रस्टों ने प्रतिद्वन्द्विता की अराजकता को हटा कर एकाधिकारिता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

ये ट्रस्ट विशाल थे, कुशल थे और शक्तिशाली थे। अतः वे उत्पादन, विपणन और संचालन में मितव्ययता कर सकते थे। उन्होंने विनाशकारी

[1]Ida M. Tarbell, *The History of the Standard Oil Company*, 2 vols. The Macmillan Company, 1925.

प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने का भरसक प्रयत्न किया। उन्होंने वस्तुओं के उत्पादन में नियन्त्रण रखने का प्रयत्न किया जिससे वे उत्पादन की मात्रा और कीमतों के निर्धारण में समर्थ हो सकें। ट्रस्ट आन्दोलन के अभ्यासकों के अनुसार सामान्यत: उनका उद्देश्य अधिक लाभ कमाना रहता था। "ट्रस्ट किसी वस्तु के उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में एक ऐसा औद्योगिक संगठन है, जो उस वस्तु के संभरण पर पर्याप्त नियंत्रण रख सके, जिससे उसकी कीमतों को अपने लाभ को दृष्टि में रखते हुए घटाया-बढ़ाया जा सके।"[1]

ट्रस्ट "अपने हित की दृष्टि से कीमतों को घटा-बढ़ा सकते" थे। अन्य बड़े संगठन भी ऐसा करने में समर्थ थे। ट्रस्ट अमरीकी थे। एकाधिकारिता के अन्य रूप अमरीका तथा अन्य देशों में वाणिज्य पुंज, समवाय संघ, व्यापार संघ तथा मूल्य संघों के रूप में प्रकट हुए। जर्मनी में मूल्य संघ बहुत प्रचलित हुआ। "मूल्य-संघ (कार्टेल) का आशय व्यवसाय के किसी विशेष क्षेत्र में विभिन्न उपक्रमों के बीच संविदा समझौते के आधार पर निर्मित उस संघ से है जो अपनी वैध स्वतंत्रता बनाये रखते हुए, बाजार पर एकाधिकारिता को प्रभावित करने के लिए संगठित हो जाते हैं।"[2]

संक्षेप में इसका आशय यह है कि बड़े-बड़े उत्पादक कीमतें गिराकर, एक दूसरे का गला काटने की बजाय एक समवाय के रूप में संगठित बने रहते हैं तथा परस्पर प्रतिद्वन्द्विता नहीं करते हैं। वे बाजार तथा कीमतों के विभाजन में सहमत हो जाते हैं।

रूर कोयला मूल्य संघ के मामले से यह बात स्पष्ट हो जाती है। "एक केन्द्रीय बिक्री अभिषद् (सिण्डिकेट) या समवाय की स्थापना की गई।... उसके शेयर विभिन्न समवायों के पास थे। यह अभिषद् कोयले की बिक्री की एकमात्र अभिकर्ता थी। इसने विभिन्न कोयला कम्पनियों से आंकड़े एकत्र किये। उसने एक कार्यकारी समिति नियुक्त की जिसने एकरूप कीमत और भुगतान के लिए व्यवस्था की। खान-मालिकों ने अपना सारा कोयला और कोक इस अभिषद् को बेच दिया।... उसने समझौता भंग होने पर दण्ड निर्धारित किया तथा एक सामान्य

[1] J.W. Jenks, W.E. Clark, *The Trust Problem,* 5th ed., P. 29. Doubleday, Doran & Company, Inc., 1929.

[2] *The Encyclopaedia of Social Siences,* vol. 3, p. 234, article by R. Liefmann. The Macmillan Company, N.Y.

नीति लागू की। इसने एक आयोग नियुक्त कर प्रत्येक खान के उत्पादन की मात्रा निर्धारित की।... इसने न्यूनतम बिक्री मूल्य को निश्चित किया। ऐसे क्षेत्रों में जहां प्रतिद्वन्द्विता थी वहां वह उक्त कीमतों पर कोयला बेचता था किन्तु जिन क्षेत्रों में प्रतिद्वन्द्विता नहीं थी वहां वह उपलब्ध मांग और उत्पादन को ध्यान में रखकर कम और अधिक कीमत में बेच सकता था।"[1]

इंग्लैंड में भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने के उद्देश्य से प्रतिद्वन्द्वियों के बीच संघ निर्माण की प्रवृत्ति का विकास हुआ। ट्रस्ट समिति के सन्मुख विभिन्न साक्षियों को ही अपने विचार प्रकट करने दें: "इस संघ की स्थापना व्यवसाय को विनियमित करने और अनावश्यक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने हेतु की गई थी.....।"

"संघ का उद्देश्य कीमतों के विषय में एकमत होना था तथा इससे प्रतिद्वन्द्विता समाप्त करने में काफी सहायता मिली है जो संघ की स्थापना से पूर्व बहुत अधिक थी और जिसके फलस्वरूप अधिकांश फर्म या तो लाभ कमा ही नहीं पाती थीं अथवा बहुत कम लाभ पाती थीं। .....।"

"इस क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता इतनी अधिक थी... कि व्यवसाय से कोई कुछ भी नहीं कमा सकता था। निर्माता आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर रहे थे तथा उनका उद्देश्य केवल दूसरों का गला काटना था।"[2]

साक्षियों को सुनने के पश्चात समिति इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंची: "हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि वर्तमान समय (1919) में इंग्लैंड के प्रत्येक महत्वपूर्ण औद्योगिक क्षेत्र में व्यावसायिक संघ बनाने की प्रवृत्ति विद्यमान है जिनका उद्देश्य प्रतिद्वन्द्विता पर अंकुश रखना और कीमतों पर नियंत्रण रखना है।"[3]

अंतिम पंक्ति बहुत महत्वपूर्ण है–"प्रतिद्वन्द्विता पर अंकुश रखना और कीमतों पर नियंत्रण रखना।" यह बात क्लासिकीय अर्थशास्त्रियों के परम्परागत सिद्धान्त से बहुत हट गयी थी कि वस्तुओं के निर्माताओं और विक्रेताओं के बीच पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता कीमतों को उत्पादन की लागत तक ही सीमित रखेगी

[1]J. Morgan Rees, *Trusts in British Industry,* 1914-1921, p. 12. King & Son, London, 1923.
[2]*Ibid.*
[3]*Ibid.*, p.2

(इसमें लाभ की न्यायोचित दर भी शामिल रहेगी)। सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक व्यक्ति की अपने स्वार्थ की पूर्ति का यह परिणाम होगा कि वस्तु का संभरण उचित कीमत पर मांग के अनुसार होता रहेगा।

एकाधिकारिता के विकास के कारण मांग और पूर्ति में संतुलन नहीं हुआ—अपितु करवाया गया; कीमतों का निर्धारण स्वतंत्र बाजार की प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप नहीं हो सका—बाजार स्वतंत्र नहीं रहे; कीमतें निर्धारित कर ली गयीं।

औद्योगिक एकाधिकारिता के साथ-साथ एक अन्य महत्वपूर्ण एकाधिकारिता-बैंकिग एकाधिकारिता का विकास हुआ। मार्क्स को इस का आभास पहले ही हो चुका था। उन्होंने कहा था कि बड़े पैमाने पर "पूंजीवादी उत्पादन के फलस्वरूप एक नई शक्ति का पदार्पण होता है—वह है ऋण प्रणाली। प्रतिद्वन्द्विता के संघर्ष में यह केवल एक नया और शक्तिशाली अस्त्र मात्र नहीं है, अपितु अदृश्य रूप से यह समाज के बड़े और छोटे वर्गों का फालतू रुपया एक व्यक्ति अथवा संगठित पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित कर देता है। पूंजी के केन्द्रीकरण के निमित्त यह विशिष्ट साधन है।"[1]

उद्योग का संचालन मुख्यत: ऋण से होता है। अत: जिन वित्त-प्रबन्धकों के हाथों में ऋण प्रणाली का नियन्त्रण था, उनके हाथ शक्तिशाली हो गये। जब छोटे अथवा बड़े उद्योगपतियों को अपने व्यापार का विस्तार करने के निमित्त धन की आवश्यकता होती तो उन्हें बैंकर के पास जाकर झोली फैलानी पड़ती। धन की सर्वत्र आवश्यकता थी और राष्ट्र का धन बैंकरों की तिजोरियों अथवा ऐसे स्थानों में, जहां केवल उनकी ही पहुंच थी चला गया।

जितना ही अधिक धन बैंकर के पास होता वह उतना ही अधिक शक्तिशाली समझा जाता। प्रत्येक औद्योगिक देश में एक धन-ट्रस्ट का विकास हो गया। औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकारिता का युग बैंकिग के क्षेत्र में भी एकाधिकारिता का युग था। वुडरो विल्सन, जो कि उस समय न्यूजर्सी के गवर्नर थे, के शब्दों से प्रकट हो जाता है कि यह स्थिति 1911 तक कितनी सत्य हो चुकी थी। "इस देश में सबसे बड़ी एकाधिकारिता धन की है। जब तक यह विद्यमान है तब तक हमारी प्राचीन विभिन्नता और स्वतंत्रता तथा विकास के हेतु

[1]*Capital,* vol. I, p. 641.

व्यक्तिगत शक्ति के प्रयोग का प्रश्न ही व्यर्थ है। एक बड़े औद्योगिक राष्ट्र का नियंत्रण उसकी ऋण प्रणाली द्वारा होता है। हमारी ऋण-प्रणाली केन्द्रीभूत हो गयी है अत: हमारे राष्ट्र का विकास तथा उसके समस्त कार्यकलाप कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हैं।"[1]

प्राय: ऐसा होता है कि ये "कुछ व्यक्ति", ये वित्त प्रबंधक औद्योगिक एकाधिकारों के भी स्वामी होते थे। इस प्रकार "अन्तर्गठित निदेशालय" चलते थे। इसका आशय यह था कि बैंकिग क्षेत्र के महत्वपूर्ण व्यक्ति उन बड़े-बड़े ट्रस्टों और निगमों के निदेशक-मण्डल में भी होते थे जिनमें वे "दिलचस्पी" रखते थे अर्थात् जिनमें उनके बैंकों ने बड़ी मात्रा में रकम लगाई थी।

उनका इतने घनिष्ठ रूप से संयुक्त होना उचित नहीं था। इतना ही पर्याप्त था कि बैंकर पूंजी के निकास-सूत्रों को संभाले रहें जिससे कि वे औद्योगिक समवायों की नीति पर अंकुश रख सकें। यह बात बर्लिन के "चार बड़े" बैंकों में से एक के द्वारा 1901 में जर्मन सीमेंट सिण्डिकेट के निदेशक-मण्डल को भेजे गये एक पत्र से व्यापक रूप से स्पष्ट हो जाती है। "हमें ज्ञात हुआ है... कि आपकी कम्पनी की आगामी साधारण बैठक में... उन बातों पर विचार किया जायेगा, जिससे आपके उपक्रमों पर प्रभाव पड़ने की संभावना है। हम इससे सहमत नहीं हैं। अत: हम उस ऋण की राशि को वापस लेते हैं, जो आपको दी गई थी। इसके लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। यदि उक्त साधारण बैठक ऐसी कोई बात स्वीकार नहीं करेगी जिससे हम असहमत हैं, तथा यदि भविष्य में हमें इस सम्बन्ध में उचित आश्वासन दिये जायें तो हमें आपको अग्रेतर ऋण देने पर कोई आपत्ति नहीं होगी।"[2]

यदि वित्त-प्रबन्धक एक बड़े सिण्डिकेट को ऐसा स्पष्ट उत्तर दे सकते हैं तो कल्पना कीजिए कि औद्योगिक जगत में छोटे-मोटे व्यापार पर उनका कितना प्रभाव रहा होगा और प्रभाव था भी।

सुप्रीम कोर्ट (उच्च्तम न्यायालय) के न्यायाधीश लुई डी. ब्रांडाइस ने 1912 में लिखी गई अपनी पुस्तक ***दूसरे लोगों का धन*** में इस स्थिति का सही

[1]Quoted in *Other People's Money* (1914). by L.D. Brandesis, p. 1. National Home Library Assn. Washington. D.C. 1933.

[2]V.I. Lenin Imprelism (1916), revised translation., 2nd ed. p.42. Marin Lawrence, London, 1934.

विवरण दिया है। वे कहते हैं: "विनियोजक बैंकर का हमारे वित्तीय स्वार्थ-तंत्र में प्रमुख स्थान है। उसके साधन बैंक-संघ, ट्रस्ट-कम्पनियां तथा जीवन बीमा कम्पनियां हैं। उसके विषय नियंत्रित रेलवे लाइनें, लोक सेवाएं तथा औद्योगिक निगम है। ये बैंक अमरीका के व्यावसायिक जगत पर अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं। अतः बिना उनकी सहमति या सहायता के कोई बड़ा कार्य नहीं किया जा सकता है। निस्संदेह ये बैंकर व्यक्ति हैं तथा इनके पास अत्यधिक धन है। तथापि व्यवसाय पर उनका नियंत्रण इसी कारण से न होकर इस कारण से है कि वहां संयोजन यानी गहन तथा व्यापक केन्द्रीकरण है।"[1]

इस प्रकार 1870 तक पुराने पूंजीवाद ने नया रूप धारण कर लिया था। मुक्त प्रतिद्वन्द्विता वाले पूंजीवाद ने एकाधिकारों के पूंजीवाद का रूप धारण कर लिया था। यह परिवर्तन अत्यंत महत्वपूर्ण था।

बड़े पैमाने की औद्योगिक एकाधिकारिता के फलस्वरूप उत्पादक शक्तियों का अप्रत्याशित रूप से विकास हुआ। वस्तुतः उत्पादकों की उत्पादन-शक्ति उनके देशवासियों की उपभोग-सामर्थ्य से भी अधिक बढ़ गई। (निस्संदेह इसका तात्पर्य ***मुनाफा देकर*** उपभोग करने से है—जनता सदैव अधिक वस्तुओं का प्रयोग कर सकती है किन्तु सदैव अधिक कीमतें नहीं दे सकती।)

एकाधिकार-प्राप्त व्यक्ति अपने देश में मांग के अनुसार पूर्ति को विनियमित करने में समर्थ थे और अपने देश में उन्होंने यह किया भी। यह व्यवसाय का एक चतुर मार्ग था और इससे उन्हें काफी मुनाफा भी हुआ। किन्तु इससे उनकी उत्पादक मशीनों का एक बड़ा अंश बेकार हो गया। इस प्रकार की स्थिति उद्योगपति के सिर-दर्द का कारण होती है। वे केवल देश के ही लिए पर्याप्त माल का उत्पादन नहीं करना चाहते थे अपितु चाहते थे कि उनकी मशीनें अबाध गति से चलती रहें और अधिक माल का उत्पादन करें। अर्थात उन्हें अधिक से अधिक यह माल विदेशों में बेचना था। उन्हें ऐसे विदेशी बाजारों की खोज करनी पड़ी जो इस अतिरिक्त माल की खपत कर सकें।

ऐसे बाजार कहां हैं? वे अपने सारे माल को किसी धनी राष्ट्र के मत्थे मढ़ने का प्रयत्न कर सकते हैं जैसा कि इंग्लैंड ने वर्षों तक किया। किन्तु वहां सीमा-शुल्क प्राचीरें उत्तरोत्तर ऊंची होती गईं और उनकी आड़ में उनके

[1]*Other People's Money*, p. 3.

प्रतिद्वन्द्वियों ने बाजार पर कब्जा कर लिया। 1885 में फ्रांस के प्रधान मंत्री की इस शिकायत पर ध्यान दीजिए: "हमारे विशाल उद्योगों के लिए सबसे बड़ा अभाव.... बाजारों का है। क्यों? क्योंकि... जर्मनी अपने चारों ओर दीवारें खड़ी कर रहा है; क्योंकि समुद्र पार अमरीका भी चरम सीमा तक संरक्षण-वादी बन गया है।"[1]

जर्मनी और अमरीका जैसे राष्ट्र अब अन्य राष्ट्रों द्वारा उत्पादित माल के लिए स्वतंत्र बाजार नहीं रहे—वे स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की प्रतिद्वन्द्विता में भाग लेने लग गये थे। एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई। बड़े औद्योगिक राष्ट्रों की उत्पादन क्षमता उनकी उपभोग-क्षमता से अधिक बढ़ गई। उसके लिए उन्हें बाजारों की खोज की आवश्यकता हुई।

किन्तु बाजार कहां खोजे जाएं?

इसका उत्तर था—उपनिवेशों में।

हम अफ्रीका के पूरे मानचित्र को, विभिन्न योरोपीय राष्ट्रों का स्वामित्व दिखाने वाले रंगों से रंगा हुआ देखने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हम यह भूल ही गये हैं कि अफ्रीका की यह स्थिति सदैव नहीं थी। अभी पूरे 70 वर्ष भी नहीं बीते हैं कि सम्पूर्ण अफ्रीका अफ्रीकियों का ही था। एकाधिकारवादी पूंजीवाद के युग में सभी देशों में अतिरिक्त उत्पादन से उद्योगपतियों के समक्ष सर्वत्र एक समस्या पैदा हो गयी थी। उन्होंने समझा कि इस समस्या का समाधान उन्हें उपनिवेशों में मिल गया है। और उसके पश्चात् ही अफ्रीका के मानचित्र में परिवर्तन हुए।

डेविड लिविंगस्टोन, प्रसिद्ध मिशनरी यात्री, अफ्रीका के मध्य में लुप्त हो गया। ***न्यूयार्क हेरल्ड*** के मालिक जेम्स गौर्डन बेनेट ने हेनरी मौर्टन स्टैनली को उसका पता लगाने के लिए भेजा। अत्यन्त अद्भुत बात हुई कि स्टैनली ने लिविंगस्टोन को तो ढूंढ़ ही निकाला उसने अन्य कई बातों की खोज कर ली। तदन्तर उसने अपनी खोजों पर कई व्याख्यान दिये। हमें विश्वास है कि उसे सबसे तल्लीन श्रोता मैनचेस्टर के सूती कपड़े के व्यापारियों तथा बरमिंघम के लोहा निर्माताओं के रूप में मिले। उन्होंने स्टैनली को यह कहते हुए सुना:

[1]*Quoted in Imperialism and World Politics,* by P. T. Moon, p. 27. The Macmillan Company, N.Y., 1932

"कांगो के उस पार 4 करोड़ लोग हैं; मैनचेस्टर के कपड़ा मिलों के मालिक उन्हें कपड़ा पहिनाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं; बरमिंघम के ढलाई घरों में वह धातु तैयार की जा रही है जो उनके लिए लोहे का सामान और गहने तैयार करेगी। ईसा मसीह के संदेश-वाहक उन दरिद्र नास्तिकों को ईसा की शरण में लाने को उत्सुक हैं।"[1]

स्टैनली ने उद्योगपतियों को उनके अतिरिक्त उत्पादन की समस्या का हल बतला दिया। उपनिवेश—उसका उत्तर था।

अन्य औद्योगिक देशों में भी उद्योपतियों ने उसी समय, उसी समस्या का वही उत्तर प्राप्त किया। 1870 के पश्चात् इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, इटली और जर्मनी अपने अतिरिक्त उत्पादन को खपाने के लिए उपनिवेशों की खोज में जुट गये। अमरीका इस दौड़ में 1898 में शामिल हुआ। इसी वर्ष रिपब्लिकन दल के एक सीनेटर ऐल्बर्ट जे. बीवरीज ने बोस्टन के उद्योगपतियों के सम्मुख कहा था: "अमरीकी कारखाने अमरीकी जनता की उपभोग-सामर्थ्य से अधिक माल का उत्पादन कर रहे हैं। भाग्य ने हमारी नीति निर्दिष्ट कर दी है। विश्व का व्यापार हमारे हाथों में आने वाला है और अवश्य आएगा। हमें वह उसी मार्ग से प्राप्त होगा, जो हमारी मां (इंग्लैंड) ने हमें दिखाया है। हम विश्व भर में व्यापार-केन्द्र स्थापित करेंगे जो अमरीकी उत्पादनों के वितरण केन्द्रों के रूप में कार्य करेंगे। समुद्रों में हमारे व्यापारी पोत चला करेंगे। हम अपने राष्ट्र के अनुरूप एक जल-सेना तैयार करेंगे। बड़े-बड़े उपनिवेश अपनी निजी शासन-व्यवस्था के साथ हमारा झण्डा लहराते हुए हमारे साथ व्यापार करते हुए हमारे व्यापार-केन्द्रों के रूप में कार्य करेंगे।"[2]

अतिरिक्त उत्पादन के बाजारों के अतिरिक्त उपनिवेशों से एक अन्य उपयोगी प्रयोजन भी सिद्ध होता था। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए कच्चे माल की आवश्यकता होती थी। एकाधिकारवादी पूंजीपतियों को सभी देशों में रबड़, तेल, लवण, चीनी, रुई, गर्म देशों के खाद्यान्न तथा खनिजों की आवश्यकता थी। उद्योगपति आवश्यक कच्चे माल के लिए अन्य देशों पर निर्भर नहीं रहना चाहते थे। वे इस आवश्यक कच्चे माल के स्रोतों पर अपना नियंत्रण

---

[1] *Ibid.*, p. 66.

[2] Quoted in *The American Observer*, March 16. 1936.

अथवा आधिपत्य रखना चाहते थे। इथियोपिया में इटली के नवीनतम साम्राज्यवादी अभियान का एक कारण, 8 अगस्त 1935 के न्यूयार्क टाइम्स के अनुसार यह भी था:

> **इटली इथियोपिया में रुई पैदा करेगा**
> **विश्वास किया जाता है कि रुई और कहवे के उत्पादन में उसका व्यय निकल आयेगा**
>
> **विशाल आयात की घोषणा**
>
> रोम, 7 अगस्त- इथियोपिया से मुनाफा प्राप्त करने की इटली की प्राथमिक आशायें रुई और कहवे के उत्पादन की वृद्धि पर आधारित हैं जिससे उत्तरी और दक्षिणी अमरीका से होने वाले उसके व्यापार पर प्रभाव पड़ेगा।
>
> सोना, लोहा, प्लेटिनम, तांबा तथा अन्य धातुओं को प्राप्त करने की उसकी आशाओं का भले ही कोई भी परिणाम निकले तथापि इटली को यह विश्वास है कि रुई और कहवे के उत्पादन से पूर्वी अफ्रीका में व्यय किये गये धन का उचित प्रतिफल मिल सकेगा।
>
> इटली प्रतिवर्ष औसतन 740,000,000 लीर के मूल्य की रुई का–जोकि अधिकांशत: अमरीका को जाती है–और 185,000,000 लीर के मूल्य के कहवे का आयात करता है। यह कुल राशि 1,000,000,000 लीर के लगभग है जो कि उसके कुल आयात का 13.5 प्रतिशत है।

इस प्रकार कच्चे माल के साधनों पर नियंत्रण प्राप्त करने की इच्छा साम्राज्य के जन्म का दूसरा कारण थी। आपको ज्ञात है कि पहला कारण था अतिरिक्त माल के लिए बाजार खोजने की आवश्यकता। एक अन्य अतिरिक्त राशि भी थी जो अनुकूल बाजार की खोज में थी। और संभवत: सबसे महत्वपूर्ण कारण थी। वह थी अतिरिक्त पूंजी।

उद्योग की एकाधिकारिता से उसके मालिकों को अतिरिक्त लाभ के रूप में अत्यधिक मुनाफा हुआ। उनके लिए उस धन का उपयोग करना कठिन हो गया।

यद्यपि यह बात अविश्वसनीय प्रतीत होती है, किन्तु कुछ मामलों में इतना मुनाफा हुआ कि यदि ट्रस्ट-निर्माता चाहते भी तो वे उस समस्त धन को व्यय नहीं कर सकते थे।

वस्तुतः उन्होंने प्रयत्न भी नहीं किया। उन्होंने अपने धन की बचत की। ऐसा ही अन्य करोड़ों व्यक्तियों ने किया जिनका धन बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा निवेश-ग्रहों में जमा रहता है। परिणाम हुआ पूंजी का अतिसंचय।

यह बात हास्यास्पद लगती है। इतना अधिक रुपया किस प्रकार हो सकता है? क्या पूंजी को किसी उपयोगी विनियोजन में लगाने के कोई मार्ग नहीं निकाले जा सकते थे? निस्संदेह, सड़कों का निर्माण करना था; अस्पताल बनाये जाने थे; पुराने मकानों के स्थान पर अच्छे आवासों का निर्माण करना था। निस्संदेह, अपने ही देश में सैकड़ों मार्ग थे, जिनमें पूंजी का विनियोजन हो सकता था।

ग्रामीण क्षेत्रों को अच्छी सड़कों की, श्रमिकों को अच्छे आवासों की आवश्यकता थी तथा छोटे समवाय अधिक पूंजी के लिये चिल्ला रहे थे। तथापि अर्थशास्त्री "अतिरिक्त" पूंजी की बात करते थे। करोड़ों डालरों (फ्रैंक, पाउंड और मार्कों) का विदेशों में निर्यात किया जा रहा था।

क्यों?

पूंजी कभी नहीं पूछती कि "क्या चाहिए"। कभी नहीं। वह यह पूछती है कि "इसके बदले में कितना मिल सकता है"। इस दूसरे प्रश्न का उत्तर यह निश्चित करता है कि बची हुई अतिरिक्त पूंजी कहां विनियोजित की जाएगी। लेनिन ने, जोकि मार्क्स के शिष्य और रूस की क्रांति के नेता थे, 1916 में ***साम्राज्यवाद*** नामक पुस्तक में लिखा था: "यह बिना कहे ही स्पष्ट है कि यदि पूंजीवाद कृषि का विकास करे, जोकि उद्योगों की तुलना में अत्यन्त पिछड़ा है; यदि वह जनता का जीवन-स्तर ऊंचा कर सके... तो अतिरिक्त पूंजी का प्रश्न ही नहीं उठता... लेकिन तब पूंजीवाद पूंजीवाद नहीं रहेगा... जब तक पूंजीवाद पूंजीवाद है, अतिरिक्त पूंजी का उपयोग जनता के जीवन-स्तर की वृद्धि के लिये नहीं किया जायेगा क्योंकि इससे पूंजीपतियों के मुनाफे में कमी होगी। इसके विपरीत इसका उपयोग पूंजी के अविकसित देशों में निर्यात द्वारा मुनाफे में और अधिक वृद्धि के लिये किया जाएगा। अविकसित देशों में पूंजी की कमी, भूमि की कीमतों तथा मजदूरी की कम दरों तथा कच्चे माल के सस्ते होने के कारण

मुनाफे की मात्रा सामान्यत: काफी ऊंची रहती है।"[1]

अस्तु, यही हुआ। अतिरिक्त पूंजी, जिसे निकासी का कोई मार्ग चाहिए था, पिछड़े देशों–उपनिवेशों में जाने लगी। वे स्थान, जहां रेलवे, विद्युत, गैस प्रणाली और सड़कों की आवश्यकता थी; जहां प्राकृतिक साधनों की बहुलता थी; जहां खानों और बागानों पर "रियायतें" प्राप्त थीं–इन औपनिवेशिक क्षेत्रों में अतिरिक्त पूंजी को लाभ-प्रद विनियोजन के अवसर प्राप्त हुए।

केवल इतना ही नहीं, विनियोजित पूंजी से सीधे प्राप्त होने वाले मुनाफे के अलावा ऋणों की व्यवस्था इस प्रकार की गई कि उनका अधिकांश भाग अपने ही देश में व्यय किया गया। इस प्रकार जब इंग्लैण्ड ने अर्जेनटाइना को रेलवे लाइनों के निर्माण के लिये ऋण दिया तो अधिकांश रेलवे लाइनें और इंजिन अंग्रेज निर्माताओं से ही काफी मुनाफे पर खरीदे गये। इस प्रकार अतिरिक्त पूंजी के निर्यात से अतिरिक्त माल का भी निर्यात हो गया। अर्थात् औपनिवेशिक अतिरिक्त क्षेत्रों पर अधिकार करने की नीति से निवेशकर्ता और निर्माता दोनों को ही लाभ हुआ। वित्त और उद्योग के बीच गठबंधन का यह एक ऐसा पहलू है जो आधुनिक अर्थव्यवस्था को सही अर्थों में इस सीमा तक चरितार्थ करता है कि इसे वित्त-पूंजी युग कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वित्त और उद्योग–जो पूंजी का उपयोग मुनाफा कमाने के लिये करता है–विश्व की एक प्रमुख शक्ति है।

माल और पूंजी के रूप में मुनाफा प्राप्त करने के लिये वित्त और उद्योग का गठबंधन साम्राज्यवाद का मूल है। जे.ऐ. हौब्सन को 1902 में ही, जबकि उन्होंने इस विषय पर अपनी पुस्तक प्रकाशित की थी, यह बात स्पष्ट हो गयी थी: "साम्राज्यवाद औद्योगिक क्षेत्र के महान अधिपतियों का वह प्रयत्न है जिसके द्वारा वे अपनी अतिरिक्त पूंजी को विदेशी बाजारों तथा विनियोजन के विदेशी क्षेत्रों में इस कारण प्रवाहित करते हैं कि वे उस पूंजी या माल का स्वदेश में उपयोग नहीं कर सकते हैं।"[2]

इससे साम्राज्यवाद का कारण स्पष्ट हो जाता है। औद्योगिक क्षेत्रों के ये अधिपति "अतिरिक्त पूंजी के उपयोग के साधनों का विकास" किस प्रकार

[1]Lenin, *op. cit.*, pp. 57, 58.
[2]J.A. Hobson, *Imperialism,* p.91. J. Pott & Company, N.Y., 1902.

करते हैं यह एक दूसरी कहानी है, जिससे सम्भवत: आप परिचित हैं। इसके कई तरीके हैं किन्तु इसका नवीनतम उदाहरण अबेसीनिया में इटली का "सभ्यता मिशन" और जापान द्वारा चीन में "अतिक्रमण" है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में विशेष रूप से अफ्रीका में यह तरीका बहुत सरल था। "लगभग प्रत्येक मामले में अफ्रीकी क्षेत्र को योरोपीय राज्यों में मिलाने तथा उसका विभाजन करने का आरम्भिक कार्य व्यापारियों अथवा अन्वेषकों के सहयोग में काम करने वाली पूंजीवादी कम्पनियों अथवा उनके एजेन्टों द्वारा किया गया। सामान्य प्रक्रिया यह थी कि अन्वेषक अथवा एजेन्ट समुद्र से कुछ दूर भीतरी क्षेत्र में प्रवेश करता था। वहां के मुखियाओं तथा राजाओं को वस्त्र अथवा मदिरा इत्यादि भेंट कर संयुक्त-स्कंध-कम्पनियों के साथ तथाकथित संधियां करने को राजी कर लेता था। इन संधियों के अनुसार अफ्रीकी शासक, जिनके हस्ताक्षरों के रूप में एक निशान मात्र होता था, थोड़े-से वस्त्र अथवा मदिरा के लिये अपना सारा क्षेत्र इन संयुक्त-स्कंध-कम्पनियों को समर्पित कर देते थे। केन्द्रीय अफ्रीका का लगभग सारा क्षेत्र योरोपीय राज्यों के हाथों में इसी प्रकार आया है... 20 वर्ष से भी कम समय के भीतर समस्त मध्य अफ्रीका विभाजित हो गया और उसे इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम, पुर्तगाल और इटली के साम्राज्य के अन्तर्गत मिला दिया गया।"[1]

कभी-कभी ये चतुर अन्वेषक-व्यापारी-पूंजीपति पूर्ण ईमानदारी से यह सोचते कि मूल निवासियों के हाथों से उनका देश छीन कर वे वहां के निवासियों के हित में कोई ईश्वरीय कार्य कर रहे हैं। सेसिलह्रोड्स, जो एक महान साम्राज्यवादी था, उसका यही विचार था: "मुझे विश्वास है कि हमारी जाति विश्व की जातियों में सबसे महान है। अत: विश्व के जितने ही अधिक भाग पर हम अधिकार करेंगे, उतना अधिक हमारे लिये शुभ होगा।... यदि कहीं भगवान है तो वह मुझ से यही चाहेगा कि मैं अफ्रीका का अधिक से अधिक भाग ब्रिटिश साम्राज्य के लाल रंग से रंग दूं।"[2]

इन क्षेत्रों के मूल निवासी बड़े विचित्र होते थे। उनकी बुद्धि में यह बात

[1]Leonard Woolf, Imperialism and Civilization, pp, 73, 74. Hogarth Press, London, 1933.

[2]*The Last Will and Testament of Cecil John Rhodes*, pp. 58, 98. Edited by W.T. Stead, *Review of Reviews office*, London, 1902.

नहीं बैठती थी कि श्वेत जातियां उन्हीं की भलाई के लिये यह सब कार्य कर रही हैं। वे इस बात से भ्रम में पड़ जाते थे कि श्वेत जातियों का एक समुदाय–मिशनरी उन्हें एक बात सिखलाता और इन्हीं श्वेत जातियों का दूसरा समुदाय–पूंजीपति–दूसरी ही बात करता। कभी अज्ञानवश वे विद्रोह कर देते। अतः उन्हें सबक सिखलाना भी अनिवार्य हो जाता था। शीघ्र ही बड़े और चमकदार जहाज उस देश के बन्दरगाहों में उतरने लगते। उनमें सेना होती–जिसके पास सभ्यता के तमाम अस्त्र, बन्दूकें, बम और मशीनगनें होतीं–और उन्हें पाठ पढ़ा दिया जाता था।

यह पाठ स्वदेश की सैनिक शक्ति के द्वारा पढ़ाया जाता था। सरकारें जोकि अपनी प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा" के लिये सदैव सन्नद्ध रहतीं, अन्य प्रकार से भी उनकी सहायता करती थीं। उदारहणार्थ, उपनिवेश के प्रशासन के संचालन तथा वहां चिकित्सालयों, स्कूलों व अच्छी सड़कों के निर्माण का व्यय निकालने के लिये सरकार ने कर लगाये जिन्हें वहां के निवासियों को नकद धन के रूप में देना पड़ता था। वहां के मूल निवासियों के पास धन नहीं था। किन्तु इसे प्राप्त करने का एक तरीका था। वे श्वेत जातियों की खानों और बागानों में काम कर धन कमा सकते थे। यह सत्य था कि वहां मजदूरी बहुत कम थी और वहां के मूल निवासी बागानों इत्यादि में काम किये बिना भी अपना गुजारा चला सकते थे। तथापि कर चुकाने ही थे–अर्थात् उन्हें काम करना ही पड़ता था। यदि वे काम नहीं करते तो इसका क्या परिणाम होता? पश्चिमी अफ्रीका के एक फ्रांसीसी उपनिवेश की दशा देखने वाले ने 1935 में कर के भुगतान न करने के उपचार के संबंध में लिखा है: "दक्षिणी सूडान का एक गांव कर देने में असमर्थ था। अतः मूल-निवासी सिपाहियों को वहां भेजा गया। उन्होंने गांव के तमाम स्त्री बच्चों को पकड़ कर एक बाड़े में बन्द कर दिया। झोपड़ियों में आग लगा दी गयी तथा पुरुषों से कहा गया कि उन्हें उनके पत्नी और बच्चे तभी प्राप्त होंगे, जब वे कर अदा करेंगे।"[1]

उपनिवेशों की जनता के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया गया इसका सामान्यीकरण इस कारण नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह व्यवहार देश और काल के अनुरूप बदलता रहा। तथापि अत्याचार सर्वत्र सामान्य थे तथा कोई भी

[1]*G. Gorer, Africa Dances,* p. 122. Faber and Faber, London, 1935.

साम्राज्यवादी राष्ट्र इस कलंक से अछूता नहीं है। इस विषय के एक सर्वमान्य विशेषज्ञ श्री लियोनार्ड वुल्फ ने लिखा है: "पिछली शताब्दी के योरोपीय राष्ट्रीय समाज में दो पूर्णतः भिन्न वर्ग होते थे। पूंजीपति और श्रमिक, शोषक और शोषित। इसी प्रकार अन्तराष्ट्रीय समाज में भी दो नितांत भिन्न वर्ग थे, पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियां तथा अफ्रीका और पूर्व की पराधीन जातियां। पहली शासक और शोषक थी और दूसरी शासित और शोषित।"[1]

यह समझने की बात है कि एक देश के "शासित और शोषित" होने के लिये उसका उपनिवेश ही होना आवश्यक नहीं है। जहां पिछड़े हुए देशों को सीधे साम्राज्य में नहीं मिलाया जा सका वहां उन्हें "प्रभाव क्षेत्रों" में विभाजित कर दिया गया। उदाहरणार्थ, चीन जिसमें सभी बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों का अपना-अपना हित निहित था; अथवा दक्षिण अमरीका, जिसमें इंग्लैण्ड और अमरीका के अपने हित "सम्बद्ध" थे। उक्त दोनों देश दक्षिण अमरीका के गणराज्यों को पराधीन बनाये बिना ही उन्हें पूंजी देने को तैयार रहते थे, जिसका उपयोग संधि अथवा रियायतों द्वारा पूंजी कमाने के साधन के रूप में किया जाता था। ऐसे मामलों में यह बात सदैव स्पष्ट कर दी जाती थी कि इन संधियों, रियायतों, और व्यावसायिक एकाधिकारिता को लागू करने के लिए नौ सैनिक पोत, हवाई जहाज और स्थल सेना हमेशा तैयार हैं।

सरकारों का अपने बैंकरों और निर्माताओं की सहायता करना, जोकि माल अथवा पूंजी लगाने के लिये बाजारों की खोज किया करते थे, कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। अंग्रेजी राज्य के एक प्रेक्षक ने इसे अनिवार्य माना था। "वर्तमान समय अर्थात् 1921 की शरद् में अंग्रेजी व्यवसाय बड़े-बड़े संघों के नियंत्रण के अधीन है। इनका प्रशासन और संचालन बहुत बड़े पूंजीपतियों और ट्रस्टों के हाथों में है जिनकी शक्ति... इतनी अधिक है कि वे व्यापार का दिशानिर्देश कर सकते हैं। इससे भी अधिक, सरकार को परामर्श देने की उनमें इतनी अधिक शक्ति है कि ... सरकार (जिसमें धनिक वर्ग के लोग होते हैं) को भी उनकी सलाह के अनुकूल ही कार्य करना पड़ता है।"[2]

यह स्थिति इंग्लैण्ड में थी। तथापि अमरीका के राष्ट्रपति टैफ्ट के लिये

[1]L. Woolf, *Economic Imperialism,* p. 102. Swarthmore Press, London, 1920.
[2]J. Morgan Rees,op. cit.. 245

न्याय का मार्ग सीधा था किन्तु संकुचित न था। इसमें "हमारे पूंजीपतियों" द्वारा हस्तक्षेप करने की गुंजाइश थी। "हमारी विदेश नीति न्याय-पथ से एक अंगुल भी विचलित नहीं होनी चाहिए तथापि उसमें उस हस्तक्षेप को स्थान है जिसके द्वारा हमारे पूंजीपतियों और व्यापारियों को लाभप्रद उद्योगों में पूंजी लगाने का पूरा अवसर प्राप्त हो।"[1]

एक बार "हमारे पूंजीपतियों" द्वारा हस्तक्षेप स्वीकार कर लेने पर सरकारें इस दिशा में आगे बढ़ती चली गईं। पूंजी का प्रवाह रस्सी पर चलने वाले नट की तरह "निर्बाध होता है"। तथापि उसे सुरक्षित बनाये रखना एक बहुत बड़ा कार्य है। मेजर-जनरल स्मेडले डी. बटलर को यह काम सौंपा गया। वह राष्ट्रपति टैफ्ट से इस मामले में असहमत हैं कि बड़े पूंजीपतियों द्वारा हस्तक्षेप स्वीकार करते हुए न्याय के पथ पर रहा जा सकता है। "मैंने तैंतीस वर्ष चार मास तक राष्ट्र की प्रमुख सैन्य शक्ति, जल-सेना में सेवा की है। मैंने सेकेण्ड लेफ्टिनेंट से मेजर-जनरल के पद तक काम किया है। इस समस्त अवधि में मैंने वाणिज्य, वाल स्ट्रीट तथा बैंकरों के व्यवसाय के रक्षक के रूप में कार्य किया है। संक्षेप में, मैं पूंजीवाद का साधन बना रहा...

इस प्रकार, 1914 में मैंने मेक्सिको और विशेष रूप से टैम्पिको को अमरीकी तेल हितों के लिए सुरक्षित बनाने में सहायता की। मैंने हैती और क्यूबा में राष्ट्रीय सिटी बैंक द्वारा राजस्व एकत्र करने के कार्य को सुलभ बनाया। ... 1909-12 में मैंने निकारागुआ को ब्राउन ब्रदर्स की अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग संस्था के लिये सुलभ बनाने में सहायता की। 1916 में मैंने डोमिनिकन गणराज्य को अमरीकी चीनी हितों के लिये सुलभ किया। 1903 में मैंने होंडूरास में अमरीकी फल समवायों के लिये 'उचित' पृष्ठभूमि तैयार की। 1927 में मैंने चीन में यह प्रयत्न किया कि स्टैण्डर्ड आयल कम्पनी के तेल का वहां निर्बाध प्रवेश हो सके।

उक्त कार्यों के लिये मुझे प्रतिष्ठा, तमगे तथा पदोन्नतियां प्राप्त हुईं। जब मैं पीछे मुड़ कर विचार करता हूं तो लगता है कि मुझे अल कैपोन को कुछ नुस्खे बता देने चाहिये थे। वह केवल तीन जिलों में अपनी कूट योजना चला सका जब कि हमने अपनी कूटयोजना तीन महाद्वीपों में प्रसारित की।"[2]

[1]Quoted in *Economi Imperialism and International Relations during the Last Fifty Years*, by A. Viallate, p. 62. The Macmillan Company. N.Y., 1923.
[2]*Common Sense*, Nov., 1935.

मेजर-जनरल बटलर के अनुभवों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जिस साम्राज्यवाद का सूत्रपात हुआ था वह आज भी हमारे साथ है। अपितु उसका रूप पहले से अधिक विशद हो गया है। यह समझना सरल कि ऐसा क्यों हुआ। उद्योगों में एकाधिकारिता कम नहीं हुई अपितु बढ़ती जा रही है। और जैसा कि हम देखते हैं इसके साथ साम्राज्यवाद की प्रतिष्ठा हुई है।

आधुनिक निगमों तथा गैर सरकारी सम्पत्ति के संबंध में, उस विषय के दो विशेषज्ञों द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार अमरीका के आधुनिक विशाल निगमों के आकार, सम्पत्ति एवं नियंत्रण के संबंध में आश्चर्यजनक तथ्य और आंकड़े मिलते हैं। अमरीका में इस समय लगभग 300,000 निगम हैं तथापि समस्त निगमित सम्पत्ति का आधा भाग इनमें से केवल 200 निगमों के पास है। उक्त 200 में से 15 निगम ऐसे हैं जिनमें से प्रत्येक के पास एक खरब से अधिक सम्पत्ति है। उनमें से एक अमरीकी टेलीफोन और टेलीग्राफ कम्पनी "सारे अमरीका के इक्कीस राष्ट्रों में जितनी सम्पत्ति है, उससे अधिक सम्पत्ति का नियंत्रण करती है।"[1]

तथापि एकाधिकारिता किस सीमा तक हमारे दैनिक जीवन को हर समय प्रभावित करती है, यह उक्त पुस्तक की इस व्याख्या से स्पष्ट हो जायेगा कि अमरीकावासियों का दैनिक जीवन उक्त 200 बड़े निगमों से कितना प्रभावित होता है। "ये बड़ी कम्पनियां ही अमरीकी उद्योग का ढांचा हैं। प्रत्येक व्यक्ति को प्रायः निरंतर उनके सम्पर्क में आना पड़ता है।... वह निरन्तर उनकी सेवा स्वीकार करता है। यदि वह कुछ दूरी की यात्रा करता है तो उसे अनिवार्य रूप से किसी एक बड़ी रेलमार्ग-प्रणाली का उपयोग करना पड़ता है। उसे खींचने वाला इंजिन कदाचित अमरीका इंजन कम्पनी या बाल्डविन लोकोमोटिव वर्क्स द्वारा निर्मित होगा। जिस डिब्बे में उसने यात्रा की, वह अमरीकन कार एण्ड फाउण्डरी कम्पनी अथवा उसकी किसी शाखा कम्पनी द्वारा निर्मित हो सकती है।... पटरियां निस्संदेह इस्पात की ग्यारह कम्पनियों में से किसी एक से आयी होंगी। कोयला, कोयले की चार कम्पनियों में से किसी एक से ही आया होगा।

[1]A.A. Berle and G.C. Means, *The Modern Corporation and Private Property*, p. 19. The Macmillan Company, N.Y., 1933

यदि वह व्यक्ति मोटर-कार द्वारा यात्रा करे तो वह कार फोर्ड, जनरल मोटर्स, स्ट्रडबेकर अथवा क्रिस्लर कम्पनी द्वारा बनायी गई होगी और उसके टायर फायरस्टोन, गुडरिक, गुडइयर अथवा यूनाइटेड स्टेट्स रबर कम्पनी द्वारा निर्मित होंगे।...

यदि वह व्यक्ति अपेक्षाकृत एकाकी और पृथकता का जीवन व्यतीत करता है तो इन 200 बड़ी कम्पनियों का उसके लिए क्या उपयोग है? बिजली और गैस अनिवार्य रूप से लोकोपयोगी कम्पनियों में से किसी एक से ही आ रही होंगी। उसके घर के बर्तन अल्यूमिनियम कम्पनी ऑफ अमेरिका में निर्मित हुए होंगे। उसका रेफ्रिजरेटर, जनरल मोटर्स कम्पनी, जनरल इलेक्ट्रिक या वेस्टिंगहाउस इलेक्ट्रिक में निर्मित हुआ होगा। संभव है कि मकान में लगे नल के जोड़ क्रेन कम्पनी तथा ताप उपकरण अमरीकन रेडियटर एण्ड स्टेंडर्ड सैनिटरी कारपोरेशन द्वारा निर्मित किये गये होंगे। संभवत: वह अपना घरेलू उपयोग का कुछ सामान ग्रेट ऐटलांटिक एण्ड पैसिफिक कम्पनी से खरीदता होगा।...

वह अपनी औषधियां प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यूनाइटेड ड्रग कम्पनी से प्राप्त करता होगा। जिन डिब्बों में उसका सामान आया होगा वे अमरीकी कैन कम्पनी द्वारा निर्मित हो सकते हैं। चीनी बड़ी कम्पनियों में से किसी एक ने शोधित की होगी। मांस स्विफ्ट, आरमर अथवा विल्सन ने तैयार किया होगा। बिस्कुट नैशनल बिस्किट कम्पनी द्वारा तैयार किये गये होंगे।...

यदि वह रेडियो द्वारा अपना मनोरंजन करना चाहेगा तो रेडियो कारपोरेशन ऑफ अमरीका द्वारा लाइसेंस प्राप्त किसी एक सेट का प्रयोग करेगा। यदि वह सिनेमा देखने निकले तो वह संभवत: पैरामाउण्ट, फाक्स अथवा वार्नर ब्रदर्स द्वारा निर्मित कोई चित्र देखेगा (यह फिल्म ईस्टमैन कोडक फिल्म पर बनी होगी), और इन्हीं निर्माण-संघों में से किसी एक द्वारा नियन्त्रित सिनेमाघर में। वह सिगरेट के किसी भी विज्ञापन का शिकार बने किन्तु वह निश्चय ही 'चार बड़ी' तम्बाकू कम्पनियों में से एक के द्वारा निर्मित ब्रांड की सिगरेट ही पियेगा, संभवत: वह यूनाइटेड सिगार की दुकान से उनको खरीदना पसन्द करे।"[1]

इस प्रकार सर्वत्र एकाधिकारिता का राज्य है। अन्य औद्योगिक राष्ट्रों के संबंध में भी यह बात उसी प्रकार सत्य है। जब अपने राष्ट्रीय बाजारों की

[1] *Ibid.*, pp. 24, 25.

अधिपति ये विशाल कम्पनियां अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में दूसरी कम्पनियों का सामना करती हैं तो इसका क्या परिणाम होता है? उनके बीच भयंकर लम्बी और प्राणघातक प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो जाती है। तब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समझौते-संघ तथा मूल्य-संघों की स्थापना होती है। एकाधिकारवादी "पूंजीपति विश्व का विभाजन व्यक्तिगत ईर्ष्या के कारण नहीं करते अपितु जिस सीमा तक केन्द्रीकरण हो चुका है, उससे विवश होकर मुनाफा कमाने के साधन के रूप में ऐसा किया जाता है। फलतः 'पूंजी के अनुपात' और 'शक्ति के अनुपात' में वे इसका विभाजन करते हैं.... तथापि शक्ति राजनीतिक एवं आर्थिक विकास के साथ-साथ घटती-बढ़ती रहती है।"[1]

उक्त विवरण से ऐसा ज्ञात होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय समवाय-संघों द्वारा विश्व बाजार का विभाजन कर लेने के उपरांत प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो जायेगी और शान्ति का युग अवतरित होगा। तथापि शक्ति के घटते-बढ़ते रहने के कारण ऐसा नहीं होने पाता। कुछ कम्पनियां अधिक विशाल और शक्तिशाली हो जाती हैं जबकि अन्य कम्पनियां दुर्बल हो जाती हैं। अतः जो बात एक समय उचित थी वह अनुचित बन जाती है। फलस्वरूप अपेक्षाकृत शक्तिशाली कम्पनी असंतुष्ट हो जाती है और अधिक अंश प्राप्त करने के लिए संघर्ष चलता रहता है। इसका फल युद्ध है।

उपनिवेशों के राजनीतिक नियंत्रण के संबंध में भी यही बात सत्य उतरती है। सत्तर वर्ष पूर्व "स्वतंत्र" क्षेत्रों की संख्या पर्याप्त थी। आज यह स्थिति नहीं है। यदि आज पुनर्विभाजन हो तो अभाव-पीड़ित राष्ट्र सम्पन्न राष्ट्रों से ये क्षेत्र छीन लेंगे। आज जर्मनी, इटली और जापान को उपनिवेशों की आवश्यकता है। इटली और जापान जो भी प्राप्त हो सके, उसे हड़पने का प्रयत्न कर रहे हैं। जर्मनी हड़पने की तैयारी कर रहा है। साम्राज्यवाद युद्ध को जन्म देता है।

किन्तु युद्ध से कोई स्थायी हल नहीं निकलता। वह विरोध जो कि पारस्परिक वार्ता से समाप्त नहीं हो सका, वह बम, विषैली गैस, घायल एवं मृतक संख्या की भाषा से समाप्त नहीं हो सकता है। एकाधिकारवादी पूंजीवाद को अपने अतिरिक्त माल और पूंजी के लिए निकास चाहिए और वह शत्रुता तब तक बनी रहेगी, जब तक उक्त बातें मौजूद हैं। बाजारों की खोज जारी रहती है।

[1]Lenin. *op. cit.*, p. 68.

सेसिल ह्रोड्स, जो एक महान साम्राज्यवादी था, उसे इस स्थिति की आन्तरिक प्रतीति हुई थी। नये बाजारों को प्राप्त करना उसके जीवन का अंग बन गया था। नये क्षेत्रों को अपने अधिकार में ले लेना उसका स्वभाव बन गया था। एक बार अपने मित्र से हुई बातचीत के मध्य उसने जो कहा था उससे साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का भली-भांति पता चल जाता है: "समस्त विश्व पर आधिपत्य कर लिया गया है और जो कुछ अवशिष्ट है उसे विभाजित और पराजित कर उपनिवेशों की स्थापना कर ली गई है। अब हम उन नक्षत्रों के संबंध में सोचने लगे हैं जोकि रात्रि को हमारे ऊपर चमका करते हैं, जहां हम अभी तक नहीं पहुंच सके हैं। यदि मेरे लिए संभव होता तो मैं इन नक्षत्रों पर भी अधिकार कर लेता। मैं प्राय: यही सोचा करता हूं। यह देखकर मैं उदास हो जाता हूं कि वे इतने उज्जवल हैं, फिर भी इतनी दूर हैं।"[1]

ह्रोड्स शीघ्र ही मर गया। कितने दुख की बात है। क्योंकि न्यू मेक्सिको के रेगिस्तान में प्रोफेसर आर.एच. गौडर्ड अपनी अनुसन्धानशाला में चन्द्रलोक तक पहुंचने के लिए राकेट जहाज के प्रयोग कर रहे थे। वेल्स के पर्वतों में ब्रिटिश अन्तरग्रही संस्था ग्रहों तक पहुंचने में समर्थ राकेट के निर्माण में लगी हुई है। काश! ह्रोड्स कुछ और जीवित रहते!

तथापि, उनकी आत्मा को इस विचार से सन्तोष मिलेगा कि उनकी भावना अभी जीवित है और यह भावना आज पहले से कहीं अधिक दृढ़ है। जब चन्द्रलोक का मनुष्य पृथ्वी के पहले राकेट जहाज से उतरते हुए यात्री का स्वागत करेगा, तो वह यात्री निस्संदेह अपने आतिथेय के कानों में फुसफसा कर प्रश्न के साथ उसके स्वागत का उत्तर देगा: "अपनी पुरानी नहरों के जीर्णोद्धार और नयी नहरों के निर्माण के लिए क्या आप कुछ रुपया ऋण लेना चाहेंगे? बस यहां हस्ताक्षर कर दीजिए। शेष सब खानापूर्ति मेरा बैंक स्वयं कर लेगा.. बस ठीक है.. धन्यवाद।"

[1]Rhodes. *op. cit.*,p. 190.

20. सबसे कमजोर कड़ी

"इन संकट-कालों में, न केवल वर्तमान उत्पादन का अपितु पूर्व-निर्मित उत्पादक शक्तियों का विशाल भाग समय-समय पर नष्ट किया जाता है। इन संकट-कालों में एक ऐसा संक्रामक रोग फैलता है जो पहले के किसी भी युग-द्वार पर असंगत प्रतीत होता और वह रोग है अति-उत्पादन का। समाज एकाएक अपने आपको एक क्षणिक बर्बरता की अवस्था में लौटा हुआ पाता है। ऐसा लगता है जैसे कि किसी अकाल ने, विध्वंस के विश्वव्यापी युद्ध ने जीवन निर्वाह के सभी साधनों का सम्भरण रोक दिया है: उद्योग ओर वाणिज्य नष्ट होते प्रतीत होते हैं। क्यों? क्योंकि सभ्यता बहुत हो गई है, जीवन-निर्वाह के साधन बहुत अधिक बढ़ गये हैं, उद्योग बहुत बढ़ गया है, वाणिज्य बहुत बढ़ गया है।"[1]

यह उद्धरण आजकल का नहीं है।

इसे लगभग एक सौ वर्ष पूर्व 1848 में मार्क्स और एंगेल्स के लिखे हुए कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो में देखा जा सकता है। यह एक दु:साहसपूर्ण भविष्यवाणी नहीं थी—यह केवल इस बात का विवरण था कि उस समय प्रत्येक कुछ वर्षों के पश्चात् पूंजीवादी समाज में क्या होता था। हममें से प्रत्येक व्यक्ति जो 1929 में दस वर्ष से अधिक की आयु का था, जानता है कि ऐसा निरन्तर होता रहा है। यह उद्धरण अत्यन्त परिचित सत्य है क्योंकि आप और हम संसार के सबसे बड़े आर्थिक संकट-काल में रह रहे हैं।

इतिहास के सभी युगों में सदैव ही संकट-काल आये हैं। लेकिन पूंजीवाद के विकसित होने से पूर्व जो संकट-काल घटित हुए हैं, उनमें और पूंजीवाद के जन्म से चले आ रहे वर्तमान संकट-काल में एक विशिष्ट अन्तर है। 18वीं शताब्दी से पूर्व संकट-काल का सबसे अधिक सामान्य रूप फसल के नष्ट हो जाने, युद्ध अथवा किसी असाधारण घटना के कारण हुआ करता था। इस प्रकार

[1] *Communist Manifesto*, op. cit., pp. 20, 21.

के संकट-काल में खाद्य-पदार्थों और अन्य आवश्यक पदार्थों की कमी हो जाती थी, जिससे कीमतें बढ़ जाती थीं। लेकिन जिस संकट-काल को हम जानते हैं, जो संकट-काल पूंजीवादी व्यवस्था के आगमन के साथ उत्पन्न हुआ, वह असाधारण घटना का परिणाम नहीं—वह हमारी आर्थिक व्यवस्था का अभिन्न अंग प्रतीत होता है। इस संकट-काल की विशेषता कमी नहीं, अपितु अति-प्रचुरता है। इस संकट-काल में कीमतें बढ़ती नहीं, घट जाती हैं।

आप संकट-काल और और मन्दी के अन्य लक्षणों से परिचित हैं। वे हैं बेकारी—पूंजी और श्रम दोनों प्रकार की, मुनाफों में कमी और औद्योगिक गतिविधि का उत्पादन और व्यापार दोनों में सामान्य रूप से मन्द हो जाना। समृद्धि में दरिद्रता का विरोधाभास सर्वत्र लक्षित है।

क्या कच्चे माल की कमी है? बिलकुल नहीं। कपास पैदा करने वाले अपनी कपास बेचने को तत्पर हैं। क्या पूंजी की कमी है? नहीं। फैक्टरियों के स्वामी अपनी शान्त मिलों में तकुओं और करघों को एक बार फिर चलते हुए देखने के लिए उत्सुक हैं। क्या श्रम की कमी है? नहीं। वस्त्र-उद्योग के बेकार मजदूर मिल में लौट कर उन सूती वस्त्रों को बनाने के लिये उतावले हो रहे हैं जिनका उनके पास अभाव है।

नहीं। उत्पादन के लिये आवश्यक कच्चा माल, पूंजी, और श्रम—सभी कुछ उपलब्ध है। फिर भी, उत्पादन नहीं होता। क्यों?

अर्थशास्त्री इस प्रश्न के उत्तर में एकमत नहीं हैं।

लेकिन एक तथ्य पर सभी सहमत हैं और जब तक आरम्भ में ही आप उस तथ्य को नहीं समझ लेंगे, संकट-काल के कारण आपके लिये एक बन्द पुस्तक रहेंगे।

वह महत्वपूर्ण तथ्य केवल इतना ही है कि पूंजीवादी व्यवस्था में पण्य-द्रव्य उपयोग के लिये नहीं अपितु मुनाफे पर विनिमय के लिये उत्पादित होते हैं। केवल जब उत्पादन के साधनों के स्वामी—पूंजीपति—मुनाफे का अवसर देखते हैं, तभी हमारे समाज में खनिज पदार्थ भू-गर्भ से निकाले जाते हैं; अनाज बोये जाते हैं; मनुष्य काम पर लगाये जाते हैं; उद्योग के चक्रों में गति उत्पन्न होती है और माल बेचा या खरीदा जाता है। हेरल्ड ट्रिब्यून के 13 जुलाई 1934 के संस्करण में, बाल्टर लिपमैन ने इस बात को बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया

है: "वर्तमान परिस्थितियों में उत्पादन की बात करने का तब तक कोई अर्थ ही नहीं है, जब तक कि छोटे-बड़े पूंजीपति मुनाफा कमाने के उद्देश्य के लिये व्यापार में धन नहीं लगायेंगे। वे देशभक्ति अथवा लोक सेवा के नाम पर भी धन नहीं लगायेंगे। वे धन केवल इसलिये लगायेंगे कि उन्हें इसमें धन कमाने का अवसर दिखाई देगा। यही पूंजीवादी व्यवस्था है। इसमें ऐसे ही काम होता है।"

प्रोफेसर एफ.ए. वॉन हायेक के अनुसार श्री लिपमैन ठीक कहते हैं। "वर्तमान विनिमय अर्थ-तन्त्र में, विनियोजक किसी निश्चित मांग को पूरा करने की दृष्टि से नहीं–भले ही ऐसा कभी-कभी कहा जाता है–अपितु मुनाफे की गणना के आधार पर उत्पादन करता है।"[1]

प्रोफेसर हायेक आज के जीवित प्रमुख अर्थशास्त्रियों में से हैं। वह उन अर्थशास्त्रियों से प्राय: अलग ही हैं जो समाज को श्रमिक-वर्ग की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन इस महत्वपूर्ण तथ्य पर कि केवल मुनाफे से ही व्यापार का चक्र घूमता है, हम उन्हें फ्रेडरिक एंगेल्स के साथ एकमत देखते हैं। एंगेल्स के एक पत्र का अंश इस प्रकार है जो उन्होंने 1865 में लिखा था: "बहुत कम उत्पादन होता है... लेकिन इतना कम उत्पादन क्यों होता है? इसलिये नहीं कि उत्पादन की सीमा... समाप्त हो गई है? नहीं। अपितु इसलिये कि उत्पादन की सीमा का निर्धारण भूखे पेटों की संख्या से नहीं, खरीदने और बेचने की क्षमता वाली जेबों की संख्या से किया जाता है। जिन भूखे पेटों के पास रुपयों से भरी जेबें नहीं हैं अर्थात् श्रमिक, जिनका उपयोग ***मुनाफे के लिये*** नहीं किया जा सकता है और इसलिये वे खरीदने में असमर्थ हैं, मरने के लिये छोड़ दिये जाते हैं।"[2]

अमरीका के प्रमुख मौलिक अर्थशास्त्रियों में से थौर्स्टाइन वेब्लेन एक हैं। उनकी रचनाओं में हमें यही सत्य उनकी विशिष्ट तीखी शैली में मिलता है: "प्रकृति के अर्थ-तन्त्र में व्यापारी का स्थान 'रुपया कमाने' का है, वस्तुओं के उत्पादन का नहीं... व्यापार की सबसे बड़ी उपलब्धि कुछ नहीं में से भी कुछ निकाल लेने की है... यह ध्यान दिया जाना चाहिए... कि वह व्यापार ही नहीं है जिसका मुख्य उद्देश्य लाभप्रद बिक्री अथवा लाभप्रद सौदा न हो, जिसका अर्थ है मुनाफे पर बेचना। ... व्यापार का मुनाफा उद्योग के उत्पादन से निकलता है,

---

[1]F.A. von Hayek, *Monetary Theory and the Trade Cycle*, p. 68. Jonathan Cape, London. 1933.

[2]K.Marx and F. Engels, *Correspondence, op. cit.*, p. 199.

और उद्योग का नियन्त्रण, उसकी गति और विगति का संचालन व्यापारी मुनाफे की दृष्टि से होता है।''[1]

पूंजीवादी में वस्तुओं का उत्पादन उपयोग के लिये नहीं, मुनाफे के लिये होता है, इसका एक अन्य प्रमाण है। निम्न उद्धरण वेस्ले सी. मिचेल रचित ***व्यापार के आवर्त*** से लिया गया है जो एक सुप्रतिष्ठित अमरीकी अर्थशास्त्री की सुप्रतिष्ठित रचना है: ''जहां व्यापार अर्थ-तन्त्र प्रचलित है, वहां जब तक अवस्थाएं ऐसी न हों कि उन लोगों के मुनाफे निश्चित हो सकें जो उत्पादन का निदेशन करते हैं, तब तक वहां न तो प्राकृतिक साधनों का विकास होता है, न यान्त्रिक साधनों का उपयोग होता है; न कामगर के कार्य-कौशल का प्रयोग होता है और न वैज्ञानिक खोजों को काम में लाया जाता है।''[2]

अब विभिन्न अन्य अर्थशास्त्रियों की साक्षियों को लीजिए जो सभी इसी मत का समर्थन करते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में, उत्पादन तब तक नहीं होता जब तक कि उससे मुनाफे की सम्भावना निश्चित न हो जाए। लेकिन अगर इन्हीं साक्षियों से पूछा जाए कि क्यों समय-समय पर मुनाफे की वह सम्भावना पूरी नहीं होती तो अर्थशास्त्रियों में यह मतैक्य नहीं रहेगा। यह व्यवस्था किस प्रकार काम करती है, इस पर अर्थशास्त्री एकमत हैं किन्तु किन कारणों से इसकी गति रुक जाती है, इस पर वे दृढ़तापूर्वक भिन्न-मत हैं। संकट-काल की अवस्था में व्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् मुनाफों में कमी होने लगती है। इस गतिरोध के कारण क्या हैं? संकट की स्थिति उत्पन्न होने के कारण क्या हैं? हम अर्थशास्त्रियों के कुछ उत्तरों पर विचार करेंगे।

पूंजीवादी व्यवस्था में इस प्रकार के संकट, गत एक शताब्दी में बार-बार आये हैं और लगभग सबका स्वरूप एक-सा ही रहा है। तथापि, आज भी ऐसे अर्थशास्त्री हैं जो इस विश्वास पर स्थिर हैं कि कारण व्यवस्था के भीतर नहीं, इसके बाहर खोजे जाने चाहिए। इस मत के समर्थक प्रोफेसर मिचेल लिखते हैं: ''कुछ अर्थशास्त्रियों को ऐसे किसी सिद्धान्त की खोज में निराशा ही मिली है जो समान रूप से आर्थिक संकटों के कारणों का विश्लेषण कर सके। इन लोगों

[1]Thorstein Veblen. *The Vested Intersts and the Common Man*, pp. 92 ff. B. W. Heubsch, N.Y., 1920.

[2]Wesley C. Mitchell, *Business Cycles*, pp. 65, 66. National Bureau of Economic Research, 1927.

के अनुसार संकट-काल एक 'असाधारण' घटना है जो कुछ 'बाधक कारणों' 'जैसे क्राँतिकारी आविष्कारों का आगमन.. सीमा शुल्क-संशोधन, मुद्रा समबन्धी परिवर्तन, फसलों की हानि आदि द्वारा घटित होती है।यह दृष्टिकोण इस निष्कर्ष की ओर संकेत करता है कि प्रत्येक संकट-स्थिति का अपना विशेष कारण होता है जिसे गत दो-एक वर्षों की घटनाओं के भीतर खोजना चाहिए।''[1]

एक अन्य वर्ग के अनुसार संकट-स्थिति का विशेष कारण भौतिक होता है। डब्लू. स्टैनली जेवोन्स ने 1875 में घोषित किसा कि सूर्य पर धब्बे, भारत का अकाल और इंग्लैंड की आर्थिक संकट की स्थिति लगभग एक ही समय घटित हुए। एक का दूसरे से क्या सम्बन्ध है? ध्यान से देखिए। सूर्य-रश्मियां ऋतु को प्रभावित करती हैं, ऋतु फसल को प्रभावित करती है, फसल–अच्छी या बुरी–किसानों की आय को प्रभावित करती है; किसानों की आय निर्मित वस्तुओं की मांग की सीमा को प्रभावित करती है। सारा दोष सूर्य का है!

अथवा, शुक्रग्रह को दोष दीजिए। आठ वर्षीय ''गति चक्र'' के सिद्धान्त के जन्मदाता श्री हेनरी एल.मूर का यही कथन है। लेकिन शुक्र को दोष क्यों? क्योंकि प्रति आठ वर्ष में शुक्र सूर्य और पृथ्वी के मध्य आ जाता है और आप अनुमान लगा सकते हैं कि शुक्र के मार्ग में आ जाने से सूर्य की बहुत-सी रश्मियां पृथ्वी तक कभी नहीं पहुंच पायेंगी।

संकट-काल के भौतिक कारणों के बारे में ये सब बातें हैं। कैम्ब्रिज के अर्थशास्त्री प्रोफेसर ए.सी. पिगू उस सम्प्रदाय के नेता हैं जो व्यापार की बढ़ती और मन्दी को मनोवैज्ञानिक कारणों–उद्योगपतियों के आशा-निराशावाद की भूलों–से सम्बद्ध करते हैं। जब सब कुछ ठीक चल रहा होता है, लोग अपने मुनाफों की वृद्धि के सम्बन्ध में आशावादी हो जाते हैं। वे उत्पादन का विस्तार चाहते हैं। वे बैकों से अधिक रुपया लेकर अपने यन्त्रों के विस्तार द्वारा अथवा नयी मशीन खरीद कर मुख्यतः औद्योगिक सम्भार में धन लगाते हैं। ''जब (सम्भावनाएं) अच्छी होती हैं, तो ये व्यापारी को अधिकाधिक ऋण लेने की ओर प्रवृत्त करती है। अंशतः वे बैंक से ऋण लेते हैं जिससे ब्याज-दर में वृद्धि होती है। अप्रत्यक्ष रूप से वे अधिक क्रय-शक्ति को प्रचलन में लाकर कीमतों

[1] *Ibid.*, pp. 9, 10.

मे वृद्धि करते हैं।"[1] तब, किसी प्रकार भी, आशावाद की इस तरंग में उत्पादित वस्तुओं को बाजार की कसौटी पर उतरना पड़ता है। क्या वे नयी ऊंची कीमतों पर बिक सकेंगी? नहीं। एक पर एक इस प्रकार की अनेक स्थितियों से यह ज्ञात होगा कि आशावाद अनुचित था। अत: एक गहरा मनोवैज्ञानिक अविश्वास और निराशावाद व्यापार-जगत पर छा जाता है। और उत्पादन कम होने लगता है। "आशावाद की भूल के प्रभाव से उद्योग में जिस क्रियाशीलता का विकास होता है, वह अन्तत: बाजार की खोज करने वाले पण्य-द्रव्यों के रूप में पूर्ण होती है। जब तक ये पण्य-द्रव्य निर्माण की प्रक्रिया में हैं... असाधारण क्रियाशीलता विद्यमान रहती है। (बाद में यह ज्ञात होता है कि आशावाद बहुत अधिक था अर्थात आशावाद बाजार की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता।) जब यह कसौटी अनेक वस्तुओं पर यही परिणाम देती है और उचित संख्या में कमी बतलाती है तो विश्वास हिल उठता है। यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि आशावाद की भूल घटित हुई है और सम्भावित मुनाफे बढ़ा-चढ़ा कर लगाये और विस्तारपूर्वक स्वीकार किये गये थे... परिणामस्वरूप, व्यापारिक गति-विधि का प्रवाह अवरोधित हो जाता है।"[2]

यहीं पर अति-आशावाद अति-निराशावाद को स्थान देता है। उत्पादन काफी कम हो जाता है। उद्योग में विनियोजन लगभग बन्द हो जाता है। जो कुछ माल बेचा जाता है, वह धीरे-धीरे बाजार में समाप्त होने लगता है। तब थोड़े समय पश्चात्, मांग फिर बढ़ जाती है, मुनाफों में वृद्धि होती है, व्यापारी उत्साह से भर उठते हैं और अति-आशावाद फिर गतिशील हो उठता है।

पिगू और मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय व्यापारी की सम्भावनाओं को बढ़ती और मन्दी के लिए उत्तरदायी ठहराने को जो विशेष महत्व देते हैं, वह इस उद्धरण में स्पष्ट है: "वस्तुत: अभी इस प्रश्न को न उठाते हुए कि ये विभिन्न सम्भावनाएं स्वयं किस प्रकार बनती रहती हैं, हम निश्चयपूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि केवल यही औद्योगिक उतार-चढ़ाव के आचरण के प्रत्यक्ष और तत्काल कारण होते हैं, अन्य कुछ भी नहीं।"[3]

---

[1] A.C. Pigou, *Industrial Fluctuations*, p. 33. Macmillan & Company, Ltd., London. 2nd ed., 1929.
[2] *Ibid.*, pp. 90. 91.
[3] *Ibid.*, p. 34.

अर्थशास्त्रियों के अन्य सम्प्रदाय के लिए इस पुराने मुहावरे में वास्तविक सत्य है कि "रुपया ही समस्त बुराई की जड़ है"। वे अनुभव करते हैं कि हमारे विनिमय की व्यवस्था–हमारी मुद्रा सम्बन्धी व्यवस्था दोषपूर्ण है। वे इस दोषपूर्ण व्यवस्था को विनियमित करना चाहते हैं। "मुद्रा विनियमन" सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवक्ता प्रोफेसर जे.एम. कीन्स लिखते हैं: "बेकारी, कामगरों का असुरक्षित जीवन, सम्भावनाओं में निराशा, बचत की अचानक हानि, व्यक्तियों का अनापेक्षित अति–लाभ, सट्टेबाज, मुनाफाखोर–सभी एक बड़ी मात्रा तक मूल्य के स्तर की अस्थिरता से संचालित होते हैं।"[1]

इस उद्धरण में महत्वपूर्ण शब्द है: "मूल्य के स्तर की अस्थिरता।" हमारी मुद्रा अस्थिर है इसकी प्रतीति कराने के लिए अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं। हम इसे अनुभव से जानते हैं। खरीददार जानते हैं कि एक डालर में एक मास में इतना मक्खन खरीदा जा सकता है और दूसरे मास में उससे अधिक (या कम)। और कितनी ही बार हमने इस प्रकार की टिप्पणियां सुनी हैं: "ठीक है, पर डालर का मूल्य अब पहले से अधिक (या कम) हो गया है।" अथवा: "पिछली बार जब मैं पेरिस में था मुझे अपने डालर के पच्चीस फ्रैंक मिले थे लेकिन इस वर्ष मुझे केवल सत्रह मिले हैं।"

प्रारम्भिक अर्थशास्त्र हमें बतलाता है कि "मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम है"। मुद्रा–विनियमन के विशेषज्ञों का कहना है कि यह एक बुरा माध्यम है क्योंकि यह स्थिर नहीं है। अन्य पैमानों की भांति यह निश्चित नहीं है। एक दर्जन का अर्थ है बारह–इसका अर्थ एक दिन पन्द्रह और दूसरे दिन आठ नहीं होगा। लेकिन हमारी मुद्रा इकाई का मूल्य बदलता रहता है। ये अर्थशास्त्री कहते हैं, वह बुरा है और इसका उपाय होना चाहिए। वे मुद्रा और ऋण–नियन्त्रण की युक्ति देते हैं। जो उत्पादित वस्तुओं की मात्रा और उपभोक्ताओं की जेब के रुपयों की मात्रा में एक स्थिर सम्बन्ध स्थापित करेगा।

उदाहरणार्थ, उद्योग के विकास और उत्पादन के विस्तार के साथ वस्तुओं की उत्पादित मात्रा बढ़ जाती है। जब तक कि वस्तुओं के बढ़ते हुए प्रवाह के साथ कदम मिलाने के लिए प्रचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि न हो, कीमतें गिर जाएंगी। आप समझ सकते हैं, क्यों। मान लीजिए, कि बाजार में 500 कमीजें हैं

[1] J. M. Keynes, *A Tract on Monetary Reform, op. cit.*, Preface, p.5.

और उपभोक्ताओं के पास उनके लिए 500 डालर हैं। प्रत्येक कमीज एक डालर में बिकेगी। अब मान लीजिए कि कमीज-निर्माता अपनी मशीनों में सुधार करके 1,000 कमीजें तैयार कर लेता है। तब, अन्य बातें समान होते हुए, जब तक 500 डालर और उपभोक्ताओं की जेबों में न डाले जाएं, कमीजों की कीमत गिरकर 50 सेण्ट प्रति कमीज हो जाएगी।

मुद्रा-सम्बन्धी अर्थशास्त्रियों का तर्क है कि संकट-काल, प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के कम या अधिक होने के कारण कीमतों के सामान्य स्तर से उतार-चढ़ाव के प्रभाव हैं। जब व्यापार अच्छा होता है मुद्रा तेजी से परिचालित होती है और बैंक बड़ी से बड़ी रकमें ऋण में देते हैं। यह सत्य है कि वे ऊंची ब्याज-दर वसूल करते हैं लेकिन यह उन निर्माताओं को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं जो व्यापार को विस्तृत होता देखते हैं और जबकि सब कुछ ठीक चल रहा है, वे यथासम्भव अधिक से अधिक लाभ कमा लेना चाहते हैं। इस प्रकार समृद्धि व्यापार की बढ़ती की ओर प्रवृत्त करती है।

जब यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है, ऋण-नियन्त्रक यानी बैंक आतंकित हो उठते हैं और अनुभव करने लगते हैं कि ऋण-विधान बहुत भारी हो रहा है। वे कहते हैं, ''मूल्यों में कृत्रिम वृद्धि हो गई है''। अत: वे अपना हाथ खींच लेते हैं, नये ऋण देना बन्द कर देते हैं और पहले के दिए हुए ऋण वापिस मांगने लगते हैं। लेकिन निर्माता—अथवा उनमें से अधिकांश—प्राप्त ऋण वापिस नहीं दे सकते क्योंकि उन्होंने ऋण की रकम अपने व्यापार में लगा दी है और वापिस करने के लिए अभी पर्याप्त प्राप्त नहीं कर सके हैं। जब वे वापिस नहीं कर सकते हैं, वे दिवालिये हो जाते हैं। उनके यन्त्र बन्द हो जाते हैं, कर्मचारी सेवा-विमुक्त कर दिये जाते हैं और चारों ओर संकट की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसका क्षेत्र बढ़ता ही जाता है, क्योंकि कच्चे माल के उत्पादकों को आर्डर मिलने बन्द हो जाते हैं और जो कामगर काम से बाहर निकाल दिये गये हैं, अब वस्तुओं की मांग पर पैदा नहीं कर पाते। उत्पादन में मन्दी, मांग में अवरोध, इसके साथ कीमतों में भारी हानि सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थ-तन्त्र के क्षेत्र में संक्रामक रोग की भांति मन्दी ला देते हैं। लोग निवेश से डरने लगते हैं और बैंक उधार देने से डरते हैं और इस प्रकार रुपया उद्योग और व्यापार में लगने के स्थान पर बैंकों में जमा होने लगता है।

मुद्रा सम्बन्धी अर्थशास्त्रियों का तर्क है कि इस प्रकार के ऋण का भारी लेन-देन कभी हो ही नहीं सकता, अगर व्यापार यह अनुभव न करता कि कीमतें ऊंची ही ऊंची चढ़ती जाने वाली हैं। निर्माता ऊंची दर पर ऋण इसलिए लेते हैं, क्योंकि उनका विश्वास होता है कि कीमतों में सम्भावित वृद्धि ब्याज चुकाने और उसके पश्चात् और अधिक मुनाफा खींचने में पर्याप्त होगी। अगर कीमतें स्थिर रहें तो वे उत्पादन के प्रचण्ड और अनुचित विस्तार में प्रवृत्त नहीं होंगे। इस बुराई को दूर करने के लिए इन अर्थशास्त्रियों का प्रस्ताव है कि मुद्रा-इकाई को एकरूप होना चाहिए जिससे कि यह उत्पादित सामग्री के परिमाण के कम या अधिक होने के साथ सामंजस्य रख सके। येल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर इर्विंग फिशर ने "अनुपूरक डालर" के लिए एक योजना तैयार की है जिसके बारे में उनका कथन है कि यह योजना इस काम को पूरा कर सकती है। इससे बाजार में आज, कल या परसों समान मात्रा में वस्तुएं खरीदी जा सकेंगी।

फिशर और कीन्स का कथन है कि जब एक निर्दोष मुद्रा-प्रणाली का आविष्कार किया जा सकता है तो एक दोषपूर्ण प्रणाली को बनाये रखना मनुष्य के लिए मूर्खता-पूर्ण और हानिकारक है। प्रोफेसर कीन्स कहते हैं: "व्यक्तिवाद के इस विनाशक रोग (बढ़ती और मन्दी उत्पन्न करने वाला कीमतों का उतार-चढ़ाव) के उपचार का सबसे अच्छा मार्ग (मुद्रा और ऋण के नियन्त्रण द्वारा) इस बात की व्यवस्था करना है कि इस प्रकार की विश्वस्त संभावनाओं का, कि कीमतें सामान्यत: गिरने वाली हैं अथवा वे ऊंची होने वाली हैं, अस्तित्व कभी न रहने दिया जाए।....

अब हम (मूल्य-मान) को उस वर्ग में नहीं रहने दे सकते जिसकी विशेषताओं पर न्यूनाधिक मात्रा में मौसम, जन्म दर एवं राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव रहता है—क्योंकि ये बातें प्राकृतिक कारणों से निश्चित होती हैं, या वे अनेक व्यक्तियों के स्वच्छन्द व्यवहार की पृथक क्रिया का फल हैं; या उनमें केवल क्रांति ही परिवर्तन ला सकती है।"[1]

तथापि, अन्य अर्थशास्त्री इस बात को स्वीकार नहीं करते कि निपज के साथ समरूप करने के लिए मुद्रा को काम में लाना अच्छी बात है। प्रोफेसर हायेक का विरोधी मत इस प्रकार है: "वितरण के माध्यम की मात्रा उत्पादन के

[1] *Ibid.*, pp. 38, 40.

कम या अधिक होने के साथ घटती-बढ़ती रहनी चाहिए, इसके पक्ष में प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये गये कारण पूर्णत: निराधार हैं। इसके विपरीत ऐसा प्रतीत होता है कि कीमतों में गिरावट.... जो मुद्रा की मात्रा वही रहने पर उत्पादन की वृद्धि के साथ अवश्य ही घटित होती है, न केवल पूर्णत: हानिरहित है अपितु, वास्तव में, उत्पादन के दिग्भ्रान्त होने से बचने का एकमात्र साधन है।''[1]

श्री जान ए. होब्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त संकट-स्थिति के कारणों के इन सभी सिद्धान्तों से अधिक प्रचलित है। सम्भवत: श्री हौब्सन के विश्लेषण से आप परिचित हैं। यह उसी का तर्क है कि समृद्धि के युग में, पूंजी की आय श्रम की मजदूरी की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ती है। धनी अविश्वसनीय वेग से और अधिक धनी हो जाते हैं। उनकी आय बहुत बढ़ जाती है। वे अपने पर कितना भी व्यय क्यों न करें, फिर भी रुपया शेष रह जाता है। जो वे व्यय नहीं कर पाते, उसे बचा लेते हैं। उनके धन की विशाल राशि उद्योग में निवेश होती है और परिणामत: वस्तुओं के निर्माण के उपस्करण यानी उत्पादक शक्ति में भारी वृद्धि होती है। नये और बेहतर उपस्करण अपना काम करते हैं। फैक्टरियों से बाजार में वस्तुओं का धारा-प्रवाह आरम्भ हो जाता है। लेकिन श्रमिक इस निरन्तर बढ़ती हुए उत्पादित सामग्री को खरीदने के लिए पर्याप्त मजदूरी नहीं पाते। वस्तुएं अनबिकी रह जाती हैं, गोदामों और मालघरों में उनका ढेर लग जाता है और कीमतें बुरी तरह गिर जाती हैं। उत्पादन अलाभकारी हो जाता है। जब ऐसा होता है, उत्पादन में कटौती कर दी जाती है। परिणाम होता है बेकारी, मन्दी और धनिकों की आय में कमी। अति-बचत बन्द हो जाती है।

तब धीरे-धीरे उपभोक्ता संचित वस्तुओं के भण्डार तक पहुंचने लगते हैं; जो उद्योग चल रहे हैं, वे अनुभव करते हैं कि नये अथवा विकसित उपस्करणों के बिना काम नहीं चल सकता और धीरे-धीरे उत्पादन फिर आरम्भ हो जाता है और समृद्धि, बढ़ती संकट-स्थिति और मन्दी का चक्र फिर गतिशील हो उठता है।

वे लोग जो अति-धनी और अति-निर्धन के अस्तित्व मात्र से परेशान हैं वे श्री हौब्सन के विश्लेषण को विशेष रूप से अपनी रुचि के अनुकूल पायेंगे, क्योंकि चाहे आप ''अति बचत'' के सिद्धान्त के रूप में देखें अथवा अन्य

---

[1]F.A. von Hayek, *Prices and Production*, p. 89. Routledge & Sons. London, 1931.

दृष्टिकोण से, "न्यून-उपभोग" के सिद्धान्त के रूप में, यह संकट-स्थिति के अनिवार्य कारणों के रूप में धन के असमान वितरण तक आकर समाप्त होता है।

श्री हौब्सन के शब्दों में यह इस प्रकार है: "ये अधिशेष, जहां तक करों के रूप में नहीं ले लिये जाते, हमारी आर्थिक व्यवस्था में एक युक्तिहीन और हानिकर अंग का निर्माण करते हैं। आय के रूप में इनका नैतिक अथवा आर्थिक कोई औचित्य नहीं। उपभोग अथवा विलास के लिए उनकी न्यून उपयोगिता उनके संचय को बचत के रूप में सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के सम्भव उपयोग और आवश्यकता से अतिरिक्त उत्पादन में प्रवृत्त करती है.... यह अनुपार्जित अधिशेष... व्यापार की मन्दी के अन्तर्गत वर्गीकृत उद्योग के अवरोध, कीमतों की गिरावट और बेकारी का प्रत्यक्ष कारण है। इस अधिशेष का प्रयोग... कामगरों और समाज की व्यय-शक्ति और उपभोग की वृद्धि के लिए करने से उत्पादक शक्ति की प्रत्येक वृद्धि के साथ कदम मिलाने के लिए उपभोग की कुल सामर्थ्य की वृद्धि द्वारा इस चिरकालिक कुव्यवस्था का उपचार किया जा सकता है.... सामान्य आय के अनुपात की वृद्धि, जो ऊंची मजदूरी... अथवा बढ़ी हुई सामाजिक सेवाओं के रूप में मजदूरों के पास आती है, उन उद्योगों में पूर्ण नियोजन के अनुरक्षण के लिए अनिवार्य है जो बेकारी और मन्दी के युग की ओर सबसे अधिक प्रवृत्त होते हैं।"[1]

श्री हौब्सन अपना पक्ष अत्यन्त विश्वासप्रद ढंग से प्रस्तुत करते हैं। और क्योंकि हममें से अनेक अपने चारों ओर संकट की साक्षियों से विक्षुब्ध रहते हैं, अत: हम विश्वास कर लेना चाहते हैं कि अधिक मजदूरी और बढ़ी हुई सामाजिक सेवाओं के पक्ष में उनका तर्क ही ठीक है लेकिन हमें अपनी इच्छाओं को इसे पूर्णत: आत्मसात् नहीं करने देना चाहिए। यहां स्मरण करें कि पूंजीवादी व्यवस्था का उद्देश्य है लाभ कमाना। श्री हौब्सन कहते हैं कि संकट-स्थिति इसलिए उत्पन्न होती है कि पूंजीपति बहुत अधिक विनियोजन करते हैं, कि मजदूर अति-पूंजीकृत उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को खरीदने के लिए पर्याप्त मजदूरी नहीं पाते, इसलिए मुनाफे कम हो जाते हैं।

---

[1]J.A. Hobson, *Poverty in Plenty*, pp. 54, 63, 64, 67. Allen & Unwin, London, 1931.

लेकिन प्रोफेसर हायेक का कथन है कि यह सत्य नहीं है। वे कहते है कि मुनाफे कम हो जाते हैं क्योंकि पूंजीपति पर्याप्त विनियोजन नहीं करते। वह सामाजिक सेवाओं की वृद्धि की नहीं अपितु उन्हें कम करने की, मजदूरी में वृद्धि की नहीं अपितु कमी की युक्ति देते हैं: "राज्य की कुछ कार्यवाहियां मांग को उत्पादक वस्तुओं से उपभोज्य वस्तुओं में विवर्तित करने का कारण बन उत्पादन के पूंजीवादी ढांचे, और इसलिए दीर्घकालीन स्थिरता के संकुचन का कारण बन सकती हैं.. उपभोक्ताओं को ऋण देना, जिसे अब तक मन्दी के उपचार के रूप में प्रबल समर्थन मिलता रहा है, वस्तुत: बिलकुल विपरीत प्रभाव उत्पन्न करेगा; उपभोज्य वस्तुओं की मांग में सापेक्ष वृद्धि स्थिति को केवल और अधिक बिगाड़ सकती है।"[1]

कुछ थोड़े से पृष्ठों में प्रोफेसर हायेक के इस उलझे हुए सिद्धान्त के साथ न्याय करना असम्भव है। लेकिन अपने उद्देश्य के लिए इतना संकेत कर देना पर्याप्त है कि हौब्सन और हायेक मुनाफों में कमी, जो संकट-स्थिति है, के ठीक विरोधी कारण खोजते हैं, गिरते हुए मुनाफों के रोग के निदान के लिए वे विरोधी उपचार प्रस्तुत करते हैं।

और रोचक बात यह है कि दोनों ही सही हैं और दोनों गलत हैं। हौब्सन इस तर्क में सही हैं कि ऊंची मजदूरी और विस्तृत सामाजिक सेवाएं पण्य-वस्तुओं के बढ़ते हुए सम्भरण के लिए एक आवश्यक बाजार उपलब्ध कर सकेंगी; लेकिन वह यहां गलत हैं कि मजदूरी में वृद्धि का अर्थ उत्पादन के तत्काल मुनाफे में कमी होगी। हायेक इस तर्क में सही हैं कि कम मजदूरी और प्रतिबन्धित सामाजिक सेवाओं से उत्पादन के तत्काल मुनाफों में वृद्धि होगी, लेकिन वह यहां गलत हैं कि मजदूरी में कमी करने का अर्थ होगा पण्य-वस्तुओं के बढ़ते हुए सम्भरण के लिए बाजारों की समाप्ति। हौब्सन समूह की श्रम-शक्ति में वृद्धि द्वारा बाजार (और इस प्रकार मुनाफे की क्षमता) के प्रत्यर्पण के लिए चिन्तित हैं, हायेक समूह की क्रय-शक्ति में कमी (मजदूरी में कटौती) द्वारा मुनाफे की क्षमता का प्रत्यर्पण चाहते हैं।[2]

[1]F.A. von Hayek, *op. cit.*, p. 85, 86, 111, 112. Routledge & Sons, London, 1931.

[2]Cf. John Strachey, *The Nature of the Capitalist Crisis* (Covici Friede, N.Y., 1935), for a more detailed exposition of this point.

और यहीं, कार्ल मार्क्स के अनुयायियों के अनुसार पूंजीवाद की दुविधा है–***दोनों बातें नहीं हो सकतीं।*** अत: वे युक्ति देते हैं कि पूंजीवाद के अन्तर्गत संकट स्थिति अनिवार्य है। जहां अन्य सभी अर्थशास्त्री संकट-स्थिति के कारणों के रूप में यह या वह कोई अन्य बात देखते हैं किन्तु सुझाव देते हैं कि यदि उनके विशिष्ट उपाय को ग्रहण किया जाए तो सब कुछ ठीक हो जाएगा, मार्क्स ने कहा कि पूंजीवादी व्यवस्था में इससे कोई छुटकारा ही नहीं है। उन्होंने लिखा कि इससे छुटकारा पाने के लिए आपको पूंजीवाद से मुक्ति पानी होगी।

मार्क्स का संकट-काल का विश्लेषण उनके सम्पूर्ण सिद्धान्त में अन्तर्निहित है। पूंजीवादी उत्पादन का उनका सिद्धान्त और उनका वह सिद्धान्त जो पूंजीवादी उत्पादन के गतिरोध की व्याख्या करता है दोनों एक हैं–और उनका मूल भी एक ही है।

पूंजीवादी व्यवस्था का अनिवार्य उद्देश्य है मुनाफा कमाना। यहां मार्क्स यह सिद्ध करने में समर्थ थे कि ***मुनाफे की दर में गिरावट की प्रवृत्ति विद्यमान थी***। यह एक संयोग-जन्य घटना नहीं थी। यह होना ही था। पूंजीवादी उत्पादन-व्यवस्था ने उसे अनिवार्य बना दिया। हम देखेंगे कि क्यों। (यहां पर अपके लिए पृष्ठ 257 से पृष्ठ 264 पर मार्क्स के मूल्य के श्रम सिद्धान्त का पुन: अध्ययन कर लेना उचित होगा)।

मार्क्स ने पूंजी को दो भागों में बांटा–अचल पूंजी और चल पूंजी। अचल पूंजी वह है जिसे यन्त्रों, मशीनों, औजार, कच्चे माल आदि पर व्यय किया जाता है। चल पूंजी वह है जो मजदूरी पर श्रम-शक्ति खरीदने में व्यय की जाती है। अचल पूंजी वह संज्ञा इसलिए प्राप्त करती है कि उत्पादन की प्रक्रिया में इसका मूल्य अचल रहता है। अन्तिम उत्पादन में इसका मौलिक मूल्य केवल स्थानान्तरित हो जाता है; न कम होता है और न अधिक। चल पूंजी को यह संज्ञा इसलिए दी गई है कि उत्पादन की प्रक्रिया में उसका मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। अन्तिम उत्पादन में इसके मौलिक मूल्य से अधिक स्थानान्तरित होता है। जहां अचल पूंजी अनुर्वर है और यह उत्पादन प्रक्रिया में किसी नये मूल्य का निर्माण नहीं करती, चल पूंजी निर्माणात्मक है और यह (और केवल यही) उत्पादन प्रक्रिया में नये मूल्यों का निर्माण करती है। यह चल पूंजी ही है जो अपने मूल्य से अधिक–अतिरिक्त मूल्य–उत्पन्न करती है। यह चल पूंजी (जीवित

श्रम-शक्ति) ही है जिससे मुनाफे निकाले जाते हैं।

अतः निर्माण में पूंजीपति की पूंजी इस प्रकार विभाजित होती है:

क (कुल पूंजी) = अ (अचल पूंजी) + च (चल पूंजी)

अब कितनी क, अ में और कितनी च में जाएगी? मार्क्स कहते है, इसमें कोई सन्देह नहीं–और यहां सभी उनसे सहमत होंगे–कि पूंजीवाद के विकास के साथ, कुल पूंजी का निरन्तर बढ़ता हुआ भाग क अचल पूंजी अ में डाला जाता है। जैसा कि आप जानते हैं, आधुनिक उद्योग में हर समय अधिक और बेहतर मशीनों का आगमन हो रहा है। ये मशीनें निःसन्देह चमत्कारिक हैं–किन्तु इन पर विशाल धन लगता है। और यह श्रम को स्थान-च्युत कर देती हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि कुल पूंजी क के प्रति चल पूंजी च का अनुपात निरन्तर कम हो रहा है और इसके विपरीत अचल पूंजी अ का अनुपात कुल पूंजी के प्रति बढ़ता जा रहा है।

संक्षेप में, $\frac{\text{च}}{\text{क}}$ कम हो रहा है। जबकि, $\frac{\text{अ}}{\text{क}}$ बढ़ रहा है।

यह तथ्य कि सापेक्ष रूप से अचल पूंजी बढ़ती है, जबकि चल पूंजी कम होती है, अत्यधिक महत्व का है। क्योंकि आपको स्मरण है कि यह च और केवल च ही है जो अतिरिक्त मूल्य अथवा मुनाफे का स्रोत है। इसका अर्थ यह है कि क्योंकि च कम होता है अतः मुनाफे की दर में गिरावट की प्रवृत्ति होती है। ज्यों-ज्यों कुल पूंजी से अचल पूंजी का अनुपात बड़ा होता जाता है, मार्क्स के अनुसार "श्रम के शोषण की उसी मात्रा के साथ, अतिरिक्त मूल्य की वही दर मुनाफे की गिरती हुई दर के रूप में अभिव्यक्त होगी... अब अगर यह अनुमान लगाया जाए कि पूंजी की रचना में यह उत्तरोत्तर परिवर्तन उत्पादन के कुछ व्यक्तिगत क्षेत्रों तक सीमित नहीं है अपितु न्यूनाधिक सभी में घटित होता है... तो चल पूंजी पर अचल पूंजी की क्रमिक और सापेक्ष वृद्धि मुनाफे की औसत दर की उत्तरोत्तर गिरावट की ओर प्रवृत्त होगी जबकि अतिरिक्त मूल्य-दर वही रहती है।"[1]

मुनाफे की दर में गिरावट एक गम्भीर घटना है। यह पूंजीपतियों के मुख्य उद्देश्य को ही एक चुनौती है, जिसके अनुसार यथासम्भव अधिकतम मुनाफा

[1]Karl Marx. *Capital*. edited by F. Engels. vol. III. p. 248. Kerr & Co.. Chicago. 1909.

प्राप्त करना है। लेकिन पूंजीपतियों के लिए बचाव का एक मार्ग है। वे अनुभव करते हैं कि यद्यपि मुनाफे की दर गिर रही हो, तब भी मुनाफे की मात्रा में वृद्धि सम्भव है। उदाहरण इस प्रकार है (अतिरिक्त-मूल्य को म से व्यक्त किया गया है और हम मान लेते हैं कि अतिरिक्त मूल्य की दर प्रत्येक स्थिति में 100 प्रतिशत समान है।)

क	अ	च	म
1,500	1,000	500	500
4,000	3,000	1,000	1,000

क्योंकि अतिरिक्त मूल्य म केवल चल पूंजी च द्वारा उत्पन्न होता है, अतिरिक्त मूल्य की दर सदैव म के च से सम्बन्ध अथवा $\frac{म}{च}$ होती है। लेकिन यद्यपि मुनाफा केवल मजदूरी पर व्यय की रकम (च) से प्राप्त होता है, पूंजीपति अपना मुनाफा कुल विनियोजित पूंजी (क) पर प्राप्त मुनाफे के रूप में लेता है। अतः वह अपने मुनाफे की दर का अनुमान म के क से सम्बन्ध अथवा $\frac{म}{क}$ से लगाता है।

अतः उपर्युक्त उदाहरण में, प्रथम अवस्था में मुनाफे की दर है $\frac{500}{1,500}$ अथवा 33.3 प्रतिशत; दूसरी अवस्था में यह है $\frac{1,000}{4,000}$ अथवा केवल 25 प्रतिशत। यद्यपि मुनाफे की दर गिर गई है किन्तु मुनाफे की रकम 500 से 1,000 बढ़ गई है।

तथापि ध्यान दीजिए कि इसे सम्भव बनाने के लिए क्या आवश्यक था। चल पूंजी, जिससे मुनाफा निकाला जा सकता है, को दुगुना करना पड़ा। और क्योंकि उत्पादन की वर्तमान प्रविधि चल पूंजी की तुलना में अचल पूंजी की निरन्तर बढ़ती हुई रकम मांगती है, अतः च को दुगुना करने के साथ क को तिगुना करना पड़ा। और यही मर्ज है। मुनाफे की रकम को बढ़ाने के लिए पूंजीपति अधिकाधिक पूंजी के एकत्रीकरण के लिए बाध्य हैं। इस विषय में कोई विकल्प ही नहीं है। अगर पूंजी का एकत्रीकरण रुक जाता है तो मुनाफे की रकम (और साथ ही दर भी) गिरने लगती है।

प्रत्येक पूंजीपति यह जानता है। बाजार की प्रतिद्वन्द्विता ने उसे सिखाया है कि उसे अपना रुपया बचाना ही चाहिए और निरन्तर बढ़ती हुई रकम को व्यापार

में ही वापिस डालते रहना चाहिए—अथवा संघर्ष में घुटने टेक देने होंगे। उसे संचय करना ही होगा, निरन्तर करना होगा जिससे कि उसकी कुल पूंजी में मुनाफे की गिरती हुई दर का सामना करने के लिए पर्याप्त वृद्धि हो सके।

जिन सद्‌भावपूर्ण लोगों ने मजदूरों को ऊंची मजदूरी देने का समर्थन किया है, वे इस पहलू को नहीं देख पाये हैं। तथापि, पूंजीपति जानता है कि जितना अधिक वह अपने मजदूरों को देता है, उतना ही उसका मुनाफा कम होता है। इसका अर्थ यह है कि मुनाफा कमाना निरन्तर बनाये रखने के लिए आवश्यक पूंजी का एकत्रीकरण मन्द हो जाता है, गतिवान नहीं। उसके दृष्टिकोण से यह नहीं होना चाहिए क्योंकि जब संचय बन्द हो जाता है, मुनाफा बन्द हो जाता है।

तब वह दुविधा के उस भाग को यथा-सम्भव कम मजदूरी देकर सुलझाता है। इससे वह निरन्तर बढ़ते एकत्रीकरण की नीति को बनाये रखने के लिए स्वतन्त्र हो जाता है। और यहीं वह आर्थिक विरोध के अन्य छिद्र में जा गिरता है—निपज को निबटाने की क्रय-शक्ति का मजदूरों में अभाव। क्योंकि कम मजदूरी का यह अर्थ है कि जो पण्य-द्रव्य वह तैयार करता है, वे खरीदे नहीं जा सकते और उनका मूल्य प्राप्त नहीं होता।

मार्क्स का विश्लेषण यहां पहुंचता है: पूंजीपति को मजदूरी कम रखकर मुनाफा अवश्य रखना पड़ता है; लेकिन इस प्रयत्न में वे क्रय-शक्ति नष्ट कर देते हैं जिस पर मुनाफे की उपलब्धि निर्भर है। कम मजदूरी ऊंचे मुनाफे को सम्भव बना देती है लेकिन इसके साथ ही मुनाफों को असम्भव भी बना देती है क्योंकि उससे वस्तुओं की मांग कम हो जाती है।

असामाधेय अन्तरविरोध।

✦ ✦ ✦ ✦

लगभग 90 वर्ष पूर्व, थामस कार्लाइल ने पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध करते हुए संकट की ओर उंगली उठाई: "आपकी बनाई हुई कमीज का उपयोग क्या है? वह लाखों की संख्या में, अविक्रेय पड़ी रहती है: और इधर, लाखों उद्यमी तन हैं जिनकी उन पर कोई पकड़ नहीं है। कमीजें मनुष्य के तन ढकने के लिए उपयोगी हैं; अन्यथा वह एक असह्य उपहार है। आप समस्या के इस पहलू से बुरी तरह पिछड़ गये हैं।"[1]

[1]Thomas Carlyle *Past and Present* bk. 1, ch. III. Chapman & Hall, London, 1843.

यदि यह उस समय सत्य था जब कार्लाइल ने लिखा कि "आप समस्या के इस पहलू से बुरी तरह पिछड़ गये हैं" तो यह आज कितना सत्य है जबकि हम विश्व-इतिहास के सबसे बड़े संकट--काल के मध्य में हैं?

लोग सर्वत्र समस्या से जकड़े हुए हैं। सोवियत संघ में वे पूंजीवाद को मार्क्स के मार्ग द्वारा बदल कर इस समस्या के समाधान के प्रयत्न में लगे हुए हैं। विश्व के अन्य भागों में, नियन्त्रण द्वारा इसको सुलझाने के प्रयत्न हो रहे हैं।

21. रूस के पास योजना है

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से सत्रह वर्ष पूर्व कार्ल मार्क्स की मृत्यु हो गई।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के सत्रह वर्ष पश्चात् कार्ल मार्क्स फिर जीवित हो गए।

मार्क्स के लिये जो सिद्धान्त थे, उन्हें उनके शिष्यों–लेनिन और अन्य रूसी क्रान्तिकारियों ने 1917 में सत्ता हस्तगत करने के पश्चात कार्यरूप में परिणित किया। उससे पूर्व मार्क्स की शिक्षाएं भक्त अनुयायियों के एक छोटे-से समूह तक ही सीमित थीं; उसके पश्चात्, मार्क्स की शिक्षाएं विश्व की रुचि का केन्द्र बन गईं। उससे पूर्व कम्यूनिस्ट केवल दावा कर सकते थे कि कार्यरूप में लाने पर उनके सिद्धान्त नये और बेहतर संसार का निर्माण करेंगे; उसके पश्चात्, भू-मण्डल के पूरे छठे भाग की ओर संकेत कर कह सकते थे: "यही है। इसे देखो। यह कारगर है।"

क्रान्तिकारियों के लिये सर्वप्रथम सत्ता हस्तगत करना किस प्रकार सम्भव हो सका? कौन-सी परिस्थितियां थीं जिन्होंने क्रान्ति को सफल बनाया? क्योंकि क्रान्ति के एक तथ्य के सम्बन्ध में हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि क्रान्ति का सफलतापूर्ण संचालन सहज कार्य नहीं है जो किसी भी व्यक्ति द्वारा, कहीं भी, किसी भी समय पूरा किया जा सके। क्रान्ति एक कला है और बॉलशेविक रूसी क्रान्तिकारियों के नेता लेनिन ने इस महत्वपूर्ण सत्य पर बल दिया।

"सफल होने के लिये राज्य-विप्लव षड्यन्त्र पर आधारित नहीं होना चाहिए; न ही एक पार्टी पर, किन्तु प्रगतिशील वर्ग पर आधारित होना आवश्यक है। यह पहली बात है। विप्लव पूर्ण परिपक्व अवस्था तक पहुंचती हुई क्रान्ति के इतिहास के उन ***निर्णायक अवसरों*** पर आधारित होता है, जबकि जन-नेताओं की गति-विधियां अपने पूर्ण उत्कर्ष पर हों, जब ***शत्रु-सेना की पांतों और दुर्बल, हतोत्साह, क्रान्ति के अनिर्णीत मित्रों के वर्गों की दुविधा***

चरम सीमा तक पहुंच चुकी है। यह तीसरी बात है... लेकिन एक बार जब ये परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं उस समय विप्लव को ***एक कला*** के रूप में अपनाने से अस्वीकार करना मार्क्सवाद और क्रान्ति के प्रति विश्वासघात करना है।"[1]

बॉलशेविकों के सत्ता हस्तगत करने से एक मास पूर्व यह लिखा गया था। उनके अपने अनुयायियों में से ही अनेक ऐसे थे जो लेनिन से इस बात पर सहमत थे कि जिन परिस्थितियों को उन्होंने गिनाया है, क्रान्ति को सफल बनाने से पूर्व उनका होना आवश्यक है। लेकिन इन्हीं लोगों में से अनेक इस बात पर उनसे सहमत नहीं थे कि वह ***निश्चित क्षण*** कौन-सा था, जब ये परिस्थितियां विद्यमान थीं। और यहीं लेनिन की प्रतिभा प्रकट हुई। उन्होंने ठीक उसी क्षण का अनुभव कर लिया जबकि परिस्थितियां पूर्णत: परिपक्व थीं, जब कदम सफल होने वाला था और स्थगन असफलता बन जाती।

सत्ता हस्तगत करने से पूर्व उन्हें अपनी सम्पूर्ण शक्ति अपने अनुयायियों को यह मनवाने के काम में लगानी पड़ी कि प्रहार का समय आ गया है। 7-14 अक्तूबर को उन्होंने एक लेख पूरा किया, ***क्या बॉलशेविक राज्य-सत्ता अधिकार में रख पायेंगे?*** इस लेख में उन्होंने एक-एक करके समस्त विभिन्न तर्कों का विश्लेषण किया जो यत्र-तत्र क्रान्तिकारी कार्यों के विरुद्ध दिये जाते रहे थे। उन आपत्तियों के प्रति उनका एक उत्तर इस प्रकार था: "पांचवां तर्क यह है कि बॉलशेविक सत्ता को अधिकार में नहीं रख पायेंगे क्योंकि "परिस्थितियां नितान्त जटिल हैं"।

कितने ज्ञानदंभी हैं! वे सम्भवत: क्रान्ति को सहन करने के लिये प्रस्तुत हैं लेकिन बिना 'असाधारण रूप से जटिल परिस्थितियों' के।

इस प्रकार क्रान्ति कभी नहीं होती। और इस प्रकार की क्रान्ति के पश्चात् की उत्कण्ठा में बुर्जुआ बुद्धिजीवियों के प्रतिक्रियात्मक विलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। भले ही, एक क्रान्तिकारी आरम्भ उन परिस्थितियों में करे जो इतनी उलझी हुई प्रतीत न हों पर क्रान्ति स्वयं अपने विकास के साथ सदैव असाधारण रूप से जटिल परिस्थितियों को जन्म देती है। क्रान्ति, एक सच्ची, आन्तरिक और

---

[1]V.I.Lenin, *Toward the Seizure of Power*. vol. I, pp. 224. 225. International Publishers, N.Y.. 1932.

मार्क्स के शब्दों में, 'जन-क्रान्ति', पुरातन सामाजिक व्यवस्था की मृत्यु और नयी व्यवस्था के जन्म की अविश्वसनीय रूप से जटिल और पीड़ादायक प्रक्रिया है, लाखों लोगों के जीवनों की पुनर्व्यवस्था की प्रक्रिया है। क्रान्ति सबसे तीक्ष्ण, सबसे प्रचण्ड और भीषण वर्ग-संघर्ष और गृह-युद्ध है। इतिहास में एक भी महान क्रान्ति गृह युद्ध से अछूती नहीं रही है और कोई भी व्यक्ति, जो बिलकुल अपने खोल के भीतर ही नहीं रहता, यह कल्पना नहीं कर सकता है कि गृह-युद्ध बिना 'असाधारण रूप से जटिल परिस्थितियों' के सम्भव है।

अगर असाधारण रूप से जटिल परिस्थितियां न हों, तो क्रान्ति हो ही नहीं सकती है। अगर आपको भेड़ियों से डर लगता है तो जंगल में मत जाइए।"[1]

यह था एक क्रान्तिकारी का लेख जो जानता था कि आगे क्या था। जिसने कीमत गिनी थी किन्तु उससे भयभीत न था। एक क्रान्तिकारी, जिसने श्रमिक वर्ग द्वारा श्रमिक वर्ग के लिए नियन्त्रित समाजवादी समाज के लक्ष्य को उस कीमत के योग्य समझा था, जिसे चुकाना आवश्यक था। क्योंकि लेनिन क्रान्ति की कला से परिचित थे, उन्हें विजय प्राप्त हुई।

यह हमारा सौभाग्य है कि जान रीड जैसा संवाददाता उन अधिकांश घटनाओं का प्रत्यक्ष साक्षी था, जो वहां घटित हुईं जिसे कम्युनिस्ट नयी सभ्यता कहते हैं। ***दस दिन, जिन्होंने संसार को हिला दिया*** में वह उस दहला देने वाले समय का एक अविस्मरणीय चित्र प्रस्तुत करता है। नवम्बर, 1917 की पेट्रोग्राद की सोवियत कांग्रेस की एक सभा का उसका विवरण इस प्रकार है: "अब लेनिन ने अपने हाथों से भाषण पढ़ने की मेज के सिरों को पकड़ा और अपनी छोटी-छोटी चंचल आंखों को सम्पूर्ण जन-समूह पर तेजी से दौड़ाते हुए आत्मविस्मृत-से जनता के जयजयकार के गर्जन में खोये हुए खड़े रहे जो कई मिनटों तक रहा। जब कोलाहल शान्त हुआ, उन्होंने केवल इतना कहा, 'हम अब समाजवादी व्यवस्था के निर्माण की ओर बढ़ेंगे'।"[2]

यह 1917 की बात है। लेनिन के अत्यन्त नाटकीय ढंग से "समाजवादी व्यवस्था" के निर्माण के आरम्भ की घोषणा करने के पन्द्रह वर्ष पश्चात् ***न्यूयार्क टाइम्स*** के संवाददाता वाल्टर डुराण्टी ने लिखा कि ढांचा तैयार हो चुका

[1] *Ibid.*, vol.11, pp. 40-41.
[2] John Reed, *Ten Days That Shook the World* (1919), p. 126. International Publihers, N.Y., 1926.

था। 1932 इस समाजवादी व्यवस्था के ढांचे की पूर्णता का चिन्ह कहा जा सकता है जो क्रान्तिकारियों का उद्देश्य रहा है।

भवन-निर्माण पूर्णता से अभी बहुत दूर है लेनिन इस्पात का ढांचा, जो समाजवाद के निर्मित भवन को संभालेगा, अब पूर्वीय आकाश के विरुद्ध स्थिर रूपरेखा के रूप में देखा जा सकता है। वित्त, उद्योग, और परिवहन, जन-स्वास्थ्य और मनोरंजन, कला और विज्ञान, वाणिज्य, कृषि, राष्ट्रीय जीवन का प्रत्येक अंग व्यक्तिगत लाभ के लिए व्यक्तिगत उद्योग के स्थान पर सामूहिक लाभ के लिए सामूहिक उद्योग के स्वच्छन्द सांचे के अनुकूल है।"[1]

श्री डुराण्टी ने अपनी अन्तिम पंक्ति में सोवियत कार्यक्रम के अनिवार्य अंग की ओर संकेत कर दिया है। मुख्य शब्द हैं "व्यक्तिगत" के स्थान पर "सामूहिक"। आपने आशा की होगी कि कार्ल मार्क्स के अनुयायियों ने अपनी समाजवादी व्यवस्था के निर्माण में सबसे पहला कदम उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के उन्मूलन का उठाया होगा। वस्तुतः यही हुआ। सोवियत संघ में भूमि, कारखाने, खानें, मिलें, मशीनें, बैंक, रेल-मार्ग आदि कुछ भी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहे। व्यवहारतः उत्पादन और वितरण के ये सभी साधन सरकार के हाथों में हैं अथवा सरकार द्वारा नियुक्त अथवा अनुमोदित समितियों के हाथों में।

यह आधारभूत बात है।

इसके वास्तविक महत्व को समझने के लिये हमें उसकी पूंजीवादी समाज के साथ तुलना करनी होगी। रूसियों के अनुसार इसका अर्थ यह है कि एक व्यक्ति दूसरे का शोषण नहीं कर सकता। अ, ब के श्रम से मुनाफा नहीं कमा सकता। इसका अर्थ यह है कि अब किसी के लिये धन के एकत्रीकरण की सीढ़ी द्वारा "उसके" श्रमिकों की पीठ पर चढ़ना सम्भव नहीं रहा; इसका अर्थ यह है कि अब किसी मोटर कार निर्माता के लिये यह सम्भव नहीं रहा कि वह एक दिन समाचार-पत्र में घोषणा करे कि जिसे सचमुच काम की आवश्यकता है, वह काम पा सकता है और दूसरे दिन वह अपना कारखाना बन्द करके 75,000 व्यक्तियों को काम से निकाल कर बेकार कर दे। वह ऐसा नहीं कर सकता है क्योंकि अब वे ***उसके*** कारखाने नहीं रहे—वे अब सामूहिक रूप से

[1]*New York Times Magazine*. Nov. 6. 1932.

सबके हैं। रूसी कहते हैं, इसका अर्थ यह है कि वर्ग-भेद मिटा दिये गये हैं—मालिक और मजदूर, पूंजीपति और सर्वहारा, धनी और निर्धन का भेद समाप्त हो गया है। "स्वत्वहर्त्ताओं का स्वत्वहरण हो गया है।"

22 अप्रैल, 1936 को ***न्यूयार्क टाइम्स*** को एक विशेष तार भेजते हुए मास्को के संवाददाता हैरोल्ड डेनी ने कम्युनिस्टों के इस गर्वपूर्ण दावे की रिपोर्ट भेजी:

सामाजिक वर्गों की समाप्ति पर रूसियों का उल्लास
प्रथम सोवियत उद्देश्य अधिकांशतः प्राप्त कर लिए गये
ऐण्ड्रूफ का कम्यूनिस्ट युवकों से कथन
उत्पादन लक्ष्य निकट
व्यक्तिगत उद्योग इस वर्ष यूनियन के केवल 1.5 प्रतिशत माल का निर्माण करेंगे

हैरोल्ड डेनी द्वारा
न्यूयार्क टाइम्स के लिये विशेष तार

मास्को, 21 अप्रैल—सोवियत समाजवादी प्रजातन्त्र संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के सेक्रेटरी ऐण्ड्रेइ ऐण्ड्रूफ ने आज यहां युवा कम्युनिस्ट लीग के अधिवेशन में बताया कि सोवियत राज्य ने कम्युनिज्म की अपनी यात्रा के प्रथम उद्देश्य की अधिकांश उपलब्धि प्राप्त कर ली है। उन्होंने कहा, देश के उत्पादक साधन अब प्रायः पूर्णतः समाजवादी हैं और वर्ग-भेद समाप्त कर दिये गये हैं।

सोवियत समाजवादी प्रजातन्त्र संघ में उत्पादित समस्त माल का 98.5 प्रतिशत उत्पादन इस बार राज्य द्वारा होगा और शेष केवल 1.5 प्रतिशत छोटे-छोटे हस्तशिल्प उद्योगों-जैसे, वस्त्रों, जूतों आदि के निर्माताओं द्वारा जो समाजीकरण से मुक्त रखे गये हैं। यद्यपि श्री ऐण्ड्रूफ ने कोई संकेत नहीं दिया किन्तु ये भी तेजी के साथ उन पर लगाये गये प्रतिषेधात्मक करों द्वारा अपने व्यापार से निकाले जा रहे हैं।

श्री ऐण्ड्रूफ ने घोषणा की कि उद्योगों के समाजीकरण और कृषि के सम्पूर्ण सामूहिकीकरण के साथ अब केवल एक ही वर्ग है। और वह है कामगर।[1]

[1]*New York Times*, April 22, 1936.

सोवियत संघ में असामाजीकृत उद्योग केवल 1.5 प्रतिशत शेष रहा! और समझने की बात यह है कि वह भी सामान्य अर्थों में पूंजीवादी उद्योग नहीं है, क्योंकि इसमें उत्पादक स्वयं काम करते हैं--काम करने के लिये अन्य लोगों को भाड़े पर नहीं रखा जाता। देश का शेष समस्त उत्पादक अंग-प्रत्यंग सामूहिक स्वामित्व में सरकार द्वारा व्यवस्थित होता है।

अब उत्पादन के साधनों के स्वामी के रूप में सोवियत संघ की सरकार के समक्ष सबसे बड़ा आर्थिक प्रश्न यह है कि उत्पादन क्या हो, कितना हो और उसका वितरण किस प्रकार हो। ये ऐसे निर्णय हैं जो समस्त देश के लिये होंगे। पूंजीवादी देशों में प्रत्येक पूंजीपति को अपनी पूंजी के विनियोजन से पूर्व इस प्रकार के निर्णय लेने पड़ते हैं। वह अपना रुपया मोटर कार फैक्टरी में लगाये, रेल-मार्ग के निर्माण में लगाये अथवा वस्त्रों का निर्माण करे? और वह कितना निर्माण करे और अपने कामगरों को कितना दे? इस प्रकार के लाखों-करोड़ों छोटे-छोटे निर्माणों के फलस्वरूप देश के कुल उत्पादन का निर्माण होता है। लेकिन ऐसा कुछ निश्चित नहीं है कि विशिष्ट अंग एक-दूसरे के अनुकूल होंगे ही। और अनुभव से हम जानते हैं कि कुछ वर्षों में ही गतिरोध उत्पन्न हो जाता है जब इन अंगों में अनुकूलता नहीं होती।

एक समाजवादी राज्य की सरकार पूंजीपति की स्थिति में होती है लेकिन सहस्र गुना रूप में। दूसरे शब्दों में, वह पूंजी की एकमात्र स्वामिनी होती है और ***प्रत्येक*** निर्णय उसे ही लेने होते हैं। समाजवादी सरकार समस्त विभिन्न अंगों, सहस्रों और विभिन्न जटिल आर्थिक गतिविधियों को परस्पर सामंजस्यपूर्ण ढंग से मिला कर इस प्रकार उसे एक-दूसरे के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करती है ताकि समस्त कार्य सहज गति से चल सके। और इस कार्य को सफल बनाने के लिए

रूस के पास एक योजना है।

''सोवियत साम्यवाद की सामाजिक रूप से सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति समस्त राष्ट्र के उत्पादन, वितरण और विनिमय का सोद्देश्य आयोजन है जो कुछ लोगों के मुनाफे को बढ़ाने के लिये नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज के उपभोग की वृद्धि के लिये होता है।....

एक बार प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण बाजार में उत्पादन के मुनाफाखोरी के उद्देश्य के साथ व्यक्तिगत स्वामित्व प्रतिवर्जित कर दिया जाता है तो प्रत्येक संस्थान को

विशेष निर्देश देना आवश्यक हो जाएगा कि उसे क्या उत्पादन करना है। यह आवश्यकता ही ... एक समूहवादी राज्य में किसी प्रकार का सामान्य आयोजन अनिवार्य बना देती है।"[1]

आपने बार-बार रूस की पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में सुना है। जब उन्होंने यह योजना पूरी कर ली तो उन्होंने अपनी द्वित्तीय पंचवर्षीय योजना आरम्भ की। और इस प्रकार योजनाओं का यह क्रम तब तक चलता रहेगा, जब तक कि रूस का सामाजीकरण नहीं हो जाएगा। जैसा कि सिडनी और बीट्रिस वेब ने उक्त उद्धरण में संकेत किया है, एक सामूहिक राज्य को योजना बनानी ही पड़ती है। समाजवादी अर्थ-तन्त्र आवश्यकता से ही आयोजित अर्थ-तन्त्र है अत: इस प्रकार का अर्थ-तन्त्र किस प्रकार काम करता है, इसके लिये हमें रूसी मॉडल की ही परीक्षा करनी होगी।

एक योजना में क्या सन्निहित है? जब आप और हम एक योजना बनाते हैं, जब कोई भी योजना बनाता है तो उसके दो भाग होते हैं-किस लिए और किस प्रकार-एक उद्देश्य और एक प्रणाली। लक्ष्य हमारी योजना का एक अंग है और उस लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग दूसरा अंग।

समाजवादी आयोजन में यही होता है। इसका एक उद्देश्य होता है और एक प्रणाली। लेकिन आरम्भ में ही, यह समझ लेना आवश्यक है कि समाजवादी आयोजन का उद्देश्य पूंजीवादी देशों के लक्ष्य से भिन्न है। इसे बेव द्वारा अपने सोवियत संघ के अध्ययन—***सोवियत साम्यवाद: एक नयी सभ्यता***? में बहुत अच्छी प्रकार प्रस्तुत किया है: "पूंजीवादी समाज में बड़े से बड़े व्यक्तिगत उद्योग का उद्देश्य भी इसके स्वामियों अथवा भागीदारों के लिये धनरूप में मुनाफा कमाना होता है; सोवियत रूस में, जिसे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद कहा जाता है, आयोजित होने वाला लक्ष्य नितान्त भिन्न होता है। उसमें कोई स्वामी अथवा भागीदार नहीं होते जिन्हें लाभान्वित करना होता है और न ही वहां कोई अर्थ-लाभ का ही विचार होता है। एक मात्र निर्धारित लक्ष्य, कालान्तर में सम्पूर्ण समाज की अधिकाधिक सुरक्षा और उसका कल्याण होता है।"[2]

अच्छी बात है। बड़ा ही व्यापक उद्देश्य है। उसे मूर्त-करना है। उस

[1]Sidney and Beatrice Webb, *Soviet Communism:A New civilization?* 2 vols., vol. II, pp. 602, 630, Charles Scribner's Sons, N.Y., 1936.
[2]*Ibid.*, p. 631.

अभिलक्षित लक्ष्य के अनुकूल विशिष्ट नीतियां अपनानी होंगी। लेकिन नीतियां सम्भावनाओं पर आधारित होनी चाहिए। और सम्भावनाओं की निश्चित माप केवल देश के पूर्ण और सही चित्र को प्राप्त करने पर ही हो सकती है।

राज्य योजना आयोग (गौसप्लान) का यही कार्य है।

उसका पहला काम है यह जानना कि सोवियत संघ में कौन, क्या, कहां किस प्रकार है। श्रम-शक्ति का परिमाण क्या है? सामूहिक यन्त्र की अवस्था क्या है? प्राकृतिक साधन क्या हैं? क्या हो चुका है? क्या हो सकता है? क्या उपलब्ध है? क्या आवश्यक है?

तथ्य, अंक और आंकड़े। विशाल प्रमाण में।

सोवियत रूस के विशाल भू-भाग की प्रत्येक संस्था से, प्रत्येक फैक्टरी, खेत, कारखाने, खान, अस्पताल, स्कूल, अनुसन्धान केन्द्र, श्रमिक-संघ, सहकारी संस्था, नाट्य-गृह—सभी से सर्वत्र इस विशाल क्षेत्र के प्रत्येक कोने से इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये गये। गत वर्ष आपने क्या किया? इस वर्ष क्या कर रहे हैं? आपको किस प्रकार की सहायता की आवश्यकता है? आप किस प्रकार की सहायता दे सकते हैं? और इसी प्रकार के सैकड़ों अन्य प्रश्न पूछे गये।

योजना आयोग के कार्यालय में यह समस्त सूचना आती रहती है जिसे विशेषज्ञों द्वारा एकत्रित, संगठित और क्रमबद्ध किया जाता है। "सोवियत संघ के योजना आयोग के सम्पूर्ण कार्यालय में इस समय लगभग दो सहस्र कुशल अंक-शास्त्री, विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक, प्राविधिक और उनके साथ उनके अधीन काम करने वाले उनसे अधिक लिपिक हैं। यह कार्यालय संसार में आंकड़ों सम्बन्धी खोज का सबसे विशाल और स्थायी कार्यालय है।"[1]

जब ये विशेषज्ञ एकत्रित सामग्री को छांट कर उसे क्रमबद्ध कर उसकी परीक्षा कर लेते हैं तो उनके पास सम्पूर्ण वस्तुओं का सही चित्र तैयार हो जाता है। लेकिन वह उनके कार्य का केवल एक भाग है। अब उन्हें इस बात पर विचार करना होता है कि कार्य किस प्रकार होना चाहिए। यहां पर आयोजकों को सहकारी विभागों के अध्यक्षों से मिलना होगा। "राज्य योजना आयोग के निष्कर्ष और मसौदे सरकार की स्वीकृति पर निर्भर थे। आयोजन-कार्य नेतृत्व के

[1]*Ibid.*, p. 625.

कार्य से पृथक कर दिया गया था और नेतृत्व आयोजन के अधीन न था।"[1]

निस्संदेह आयोजन नीति-निर्णय करने की आवश्यकता से निस्तार नहीं पाता जिन्हें उसे लागू करना होता है। नीति का निर्धारण सरकारी विभागाध्यक्षों द्वारा होता है और आयोजकों का कार्य है उनके द्वारा एकत्र सामग्री के आधार पर उस नीति को कार्यान्वित करने के लिये सबसे प्रभावशाली मार्ग का निर्माण करना। नेताओं और योजना आयोग के मध्य विचार-विमर्श से योजना का प्रथम प्रारूप तैयार होता है।

लेकिन वह केवल प्रथम प्रारूप है। यह योजना नहीं है। क्योंकि समाजवादी आयोजित अर्थ-तन्त्र में एक विज्ञ-मण्डल की योजना अपने आप में पर्याप्त नहीं है। यह सब लोगों के सम्मुख आनी चाहिए। यह अगला कदम है। योजना की तैयारी में, इस दूसरी अवस्था के सम्बन्ध में, इंग्लैण्ड में रूस के राजदूत आई. मैस्की कहते हैं: 'सब 'नियन्त्रण अंक' राष्ट्रीय अर्थ-तन्त्र से सम्बन्धित विभिन्न लोक-सेवा-विभागों, जैसे कि विशाल और लघु उद्योगों, वाणिज्य, परिवहन, विदेशी व्यापार आदि के लोक-सेवा-विभागों तथा अन्य केन्द्रीय परिषदों के पास अध्ययन और टिप्पणी के लिये विचारार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं। यहां से उन्हें प्रत्येक केन्द्रीय सत्ता अपने अधीन निचली परिषदों को अपनी योजना का सम्बन्धित अंश भेज देती है और अन्ततः योजना का सम्बन्धित भाग प्रत्येक फैक्टरी, अथवा कृषि-क्षेत्र तक जा पहुंचता है। प्रत्येक स्थान पर 'नियन्त्रण अंकों' की पूरी जांच होती है और उन पर विचार किया जाता है। जब वे राज्य योजना समिति से फैक्टरी अथवा सामूहिक कृषि-क्षेत्र तक की यात्रा के अन्तिम स्थान पर पहुंचते हैं तो सभी उत्साही कामगर अथवा किसान योजना पर विचार-विमर्श में सुझाव और प्रस्ताव करते हुए सक्रिय भाग लेते हैं। तत्पश्चात्, 'नियंत्रण अंक' फिर उसी मार्ग के वापिस लौटते हैं और अन्ततः अपने संशोधित अथवा संवर्द्धित रूप में राज्य योजना समिति के पास पहुंच जाते हैं।'"[2]

फैक्टरी में काम करने वाले मजदूर अथवा कृषि-क्षेत्रों पर काम करने वाले किसान योजना के गुण-दोषों पर अपनी राय प्रकट करते हैं। यह है वह चित्र

[1]*Socialist Planned Economy in the Soviet Union,* p. 24. Martin Lawrence, London, 1932.

[2]Quoted in *Social and Economic Planning,* by C.A. Macartney, p. 19. League of Nations Union, London, 1935.

जिस पर रूसियों को गर्व है, जो उचित ही है। प्राय: ऐसा होता है कि ये कामगर और किसान काम के अपने विशिष्ट क्षेत्र के नियन्त्रण अंकों से असहमत होते हैं। प्राय: वे एक प्रति-योजना विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं जिसमें वे यह बताने के लिये अपने अंक देते हैं कि वे उनसे आपेक्षित उत्पादन में वृद्धि कर सकते हैं। सर्वत्र करोड़ों रूसी नागरिकों द्वारा अस्थायी योजना पर इस विचार-विमर्श में रूसी वास्तविक प्रजातन्त्र के दर्शन करते हैं। जो काम किया जाना है, जो लक्ष्य प्राप्त करना है, उसकी योजना ऊपर से थोपी नहीं जाती है। कामगरों और किसानों की उसमें आवाज होती है। परिणाम क्या होता है? एक योग्य परिदर्शक यह उत्तर देता है: "जहां भी आप जाएं, कम से कम रूस के उन भागों में, जहां मैं गया, आप कामगरों को गर्वपूर्वक यह कहते सुनेंगे, 'यह हमारी फैक्टरी है; यह हमारा अस्पताल है; यह हमारा विश्राम-गृह है'; उसका अर्थ यह नहीं होता कि वे व्यक्तिगत रूप से उस विशिष्ट संस्थान के स्वामी हैं अपितु इसका अर्थ यह है कि यह प्रत्यक्षत: उनके लाभ के लिये... कार्य और उत्पादन कर रहा है... और वे इस बात से परिचित हैं; और इस बात से भी परिचित हैं कि वे किसी प्रकार से एक अंश तक इस बात का ध्यान रखने के उत्तरदायी हैं कि उसे उसके स्तर तक बनाये रखा जाये।"[1]

योजना की तैयारी की तीसरी अवस्था है लौटे हुए अंकों की अन्तिम परीक्षा। योजना आयोग और सरकारी विभागाध्यक्ष सुझावों और संशोधनों पर विचार कर आवश्यक परिवर्तन करते हैं और योजना तैयार हो जाती है। अपने अन्तिम रूप में, यह किसानों और कामगरों के पास सर्वत्र वापिस भेज दी जाती है और सम्पूर्ण राष्ट्र कार्य पूरा करने में अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ जुट जाता है। सामुदायिक हित के लिये सामुदायिक प्रयत्न एक वास्तविकता बन जाते हैं।

लेकिन सामुदायिक हित क्या हैं? वे कौन-सी नीतियां थीं जिन्हें सरकारी विभागाध्यक्ष सबसे प्राथमिक मानते थे। कुछ सामान्य उद्देश्य स्वयं ही उनके सम्मुख उठ खड़े हुए। रूस के अधिकांश निवासी अशिक्षित और अनपढ़ थे। अत: शिक्षा का एक सार्वजनिक कार्यक्रम योजना का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। सबके लिये मुफ्त शिक्षा, विश्वविद्यालयों में रहते हुए विद्यार्थियों के लिये मुफ्त निर्वाह के साथ प्रदान की गई। अधिकांश रूस निवासी स्वास्थ्य और

[1]"Life in Soviet Russia". M.I. Cole in *The Highway*, Dec., 1932, p. 15.

स्वास्थ्य-विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते थे। अत: योग्य डाक्टरों, नर्सों और शिक्षकों की सुविधा के साथ अस्पतालों, प्रसूतिका-गृहों, शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना द्वारा जीवन-स्तर को उन्नत करने का आन्दोलन योजना का एक आवश्यक अंग होना चाहिए। श्रमिकों के लिये विश्रान्ति-गृह, उद्यान, संग्रहालय, क्लब-भवन और इस प्रकार की अन्य सेवाएं योजना का अंग होनी चाहिए। वैज्ञानिक अनुसंधान के लिये संस्थान और प्रयोगशालाएं योजना का अंग होनी चाहिए। इस प्रकार की अनेक अन्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता था अत: ये योजना का अंग बन गईं। लेकिन निम्न प्रकार के प्रश्नों का उत्तर क्या दिया जा सकता था:

1- क्या यह एक श्रेष्ठ नीति होगी कि उन वस्तुओं के उत्पादन पर अपनी शक्ति केन्द्रित की जाए जो आज लोगों को भोजन, वस्त्र और आनन्दोपभोग प्रदान कर सके? अथवा क्या यह उचित होगा कि फैक्टरियों, शक्ति-यंत्रों, रेल-मार्गों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया जाए जिससे लोगों को अब तो कम मिलेगा लेकिन भविष्य में अधिक? उपभोज्य वस्तुओं के यन्त्रों के विकास का अर्थ आज की समृद्धि होगी किन्तु उत्पादक वस्तुओं के यन्त्रों के विकास का अर्थ कल की समृद्धि होगी। क्या श्रेष्ठ था?

2. क्या यह एक श्रेष्ठ नीति होगी कि उसी सम्भरण-सामग्री का उत्पादन करने में अपनी शक्ति केन्द्रित की जाए जो सबसे अच्छी हो सकती है, और जिसमें देश पिछड़ा हुआ है अथवा जिसका उत्पादन अच्छा नहीं हो सकता उसका आयात किया जाए? अथवा यह अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होगा कि अपनी सीमाओं के भीतर से ही अपना सम्भरण प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाए?

इन प्रश्नों का सोवियत उत्तर बहुत सीमा तक इस तथ्य द्वारा निर्धारित था कि समाजवादी देश के नाते इसे पूंजीवादी संसार के आक्रमण के खतरे का भय था। यह एक निराशावादी अनुमान नहीं था। ऐसा हो चुका था। 1918 से 1920 तक अमरीका सहित आधा दर्जन पूंजीवादी देश सशस्त्र सेनाओं के द्वारा बॉल्शेविक साम्यवादियों को पराभूत करने का प्रयत्न कर चुके थे। रूसी निश्चित थे कि ऐसा फिर होगा, विशेष रूप से यदि वे समाजवाद के निर्माण में सफल हो गये। क्योंकि तब पूंजीवादी सर्वत्र पहले से कहीं अधिक भयभीत हो जाएंगे कि कहीं उनके अपने देश में भी श्रमिक-वर्ग रूसी श्रमिकों का अनुगमन करते

हुए उन्हें सत्ता के पदों से गिरा न दे।

इस तथा अन्य कारणों से–उदाहरणार्थ, यह तथ्य कि कृषि-प्रधान समाज उतना ऊंचा जीवन-स्तर प्रदान नहीं कर सकता जितना कि औद्योगीकृत देश–रूसियों ने अपने आपको औद्योगीकरण में लगा दिया।

यह सरल न था। यह निर्णय वस्तुत: भविष्य के लिये वर्तमान सुविधाओं का बलिदान था। इसका अर्थ था साधनों के विशाल भाग को उत्पादक माल के उपस्करण के लिये निर्धारित कर देना जो लोगों को तत्काल रहने के लिये मकान, खाने के लिये पदार्थ, और पहनने के लिये वस्त्र नहीं देगा। एक देश के पास उपयोग के लिये श्रम और पूंजी की निश्चित मात्रा होती है। मान लीजिए वह एक वर्ष के लिये है। वह अपने समस्त श्रमिकों को ईंटें बनाने और मकानों के निर्माण में लगा सकता है, गेहूं पैदा करने और रोटियां पकाने में लगा सकता है, कपास उपजाने और वस्तु-निर्माण में लगा सकता है और तब सबके लिये प्राचुर्य हो जाएगा। ***लेकिन तब भी उससे अधिक नहीं होगा, जितना अब है।*** अगर वह अधिक पाना चाहता है, तो उसे अपने कुछ श्रमिक मशीनें बनाने, रेल-मार्ग बिछाने, फैक्टरियां तैयार करने, संक्षेप में, उत्पादक माल के उपस्करण में लगाने ही होंगे। इससे वह आगामी वर्ष अथवा आगामी कुछ वर्षों में अधिक रोटी, अधिक वस्त्र, अधिक मकान बना सकेगा। जिस मात्रा में आप भविष्य के लिये विनियोजित करने का निर्णय करते है, वही आपके आज के खाने और पहनने की मात्रा निर्धारित करेगा। रूस ने अनुभव किया कि वह अधिक कोयला या तो मकान गर्म करने के लिये पा सकता है अथवा बात-भट्ठियों को भरने के लिये, जो उसके लिये स्टील तैयार करेगी, जिससे मशीनें बनेंगी, जो शीघ्र और प्रचुर मात्रा में वस्त्रों के निर्माण के लिये स्वचालित करघे बनाएंगी। लेकिन वह दोनों बातें नहीं कर सकता था। उसने दूसरा मार्ग चुना। उपभोज्य वस्तुओं के मूल्य पर उत्पादक वस्तुओं का विकास किया गया। यही औद्योगीकरण का मार्ग था। यह सरल न था।

1 मार्च, 1936 को स्क्रिप्स-हावर्ड प्रेस के रॉय हावर्ड को दी गई मुलाकात में जोसेफ स्टालिन ने कहा कि यद्यपि औद्योगीकरण का मार्ग कठिन है तथापि यह सोवियत लक्ष्य का निर्धारक है। "अगर आप एक मकान बनाने जा रहे हैं तो आपको बचत करनी होगी और त्याग करना होगा। यह और भी सत्य है अगर

आप एक नया समाज बना रहे हैं।

आवश्यक साधनों को संचित करने के लिये अस्थायी रूप से अपनी मांगों को सीमित कर लेना हमारे लिये आवश्यक है; हमने यह त्याग सर्वश्रेष्ठ अर्थों में वास्तविक स्वतन्त्रता के विकास के निश्चित उद्देश्य के साथ किया है।"[1]

जब रूसियों ने तत्काल उपयोग के लिये उत्पादन में कटौती कर उत्पादक माल के उत्पादन को बढ़ाने का निर्णय किया तो वे कुछ "त्याग" कौन-से थे जो उन्हें करने पड़े? एक बात स्पष्ट थी कि उनके पास वर्तमान के लिये पर्याप्त वस्तुओं का उत्पादन करने के लिये पर्याप्त श्रम और पूंजी नहीं थी। रूस में सभी उपभोज्य वस्तुओं की भारी कमी थी। जैसे कि आप जानते हैं, यह एक ऐसा तथ्य था जो सोवियत यूनियन के अमित्र अतिथियों द्वारा अलक्ष्य नहीं रहा। चाय की एक केतली की अपेक्षा एक ट्रैक्टर अथवा एक कम्बल की अपेक्षा रेल-पटरी का एक स्लीपर प्राप्त करना अधिक सरल था। दुर्भाग्यवश रूसी ट्रैक्टर में चाय नहीं बना सकते थे। न स्लीपर को ओढ़ सकते थे। अत: जिन ट्रैक्टरों, फैक्टरियों, लोकोमोटिव इंजनों और पावर-स्टेशनों का वे निर्माण कर रहे थे, उनकी कीमत चुकाने के लिये उन्हें अपने पेट पर कसकर पट्टी बांधनी पड़ी और कहीं-कहीं यह भी पर्याप्त न था।

तथापि 27 मार्च, 1936 के न्यूयार्क टाइम्स के अनुसार अब ऐसे चिन्ह हैं कि सोवियत नागरिकों के लिये अच्छा समय निकट है। "क्रान्ति के पश्चात् पहली बार इस वर्ष यह कहा गया है कि उपभोज्य वस्तुओं के उत्पादन पर उत्पादन के साधनों की अपेक्षा अधिक सापेक्ष बल दिया जा रहा है। समाजवादी अर्थ-तन्त्र के निर्माण के पूर्व-चरणों में प्रत्येक वस्तु उत्पादक माल के निर्माण के अधीन थी।

"इस वर्ष की योजना में ... उपभोज्य वस्तुओं में 23 प्रतिशत और उत्पादन के साधनों में 22 प्रतिशत वृद्धि की व्यवस्था है।"[2]

एक तथ्य स्पष्ट समझ लें। उपभोज्य माल की अपेक्षा उत्पादक माल को पहले प्रमुखता देना राष्ट्रीय आयोजना का जन्मजात गुण नहीं है। उदाहरणार्थ, अगर अमरीका सामाजीकृत राष्ट्रीय आयोजना आरम्भ करे तो यह उसके लिये

[1] *New York World-Telegram*, March 4, 1935.
[2] *New York Times*, March 27, 1936.

बिल्कुल आवश्यक नहीं होगा। सोवियत यूनियन की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण ही यह केवल सोवियत योजना का एक अनिवार्य अंग था। अमरीका उत्पादक माल के उपस्करण में समृद्ध है, अतः व्यग्रक्षिप्रता और महान् त्याग के साथ उसका निर्माण ऐसी किसी योजना के लिये आवश्यक न होगा जो अमरीका में बनाई जाएगी।

लेकिन रूस रेल-मार्गों, मशीनों, फैक्टरियों और हर प्रकार के यंत्रों में निर्धन था। विश्व-युद्ध से पूर्व वहां जो थोड़ा था भी, वह प्रायः पूर्णतः उस युद्ध में, गृह-युद्ध में और संक्रान्ति काल में नष्ट हो गया। अतः क्रान्ति के पश्चात् रूस को व्यवहारतः बिल्कुल नये सिरे से आरम्भ करना था। इंग्लैण्ड, जर्मनी और अमरीका की तो बात छोड़िये इटली, स्वीडन, आस्ट्रेलिया जैसे देशों तक पहुंचने के लिये ही इसे बहुत लम्बा मार्ग तय करना था। वस्तुतः यह इतना लम्बा मार्ग था कि उन देशों तक पहुंचना लगभग असम्भव प्रतीत होता था। लेकिन रूसियों ने निर्णय किया कि रूस उन्हें पकड़ लेगा और शीघ्र ही। निस्सन्देह अभी वह नहीं पकड़ पाया है किन्तु निष्पक्ष दर्शक सर्वत्र सहमत हैं कि वह पथ पर है। 1932 में कैम्ब्रिज के एक प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री का मत इस प्रकार था (जिस गति से रूस बढ़ रहा है, उससे यह मत बहुत पुराना पड़ चुका है): "जो लक्ष्य निर्धारित किया गया था, वह इतना आश्चर्यजनक था कि समस्त पूंजीवादी संसार द्वारा उसका स्वागत अवहेलना और उपहास द्वारा ही हो सकता था। पूंजीवादी संसार की उपलिब्धयों के स्तर के अनुसार इसके लक्ष्य निश्चित रूप से उन्मादपूर्ण यूटोपियाई स्वप्न प्रतीत होते थे। युद्ध-पूर्व ब्रिटेन जैसा समृद्ध देश युद्ध से पूर्व अपनी राष्ट्रीय आय का लगभग 14 प्रतिशत नयी पूंजी के रूप में विनियोजित करता था। पंचवर्षीय योजना में सोवियत रूस ने अपनी राष्ट्रीय आय (जो अपेक्षाकृत निर्धन देश के लिये विस्मयकारी आय थी) का लगभग 30 प्रतिशत (पांच वर्षों की प्रति वर्ष औसत) विनियोजित करने का आयोजन किया। पूंजीवादी उद्योग में 'स्वाभाविक' समझी जाने वाली विश्व-उत्पादन की वार्षिक वृद्धि लगभग 3 प्रतिशत अनुमानित की गई थी। 1907 से 1913 के छः वर्षों में ब्रिटेन में यह वृद्धि 1.5 प्रतिशत से भी कम थी। 1925 से 1929 के 'बढ़ती' के चार वर्षों में यह पोलैण्ड और फ्रांस जैसे तेजी से बढ़ते हुए देशों में भी 9 प्रतिशत से अधिक नहीं हुई थी और अमरीका तथा ब्रिटेन में 4 प्रतिशत से कम

थी। पंचवर्षीय योजना में विशाल राज्य-उद्योगों की निपज में वार्षिक वृद्धि 20 प्रतिशत से अधिक रखी थी और समस्त (विशाल और लघु) उद्योगों में यह वृद्धि लगभग 17 से 18 प्रतिशत आंकी गई थी।"[1]

यह वृद्धि और भी असाधारण हो जाती है, जब हम अनुभव करते हैं कि औद्योगीकरण की इस अवधि में अन्य देशों से ऋण पूर्ववत् नहीं मिल रहे थे। व्यवहारत: संसार के प्रत्येक अन्य देश को औद्योगीकरण के पथ पर विदेशी पूंजी की सहायता प्राप्त हुई जिससे वह देश इस्पात, मशीनें आदि खरीदने में समर्थ हो सका है, जबकि वह इन वस्तुओं के निर्माण में अपने यंत्रों की रचना आरम्भ ही कर रहा था। अमरीका के औद्योगीकरण में ब्रिटिश पूंजी ने महत्वपूर्ण भाग लिया। दक्षिणी अमरीका में ब्रिटिश, जर्मन और अमरीकी ऋण आ रहे थे। जैसा कि हमने 19वें अध्याय में देखा है, अतिरिक्त पूंजी सर्वत्र निवेश के स्थानों की खोज में थी—रूस को छोड़कर सर्वत्र। दुष्ट बॉल्शेविकों के लिये पूंजीवादियों के पास न कोई रुपया था और न कोई उपयोग। जब रूसियों ने अन्तत: बहिष्कार तोड़कर कुछ आवश्यक ऋण का प्रबन्ध किया तो शर्तें अत्यन्त कठोर थीं—और किस प्रकार?

विदेशों से मंगाये हुए आवश्यक सामान की कीमतों का भुगतान किस प्रकार किया गया? सोवियत रूस में उद्योगों के निर्माण के लिये नितान्त आवश्यक पूंजी के एकत्रीकरण के साधन क्या थे? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है—और इसका उत्तर भी महत्वपूर्ण है।

धन का एक भाग सोवियत उद्योगों से ही प्राप्त हुआ।

पूंजीवादी समाज में एकत्रीकरण व्यक्तिगत होता है (यहां "व्यक्तिगत" में निकाय सम्मिलित हैं—जैसे, निगमों की सुरक्षित निधि, बैंक, आदि), जबकि समाजवादी समाज में उत्पादन की भांति एकत्रीकरण भी सामाजिक होता है। प्रत्येक उद्योग की निपज का एक निश्चित भाग केन्द्रीय वित्तीय संस्थानों में स्थानान्तरित कर दिया जाता है, जो, इस प्रकार, विकास के सम्पूर्ण उपलब्ध साधनों पर एकाकी नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। सोवियत संघ की योजना में कूपन काटने वालों, भाड़े, ब्याज अथवा लगान के रूप में आजीवन वृत्ति पाने वालों के लिये कोई स्थान नहीं है जो उद्योग के मुनाफे पर जीवित रखे जाते हैं।

[1]"Economist" in *The Highway,* Dec., 1932, p. 19.

सोवियत संघ में राज्य स्वयं आर्थिक गति-विधि के मुनाफे एकत्र करता है और इस निधि को उन मार्गों में निर्देशित कर देता है जो योजना के अनुसार सबसे अधिक उपयोगी होंगे।

"प्रत्येक उद्योग के विकास का एक भाग स्वचालित है और वह प्रत्येक उद्योग द्वारा रखे गये मुनाफे के भाग द्वारा जारी रखा जाता है। लेकिन प्रत्येक उद्योग के मुनाफे का शेष भाग संचालित होता है और उत्पादन तथा वितरण की सम्पूर्ण व्यवस्था के सतर्कतापूर्वक निर्देशित विकास के लिये (अन्य केन्द्रीय एकत्रीकृत कोष के साथ मिलाकर) प्रयुक्त होता है। आर्थिक विकास का ऐसा नियन्त्रण केन्द्रीय योजना के संगठन का महत्वपूर्ण पहलू है।"[1]

निस्संदेह, व्यक्तिगत बचत की भी थोड़ी रकम होती है लेकिन, क्योंकि अधिकांश बचत मुनाफे से प्राप्त होती है और व्यक्तिगत अर्थों में कोई मुनाफा नहीं है, अत: सोवियत संघ में बचत एक सामाजिक कार्य है, पूंजीपति की मजबूत पकड़ नहीं।

पूंजी के एकत्रीकरण का एक साधन यह था। आवश्यक औद्योगिक सम्भरण के लिये रुपया प्राप्त करने का अन्य महत्वपूर्ण मार्ग विदेशी व्यापार था।

अगर रूस को आत्म-निर्भर होना था तो उसके लिये अत्यन्त आवश्यक कारें, ट्रैक्टर, लोकोमोटिव, मशीनों के निर्माण की मशीनें, आदि विदेशों से रूसी गेहूं, तेल, खनिज पदार्थ, लकड़ी और फर के विनिमय से उपलब्ध हो सकती थीं। गहन औद्योगीकरण का अर्थ यह नहीं था कि रूसी गेहूं उगाना अथवा तेल और खनिज पदार्थों के लिये भूमि खोदना अथवा लकड़ी काटना अथवा फर वाले पशुओं को पकड़ना बन्द करने जा रहे थे। इसके विपरीत, इन कार्यों का और भी विस्तार किया गया और इनमें बड़े पैमाने पर सुधार किये गये। उन्नीसवीं शताब्दी के अकुशल तरीकों के स्थान पर बीसवीं शताब्दी की नवीनतम विधियां अपनायी गईं। जो यन्त्रीकरण और वैज्ञानिक प्रणाली उद्योगों में अपनाई गई थी, वही कृषि और खनिज में भी लायी गई। सर्वत्र योजना की रेखा पर समस्त कर्मशक्ति उत्पादन को बढ़ाने में जुटी हुई थी। रूस के "प्राकृतिक" उत्पादन के निर्यात द्वारा औद्योगिक आवश्यकताओं का आयात सम्भव बनाया गया था।

निस्संदेह, इसका अर्थ यह था कि विदेशी व्यापार आवश्यक था और उसे

[1]Emile Burns, *Russia's Productive System.* p. 234. Gollanez, London, 1930.

सामान्य योजना का अंग बनाना था। ऐसा ही हुआ।

योजना आयोग पूर्णत: यह निश्चित करता था कि विदेशों से सोवियत रूस में क्या आता है और यहां से क्या बाहर विदेशों को जाता है। अगर सामूहिक क्षेत्र जिस प्रकार चाहें उसी प्रकार, सम्पूर्ण व्यवस्था से सम्बन्ध न रखकर अपने लिये अमरीका से कृषि-सम्बन्धी मशीनें मंगवाएं; अगर विद्युत-उद्योग जर्मनी से अपने उपस्करण प्राप्त करें; अगर सूती मिल इंग्लैण्ड से अपने लिये तकुए खरीदें तो सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जाएगा। योजना आयोग के पास उत्पादन की एक योजना है और विदेशी व्यापार उस योजना का अभिन्न अंग है। उसे कुछ व्यक्तिगत निकायों के हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता कि प्रत्येक निकाय राष्ट्रीय अर्थ-तन्त्र की आवश्यकताओं को भूल कर स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी आवश्यकता के अनुसार खरीदता रहे और जो बेच सके, बेचता रहे। अत: जिस प्रकार योजना में बैंकों, रेल-मार्गों, उत्पादन के सामान्य साधनों के नियन्त्रण की व्यवस्था है, उसी प्रकार विदेशी व्यापार पर भी राज्य का एकाधिकार है।

यह एक रोचक तथ्य है कि फ्रांसीसी क्रान्ति के समय सूत्रबद्ध कम्यूनिस्ट राज्य के लिये अपनी योजना में बैबुफ ने विदेशी व्यापार पर राज्य के एकाधिकार की आवश्यकता अनुभव की: "विदेशों के साथ समस्त निजी व्यापार निषिद्ध है: इस ढंग से देश में आने वाली पण्य-वस्तुएं राष्ट्रीय समाज के हित के लिये राज्याधिकृत कर ली जाएंगी... प्रजातन्त्र ... अन्य राष्ट्रों के उत्पादनों ... के साथ अपने अतिरिक्त... उत्पादन के विनिमय द्वारा राष्ट्रीय समाज के लिये उन वस्तुओं को प्राप्त करेगा जिनकी उसे आवश्यकता है।"[1]

तथापि सोवियत सरकार का, समाजवाद पर आयोजित अर्थ-तन्त्र के आधारभूत अंग के रूप में विदेशी व्यापार के एकाधिकार के साथ भी अपने आयात और निर्यात पर पूर्ण अधिकार नहीं है। जब तक उसे अनियोजित आर्थिक व्यवस्थाओं वाले विदेशों के साथ व्यापार करना है, तब तक न यह कभी होगा ही। जो कुछ उनके अपने संसार में होता है, उस पर रूसी नियन्त्रण कर सकते हैं पर वे उस पर नियन्त्रण नहीं कर सकते जो शेष संसार से घटित होता है। पंचवर्षीय योजना की अवधि में यह स्पष्ट हो गया।

[1]E. Belfort Bax, *The Last Episode of the French Revolution, Being a History of Gracchus, Babeuf and the Conspiracy of Equals,* p. 132. Grant Richards, London, 1911.

योजना आयोग ने विदेशों से कुछ मशीनें खरीदने का निर्णय किया। वह उस समय की कीमतों के अनुसार उन्हें खरीदने के लिये आर्डर दे चुका था और उसने कई वर्षों के लिये अपने घरेलू उत्पादन का एक निश्चित भाग उन मशीनों का मूल्य चुकाने के लिये निर्यात के लिये निश्चित कर रखा था।

ठीक ही है। वे जो चाहते थे, उसके लिये अनुबन्धों पर उन्होंने हस्ताक्षर कर दिये थे और उन्होंने भुगतान के साधनों की व्यवस्था कर रखी थी। सब कुछ सुहावना प्रतीत होता था।

लेकिन जब अनुबन्ध अभी चल ही रहे थे, संसार के पूंजीवादी देशों में 1929 के आर्थिक संकट का आगमन हुआ। इसका अर्थ यह था कि जो माल रूस निर्यात कर रहा था, उसकी कीमतें विध्वंसात्मक रूप से गिर गईं। मान लीजिये कि योजना आयोग ने जिन मशीनों का आर्डर दिया था उनके लिए उसने 10,000,000 डालर देने का अनुबन्ध किया था। अब मान लीजिए कि योजना आयोग ने विनिमय में निर्यात का निर्णय इस प्रकार किया था:

2,000,000 बुशल गेहूं 1 डालर प्रति बुशल की दर से	.. ..	2,000,000 डालर
1,000,000 फर की खाल 3 डालर प्रति खाल की दर से	.. ..	3,000,000 डालर
2,500,000 बैरल तेल 2 डालर प्रति बैरल की दर से	.. ..	5,000,000 डालर
	कुल	10,000,000 डालर

अब आर्थिक संकट के कारण गेहूं की कीमत 50 सेण्ट हो जाती है। लोग फर खरीदेंगे ही नहीं जब कि उन्हें मानो भेंट में न दे दी जाए और तेल की कीमतें इतनी गिर जाती हैं जो कभी सुनी ही नहीं गई थीं।

सोवियत सरकार क्या कर सकती थी? उसे मशीनों की आवश्यकता थी और उसे उनके लिये निर्यात द्वारा कीमतें चुकानी थीं। (यदि पहले की ऊंची कीमतों पर कोई अनुबन्ध न होता, तो भी औद्योगिक कीमतें इतनी नहीं गिरीं अथवा जिन उत्पादनों को रूस को बेचना था, उनकी कीमतों के बराबर नहीं गिरीं।) रूस को उससे लगभग दूना निर्यात करना पड़ा, जितना आयोजित था।

उसे रूस की जनता को कहना पड़ा: "आपको अपना पेट और कस कर बांधना होगा। उन पूंजीवादी देशों ने ऐसा बखेड़ा खड़ा कर दिया है कि विश्व में कीमतें बुरी तरह गिर गई हैं और वे हमारे गेहूं के बदले हमें पहले से केवल आधा ही देंगे। अत: अपने वचनों को पूरा करने के लिये हमें पहले से दुगुना निर्यात करना होगा।"

साधारणत: यही कुछ हुआ। सोवियत संघ ने अपने देश के संकट के विरुद्ध योजना बनाई तथापि उसने अपने आपको पूंजीवादी देशों के संकटों के प्रभाव से विषादग्रस्त पाया। रूस के बाहर का संकट योजना के विसंतुलन के लिये बाह्य उपादान था।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण वे गड़बड़ियां थीं जो आन्तरिक उपादानों से उत्पन्न हो सकती थीं। उनमें से कुछ नियन्त्रणीय थीं और कुछ नियन्त्रण से बाहर। क्योंकि समस्त आर्थिक गति-विधियों की सोद्देश्य आयोजना का अर्थ है कि प्रत्येक अंग का संचालन दूसरे अंग के साथ होता है, अत: एक पहिये का दांता टूट जाने पर उसका निश्चित प्रभाव हर अन्य पहिये पर पड़ेगा। मान लीजिए कि रूस के कपास के कीड़े ने कपास की अधिकांश उपज नष्ट कर दी है। इसकी तत्काल प्रतिक्रिया वस्त्र-निर्माण पर होगी। अगर योजना में कपास के निर्यात की आवश्यकता है, तो इसका प्रभाव विदेशी व्यापार पर पड़ेगा। सोवियत अर्थशास्त्रियों ने अनुभव से सीखा है कि "राष्ट्रीय अर्थ-तन्त्र के सभी अवयवों में घनिष्ठ अन्त:सम्बन्ध होने के परिणामस्वरूप दीवार में कहीं कोई दरार अथवा योजना के किसी एक खण्ड में प्रत्यावर्तन अन्य अनेक खण्डों को प्रभावित करता है, भले ही वे खण्ड अपने आप में कितनी ही अच्छी तरह काम क्यों न कर रहे हों। योजना के किसी एक स्थान में प्रत्येक गम्भीर व्यतिक्रम से अन्य स्थान में समन्वयात्मक कार्यवाही करना आवश्यक हो जाता है।"[1]

यही खतरा है—और उसका उपाय भी। आयोजकों के पास एक अतिरिक्त संचय होना चाहिए जो उस आघात को सहन कर सके जो योजना पर कहीं भी पड़ता है। उन्हें दुर्घटनाओं को हिसाब में लेना होगा। उन्हें वे आंकड़े एकत्र करने होंगे जो गत घटनाओं के उतार-चढ़ाव बतला सकें और उस सूचना के आधार पर वे अनुमान लगा सकें कि क्या घटित होने की सम्भावना हो सकती है।

[1]*Socialist Planned Economy, op. cit.*, pp. 46, 47.

लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। उन्हें तैयार रहना चाहिए कि यदि सम्भावनाएं घटित नहीं होतीं तो वे "समन्वयात्मक कार्यवाही" कर सकें।

कागजों पर समन्वयात्मक कार्यवाही सरल है। परन्तु वास्तविकता में समन्वय कठिन है और रूसियों ने अनेक बार इसके अभाव का मूल्य चुकाया है। वेब एक उदाहरण देता है: "व्यापक प्रचार के पश्चात् जब 1 मई, 1932 को (गोर्की में मोटर-कारों के निर्माण के लिये) फैक्टरी खुली तो सम्पूर्ण उद्योग हठपूर्वक ठप्प हो गया। फोर्ड के प्रतिरूप बना विशाल भवन बहुमूल्य मशीनों से भरा हुआ था। सहस्रों कामगर एकत्र किये गये थे और उनके नाम मजदूरों की सूची में चढ़ा दिये गये थे। लेकिन वाहक (Conveyer) ने ... चलने से इन्कार कर दिया... जिस आधार पर वह स्थापित था, वह पोली नींव के कारण अनेक स्थानों पर धसक गया था... और अगर वाहक को चला भी दिया जाता और वह विशाल पट्टी घूमती तो उस पर एक-एक कर जोड़े जाने वाले विभिन्न श्रेणी के संघटकों के पूर्ण सामान में से वहां कुछ भी न था।"[1]

अकुशलता, निर्देशन और समन्वय के अभाव का यह एक प्रमुख उदाहरण है। लेकिन क्या इसका दोष राष्ट्रीय आयोजना पर थोपना उचित है? क्या इसे उद्योगों में रूसियों की अनुभवहीनता न समझी जाए? वेब आगे बताता है कि समय के साथ पाठ सीख लिया गया है, और रूस में नयी फैक्टरियां अब क्रिया-विधि के पहले दिन ही ठीक प्रकार से कार्य करने लगती हैं। अगर अमरीका में राष्ट्रीय आयोजनों का आगमन होता तो विश्वास के साथ माना जा सकता है कि वहां समन्वय की योग्यता का अभाव नहीं होगा। यह पहले ही वहां बड़ी मात्रा में विद्यमान है, यह फौरचून के सम्पादकों के बयान से सिद्ध है कि संयुक्त राज्य स्टील निगम की दो स्टील कम्पनियां "इतना स्टील तैयार कर सकती हैं जितना इंग्लैंड और जर्मनी ने मिलकर 1935 में उत्पादित किया था।"[2] स्पष्ट है कि अगर संयुक्त-राज्य स्टील निगम में औद्योगिक संगठन की सबसे कठिन समस्या के लिए पर्याप्त समन्वय की योग्यता न होती, तो यह नहीं किया जा सकता था। अत: यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि राष्ट्रीय आयोजना असम्भव है, क्योंकि समस्त अंगों को एक साथ लाना बहुत बड़ा काम है।

लेकिन अन्य तर्क भी हैं। एक "समाजीकृत राष्ट्रीय आयोजना" के

[1]Webbs, *op. cit.*, vol. II, p. 786.
[2]*Fortune*, March, 1936, p. 200.

"समाजीकृत" शब्द के विरुद्ध प्रस्तुत किया जाता है और दूसरा "राष्ट्रीय आयोजना" शब्दों के विरुद्ध।

यह तर्क दिया जाता है कि समाजवाद काम नहीं कर सकता क्योंकि मुनाफे का उद्देश्य न रहने से लोगों को अपनी सर्वश्रेष्ठ योग्यता दिखाने, नये तरीकों पर प्रयत्न करने और जोखिम लेने का प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। परिणामस्वरूप आर्थिक जीवन निष्क्रिय हो जाएगा।

रूसियों का उत्तर है कि यह बिल्कुल बेहूदापन है। वे इस तथ्य की ओर हमें ले जाते हैं कि पूंजीवादी समाज में अधिकांश काम उन लोगों द्वारा किया जाता है जो मुनाफा कमाने की स्थिति में नहीं हैं। ये वे लोग हैं जो दिन-रात केवल मजदूरी के लिए काम करते हैं। अधिकांश लोग इसलिए काम करते हैं कि उन्हें जीविका कमानी पड़ती है। यह सर्वत्र लागू होता है—रूस में भी और पूंजीवादी संसार में भी। इसके अतिरिक्त रूस में, सामाजिक दबाव, सामाजिक मान और सम्मान, जो अच्छे कामगरों को प्राप्त होता है, कामगर को अपनी सर्वश्रेष्ठ योग्यता से काम करने का प्रलोभन देने में सहायक होते हैं। समाजवादियों का दावा है कि उनका प्रोत्साहन पूंजीवाद में प्राप्त प्रोत्साहन से कहीं अधिक उत्पादक है। रूसी उचित गर्व के साथ श्रमिकों की विभिन्न पातों की ओर हमारा ध्यान दिलाते हैं जो आर्थिक मोर्चे के किसी भी दुर्बल स्थल पर सहायता करने के लिए स्वेच्छा से बिना कुछ पाये काम करते हैं। 1919 में लेनिन "सुब्बोट्निकों" द्वारा प्रभावित हुए था, जिनका महत्व इस प्रकार आंका गया "कम्युनिस्ट 'सुब्बोट्निकों' का असाधारण ऐतिहासिक महत्व है... अन्तिम विश्लेषण श्रम-उत्पादकता नयी सामाजिक व्यवस्था की विजय में प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण उपकरण है। पूंजीवाद ने श्रम-उत्पादकता की एक मात्रा को जन्म दिया है जो भूदासता में अपरिचित थी। पूंजीवाद समाप्त किया जा सकता है और अन्ततः इस तथ्य द्वारा समाप्त कर दिया जाएगा कि समाजवाद एक नयी और अधिक ऊंची श्रम-उत्पादकता को जन्म देगा। यह एक अत्यन्त कठिन विषय है और काफी समय लेगा।... कम्युनिज्म का अर्थ है पूंजीवाद की तुलना में उन्नत तकनीक का प्रयोग करते हुए स्वेच्छापूर्ण, सचेत संगठित कामगरों की अधिक ऊंची श्रम-उत्पादकता।"[1]

[1]Quoted in Webbs, *op. cit.*, vol. II, p. 758.

"समाज-निष्ठ प्रतिद्वन्द्विता" श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने का एक अन्य मार्ग है। कामगरों की टोलियां मित्रतापूर्ण प्रतिस्पर्धा में निपज बढ़ाने के लिए परस्पर होड़ लगाती है जब प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हो जाती है तो जीतने वाली टोली वह करती है जो किसी भी विजेता पक्ष ने कभी कहीं भी नहीं किया है—वह हारने वालों की मदद के लिए जाती है और उन्हें बताती है कि अगली बार किस प्रकार विजय पाई जा सकती है। जब रुपयों का लाभ नहीं मिलेगा तो लोग काम करेंगे। कुछ भी हो, रूसी कहते हैं, कोई कारण नहीं कि समाजवादी आयोजित अर्थ-तन्त्र में अच्छे प्रयत्नों को बोनस, प्रीमियम, मुफ्त छुट्टियों आदि द्वारा पुरस्कृत न किया जाये। यह सब रूसी आर्थिक जीवन में सामान्य है।

कम से कम ***मैन्चेस्टर गार्जियन*** विश्वास करता है कि रूसी बिना मुनाफे के प्रोत्साहन के लोगों को काम में लगाने के अपने प्रयत्नों में सफल हो रहे हैं। 20 फरवरी, 1936 के एक सम्पादकीय में कहा गया: "सन्देहवादी संसार को यह स्वीकार करना होगा कि सामूहिक स्वामित्व जीवित है; इसने एक नये प्रकार की देश-भक्ति और नये प्रोत्साहन तथा.... श्रम को... जन्म दिया है। यह पादरी या पैगम्बरों का समाजवाद भले ही न हो पर यह काम करता है।"[1]

दूसरे तर्क के लिए कि प्रतिद्वन्द्विता के अभाव में प्रयोगों के लिए जोखिम लेने के लिए, नये तरीकों पर प्रयत्न करने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं होगा, रूसी केवल इतना कहते हैं: "हमारे कार्य देख लीजिए।" उनका तर्क है कि संसार में कहीं भी प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोगों पर इतना रुपया और प्रयत्न व्यय नहीं हो रहा है। उनका तर्क है, क्योंकि उनका आर्थिक जीवन पर पूर्ण नियन्त्रण है, अत: वे नये विचारों और तरीकों के साथ वे अवसर ले सकते हैं जो पूंजीवादी देशों में, प्रतिद्वन्द्विता में लगे हुए उद्योग कभी लेने का साहस नहीं कर सकते। उनके तर्क की पुष्टि वेब के इस उत्साहपूर्ण बयान से होती है। "बड़े अथवा छोटे कामों में नेतृत्व का अभाव दिखाना तो दूर रहा, नये विकास-कार्यों में जोखिम लेना अस्वीकार करना तो दूर रहा सोवियत साम्यवाद सभी सभी क्षेत्रों में व्यापक नेतृत्व लेता हुआ सिद्ध हुआ है। सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र संघ का कोई भी विद्यार्थी इस बात से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता कि उद्योग, विज्ञान, कला के विभिन्न क्षेत्रों और सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन की आकांक्षा और साहस

[1] *Manchester Guardian*, Feb. 20, 1936.

की भावना अमरीका की तुलना में भी अधिक दिखाई देती है।''[1]

राष्ट्रीय आयोजना के लिए अर्थशास्त्रियों की आपत्ति भिन्न आधार पर है। उनका तर्क है कि जहां राष्ट्रीय आयोजना है, वहां स्वतंत्र बाजार नहीं रहता; स्वतंत्र बाजार के अभाव में, कीमतों की व्यवस्था असम्भव हो जाती है; कीमतों की व्यवस्था का अभाव युक्ति-युक्त अर्थ-तंत्र को समाप्त कर देता है; क्योंकि कीमतें वस्तुओं की मांग के सम्बन्ध में सापेक्ष दुर्बलता को निश्चित करती हैं और उनके बिना वस्तुओं के उत्पादन का आपका विकल्प स्वेच्छाचारी और अव्यवस्थित हो जाता है और इसलिए अलाभकारक भी। आप अपने साधन कुछ ऐसी वस्तुओं पर व्यय करेंगे जिनकी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा आपको कम आवश्यकता हो, क्योंकि आपके पास आपका मार्ग-दर्शन करने वाली कीमतें नहीं हैं।

पूंजीवाद में बाजार की कीमतें कालान्तर में उत्पादन की प्रणालियों का मार्गदर्शन करती हैं। जब किसी वस्तु की अधिक आवश्यकता पड़ती है तो कीमतें चढ़ जाती हैं और जब कम आवश्कयता हो तो कीमतें गिर जाती हैं। जिसका अर्थ यह है कि वस्तुओं का निर्माण हो अथवा न हो, यह लोगों की आवश्यकता के अनुसार होता है। अर्थशास्त्रियों का प्रश्न है कि इस प्रकार की कीमतों की व्यवस्था के अभाव में, आप यह किस प्रकार निर्णय करेंगे कि लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनी पूंजी का विनियोजन कहां किया जाए?

राष्ट्रीय आयोजक इस आलोचना का उत्तर देते हुए इस बात को अस्वीकार करते हैं कि कीमतों की व्यवस्था वह सब करती है जिसका दावा किया जाता है। उनका तर्क है कि लोग जो कुछ चाहते हैं, उसके अनुसार कीमतें नहीं चलतीं अपितु कुछ लोग जो कीमतें चुका सकते हैं, उनके अनुसार कीमतें निर्धारित होती हैं। उनका मत है कि कीमतों की व्यवस्था का कार्य केवल उन लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करना है जिनके पास उन वस्तुओं के लिए देने को रुपया है जो वे चाहते हैं।

राष्ट्रीय आयोजकों का अन्य उत्तर यह है कि बाजार की कीमतें-साधनों का सबसे युक्तिपूर्ण उपयोग-पूंजीवाद के अन्तर्गत ऊंचे करों, अनुदानों, एकाधिकारों आदि के द्वारा नियन्त्रित और कृत्रिम कीमतों के साथ पर्याप्त मात्रा में अव्यस्थित हो जाता है। अतः शुद्ध पूंजीवाद, जिसमें प्रत्येक वस्तु

[1]Webbs, *op. cit.*, pp. 794, 795.

कीमत-प्रणाली के अन्तर्गत सहज और पूर्ण रूप से काम करती है, कभी भी वास्तविक जीवन में नहीं रहा अपितु इसका अस्तित्व केवल बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों की पुस्तकों में मिलता है। अगर यह प्रणाली इतनी अच्छी तरह काम करे तो कभी आर्थिक संकट उत्पन्न न हों।

पक्ष-समर्थन में, राष्ट्रीय आयोजकों का कथन है कि मांग और सम्भरण के समन्वय का उनका भी एक ढंग है। योजना आयोग सम्पूर्ण देश से मासिक साप्ताहिक और दैनिक प्रतिवेदन प्राप्त करता है जो इस सम्बन्ध को सूची-बद्ध करते हैं कि लोग क्या चाहते हैं और क्या पा रहे हैं। मान लीजिए, योजना में बीस लाख जूतों के जोड़ों के उत्पादन और पांच लाख नये मकानों के निर्माण की व्यवस्था है। मान लीजिए, शिकायतें आती हैं कि जूतों के जोड़े काफी नहीं हैं जबकि दूसरी ओर लोग नये मकानों में जाने के लिए उत्सुक नहीं हैं। योजना में "देने" का पर्याप्त स्थान है। उसे हठपूर्वक स्थिर नहीं रहना है। श्रम और पूंजी मकानों के निर्माण से हटाकर जूतों के निर्माण में लगायी जा सकती है—निस्संदेह एकाएक नहीं, लेकिन उतनी ही तेजी के साथ जितनी तेजी से पूंजीवाद में सम्भव है।

तथापि, एक अन्य प्रश्न पूंजीवादी आलोचक पूछ सकता है। अगर योजना आयोग को विद्युत कोयला खणक और स्वचालित करघे खरीदने हैं और उसके पास इतना धन नहीं कि वह दोनों खरीद सके तो किस आधार पर वह इनमें से एक को प्राथमिकता देगा? केन्द्रीय सत्ता को प्रतिद्वन्द्वी उद्देश्यों के लिए सीमित साधनों के वितरण की समस्या पर निर्णय ***करना होगा***। रूसी इसे स्वीकार करते हैं। लेकिन उनका मत है कि अगर आप समाजवादी राष्ट्रीय आयोजना और स्वतंत्र बाजार दोनों नहीं रख सकते और अगर स्वतंत्र बाजार का अभाव साधनों का सबसे लाभकारी उपयोग प्रदान नहीं कर सकता, तो भी इससे आप बहुत कुछ प्राप्त करते हैं। यह आपको कुछ थोड़े-से लोगों द्वारा अपरिमित मुनाफों के उपार्जन के विरुद्ध अधिकांश के लिए सुरक्षा, समानता और शोषण का अभाव प्रदान करता है। रूसियों का विचार है कि धन का अधिक समान वितरण "दो राष्ट्रों"—धनी और निर्धन—की अपेक्षा अधिक वांछनीय है। वे एक आयोजित व्यवस्था के अन्तर्गत सुरक्षित, यथोचित और सुव्यवस्थित जीवन को अनियोजित अर्थ-तंत्र की बढ़ती और मन्दी से अधिक अच्छा समझते हैं।

1929 में जो गतिरोध उत्पन्न हुआ वह प्राय: विश्व-संकट कहा जाता है।

हमें बताया जाता है कि उत्पादन के पक्षाघात ने अपने साथ बेकारी और जन-समूह के कष्टों से विश्व के प्रत्येक भू-भाग को प्रभावित किया। तथापि, रूसियों का तर्क है कि यह सत्य नहीं है। आर्थिक संकट एक देश को छोड़कर शेष समस्त विश्व को तूफान की लहरों की तरह बहा ले गया। सोवियत संघ के तट से ये लहरें टकरायीं—और लौट गईं। रूस-वासी अपने समाजवादी आयोजित अर्थ-तंत्र के बांध के पीछे सुरक्षित रहे।

* * * *

जब यह अध्याय लिखा जा रहा है, सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र संघ के नये संविधान के पूर्ण होने के समाचार प्राप्त हुए। नया संविधान तत्काल ही लागू नहीं कर दिया गया। इससे पहले वह सम्पूर्ण सोवियत संघ के समस्त लोगों के पास विचार-विमर्श, आलोचना और संशोधन के लिए विचारार्थ प्रस्तुत किया जाना था। उसके पहले प्रारूप में कुछ महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं इस प्रकार हैं:

"धारा 1: सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र संघ कामगरों और किसानों का समाजवादी राज्य है।

धारा 4: सोवियत संघ का आर्थिक आधार अर्थ-तन्त्र की पूंजीवादी व्यवस्था के समापन, उत्पादन के साधनों और उपकरणों के निजी स्वामित्व तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के उन्मूलन के फलस्वरूप दृढ़तापूर्वक स्थापित उत्पादन के साधनों और उपकरणों के समाजवादी स्वामित्व पर आश्रित है।

धारा 11: सोवियत संघ का आर्थिक जीवन जन-स्वास्थ्य में वृद्धि, श्रमिकों के भौतिक और सांस्कृतिक स्तर में सतत् उन्नति और सोवियत संघ की स्वतंत्रता और उसकी सुरक्षा-क्षमता को दृढ़ बनाने के उद्देश्य के लिये राष्ट्रीय आर्थिक राज्य योजना द्वारा निर्धारित और निर्देशित है।

धारा 118: सोवियत संघ के नागरिकों को काम करने—काम के गुण और परिमाण के अनुसार वेतन पर काम प्राप्त करने का अधिकार है।

राष्ट्रीय अर्थ-तन्त्र का समाजवादी संगठन, सोवियत समाज की उत्पादक शक्तियों का सतत विकास, आर्थिक संकट-कालों का अभाव और बेकारी का उन्मूलन काम करने के अधिकार का विश्वास दिलाता है।"[1]

---

[1]*New York Times*, June 26, 1936.

22. बन्दर की मुट्ठी

पश्चिमी संसार को समृद्धि में दरिद्रता के विरोधाभास का सामना करना पड़ रहा था।

प्रश्न था कि इस संबंध में क्या किया जाए।

पूंजीवाद के ह्रास के कारण उत्पन्न अस्त-व्यस्तता के स्थान पर किसी व्यवस्था की स्थापना के लिए कुछ न कुछ करना जरूरी हो गया। ह्रास लगभग पूर्ण था—ऋण-व्यवस्था भंग हो चुकी थी, उद्योग ठप्प था, लाखों व्यक्ति बेरोजगार हो गए थे, किसान बरबाद हो गए थे, खुशहाली में कंगाली—हां, निश्चय ही कुछ न कुछ करना जरूरी हो गया। पुरानी व्यवस्था अहस्तक्षेप नीति (*लैसे-फेयर*) पर आधारित थी। वह व्यवस्था भंग हो चुकी थी। परिवर्तनों की आवश्यकता थी। *लैसे-फेयर* के स्थान पर सुसंगठित व्यवस्था और नियन्त्रण की आवश्यकता थी। आर्थिक जीवन, अपने आप में स्वतंत्र रह कर, भीषण संकट में पड़ गया था। अब उसे और अधिक स्वतंत्र नहीं रखा जा सकता था। उसे संभालना और निर्देशित करना आवश्यक हो गया था।

"हमें योजना बनानी चाहिए!"

समृद्धि में दरिद्रता के विरोधाभास की स्थिति का सामना होने पर पश्चिमी संसार, रूस की भांति, योजना की ओर उन्मुख हुआ। लेकिन दोनों में अन्तर था।

सोवियत संघ में उत्पादन उपयोग के लिए होता है; पूंजीवादी देशों में उत्पादन मुनाफे के लिए होता है। सोवियत संघ में उत्पादन के साधनों में निजी संपत्ति का उन्मूलन हो चुका है; पूंजीवादी देशों में उत्पादन के साधनों में निजी सम्पत्ति को पवित्र माना जाता है। सोवियत संघ में योजना व्यापक रूप में है, जिसमें आर्थिक कार्य-कलाप का प्रत्येक क्षेत्र सम्मिलित है; पूंजीवादी देशों में योजना खण्डशः है, जिसमें एक क्षेत्र को अन्य क्षेत्रों से स्वतंत्र रूप में लिया गया है। सोवियत संघ में योजना निर्माण उपभोक्ताओं द्वारा उपभोक्ताओं के लिए

किया जाता है। पूंजीवादी देशों में योजना निर्माण उत्पादकों द्वारा उत्पादकों के लिए होता है।

समृद्धि में दरिद्रता के विरोधाभास की स्थिति का सामना होने पर पूंजीवादी देशों ने इस समस्या से निपटने के लिये एक योजना तैयार की।

योजना थी ***प्रचुरता को समाप्त करने की।***

आपको समाचारपत्रों के ये शीर्षक याद होंगे: "खड़ी कपास पर हल चला दिये गये", "हजारों छोटे सूअरों को मार डाला गया", "गेहूं का रकबा घटा दिया गया", "ईख के बागानों द्वारा उत्पादन में कटौती"। यह सब एक आयोजना के अनुसार किया गया। कृषि समन्वय प्रशासन (A.A.A.) ने समस्त अमरीका के कपास, गेहूं, मक्की, सूअर, तम्बाकू, चीनी, इत्यादि के हजारों उत्पादकों के साथ समझौते किये, इन उत्पादकों को इस शर्त पर रुपया दिया गया कि वे अपने उत्पादन में कटौती करें, अर्थात्, वे समृद्धि या ***प्रचुरता को नष्ट करने*** की योजना में साथ दें।

अन्य देशों में भी ध्वंश या रोकथाम की इसी प्रकार की "योजनाओं" को व्यवहार में लाया गया। 3 जुलाई 1936 को ***न्यूयार्क टाइम्स*** में दक्षिण अमरीका से प्राप्त निम्नलिखित समाचार प्रकाशित हुआ:

> **ब्राजील द्वारा कहवे की 30 प्रतिशत फसल नष्ट करने का निश्चय**
>
> **सरकार द्वारा 6,600,000 बोरे के लिए जाने पर उत्पादकों को प्रति बोरा 5 मिलरेई प्राप्त होगा।**
>
> रियो द जेनेरियो, 2 जुलाई। इस अनुमान पर कि 1936-37 की कहवे की फसल 22,000,000 बोरे होगी तथा पिछले साल की फसल के 4,000,000 से 5,000,000 बोरे बचे पड़े हैं, राष्ट्रीय कहवा विभाग ने नष्ट करने के लिए 30 प्रतिशत का कोटा निश्चित किया है। वह कहवे के नष्ट किये जाने वाले प्रत्येक बोरे पर उत्पादकों को 5 मिलरेई अदा कर रहा है।[1]

[1]*New York Times*, July 3, 1936.

समुद्र पार योरोप की भी यही कथा थी। इंग्लैण्ड का निम्नलिखित समाचार प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था:

अमरीका की भांति ब्रिटेन भी उत्पादन में कटौती करेगा: मूल्य-वृद्धि के उद्देश्य से कपड़े के उत्पादन पर रोक के लिए विधेयक

(चार्ल्स ए. सेल्डेन द्वारा)

लन्दन, 4 फरवरी। सूत के अतिरिक्त तकुओं को समाप्त करने से संबंधित एक विधेयक के द्वितीय वाचन के आज रात लोक सभा में स्वीकृत हो जाने के साथ... ब्रिटेन भी अब अधिक अच्छे दामों की प्राप्ति के उद्देश्य से कानून द्वारा उत्पादन घटाने की राष्ट्रपति रूजवेल्ट की नीति का अनुसरण आरम्भ कर रहा है।...

अतिरिक्त उत्पादन से–उदाहरणार्थ, जहाजरानी में और कोयला उद्योग में–छुटकारा पाने के लिए इस देश में अन्य प्रयास भी किये गये हैं, परन्तु पहले के इन प्रयासों के पीछे कोई वैधानिक शक्ति नहीं थी। यह शक्ति अब सूती तकुआ विधेयक द्वारा प्रदान की गयी है, जिसमें एक सरकारी बोर्ड की स्थापना की व्यवस्था है। इस बोर्ड को उससे अधिक तकुओं को खरीदने या काम से अलग कर देने का अधिकार प्राप्त है जितना कि सम्पूर्ण कपड़ा-उद्योग के सर्वोत्तम हितों के लिए आवश्यक समझा जाएगा।...

परीक्षात्मक अनुमान के अनुसार लगभग 10,000,000 तकुओं को, या इस समय व्यवहार में आने वाले तकुओं में से एक चौथाई को नष्ट कर दिया जाएगा।......

लंकाशायर के अधिकांश वस्त्र-निर्माता इस विधेयक के पक्ष में हैं, लेकिन मजदूरों और संसद के मजदूर-दलीय सदस्यों द्वारा इस आधार पर इसका विरोध किया जा रहा है कि इसमें उन लोगों के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गयी है जिनके लिए इसके व्यवहार में आने पर नौकरी से हाथ धोने का खतरा पैदा हो जाएगा।[1]

[1] *New York Times*, Feb.. 5. 1936.

लेकिन क्यों?

समृद्धि को नष्ट करने की इन सब योजनाओं का उद्देश्य क्या है?

आपको याद होगा कि हस्तक्षेप रहित पूंजीवाद का उद्देश्य था मुनाफा कमाना। हस्तक्षेप रहित पूंजीवाद का ह्रास हो गया और आयोजना के प्रयास किये गये। योजनाबद्ध पूंजीवाद का उद्देश्य भी वही है—मुनाफा कमाना। प्रचुरता से सम्पन्न अर्थ-तंत्र में, जहां उत्पादन खपत की अपेक्षा अधिक बढ़ जाता है, वहां पूर्ति पर प्रतिबंध लगाकर ही ऐसा किया जा सकता है। खपत के लिए और अधिक माल के उत्पादन से दाम गिर जायेंगे; जबकि उत्पादन पर प्रतिबंध लगने से दाम बढ़ते हैं और इससे मुनाफों में वृद्धि होती है। इस लिए पूंजीवादी आयोजना वस्तुओं की दुर्लभता पर आधारित आयोजना है।

चूंकि यह सत्य है इसलिए श्री रूजवेल्ट की योजनाबद्ध सामाजिक व आर्थिक सुधार की नीति न्यू डील के प्रति स्टौलबर्ग और विण्टोन के इस व्यंग्य में भी कुछ औचित्य है: "न्यू डील ने अब तक ऐसा कुछ भी नहीं किया है, जो एक भूकम्प द्वारा इससे बेहतर ढंग से नहीं किया जा सकता था। इस तट से लेकर उस तट तक एक अच्छे-खासे भूकम्प द्वारा दुर्लभता की पुनःस्थापना कहीं अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से हो सकती थी, और जिसके कारण बाकी बचे हुए सब व्यक्ति इजारेदार पूंजीपतियों के लिए अधिक गौरव के साथ काम में जुट सकते थे—न्यू डील की अपेक्षा कहीं ज्यादा तेजी के साथ और इससे कम शोर मचाते हुए।"[1]

पूंजीवादी आयोजना की एक और प्रमुख विशेषता है। वह है खण्डशः आयोजना।

जब वाशिंगटन में एन.आर.ए. का काम जारी था तब उधर ***दी अमरीकन गार्जियन*** के चतुर सम्पादक आस्कर अमेरिंजर के बारे में एक बड़ी दिलचस्प और शिक्षाप्रद कहानी चल पड़ी थी। वे एन.आर.ए. के एक महत्वपूर्ण अधिकारी के कार्यालय में प्रातःकाल के काम का बड़ी रुचि के साथ निरीक्षण कर रहे थे। वे ऐसे उद्योगपतियों के लगातार तांते को देख रहे थे जो अपने-अपने व्यापार के बैठ जाने का रोना लेकर आ रहे थे। वे उन "योजनाओं" को सुनते रहे जो कभी

---

[1]B. Stolberg and W.J. Vinton, *The Economic Consequences of the New Deal*, p. 85. Harcourt, Brace and Company, N.Y., 1935.

मुर्दे में जान डालने के लिए बनायी गयी थीं। कुछ घंटों तक चुपचाप यह सब देखते रहने के बाद वे अपने आपको और ज्यादा नहीं रोक सके। वे उठकर खड़े हो गये और चीखकर आयोजना अधिकारी से बोले: "रोगी को तो चेचक निकल आयी है और आप हैं कि एक-एक फुड़िया का इलाज कर रहे हैं!"

श्री अमेरिंजर को लगा कि सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थ-तंत्र के लिए एक व्यापक आयोजना की आवश्यकता है। इसकी बजाय, उन्होंने देखा कि "जहाजरानी उद्योग के लिए एक योजना" बनायी जा रही है, "किसानों की सहायता के लिए एक योजना" तैयार है, "मजदूरों की क्रय-शक्ति को बढ़ाने की एक योजना" पेश है। अमरीका में–या किसी अन्य देश में–ऐसा कुछ भी नहीं था जो उस रूसी आयोजना से जरा-सा भी मेल खाता हो, जिसमें राष्ट्र की हजारों आर्थिक गतिविधियों को एक आत्म-संगत परिपूर्ण योजना में उचित स्थान पर बैठाने का सचेत प्रयास किया गया था।

यह रूस में इसीलिए संभव है क्योंकि वहां उत्पादन के साधनों में निजी सम्पत्ति को समाप्त कर दिया गया है। ऐसी जगह जहां आयोजना अधिकारियों को यह या वह करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है, क्योंकि उनके ऐसा करने से श्रीयुत सम्पत्ति-स्वामी का पैर कुचल जायेगा, वहां व्यापक आयोजना असम्भव है। सोवियत संघ में गौस्प्लान द्वारा लिया गया कोई भी निर्णय प्रभावकारी होता है, क्योंकि वह एकमात्र संगठन, सम्पूर्ण सोवियत राष्ट्रीय अर्थ-तंत्र की ओर से लिया गया निर्णय होता है, जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी नहीं है। एक पूंजीवादी देश के आयोजना अधिकारी द्वारा लिया गया निर्णय प्रभावहीन होता है, क्योंकि अगर वह सम्पत्ति-स्वामियों के किसी एक दल का, मान लीजिये कि क्यूबा से चीनी का आयात करने वालों का पक्ष लेता है तो सम्पत्ति-स्वामियों के दूसरे दल द्वारा, अमरीकी चीनी के उत्पादकों द्वारा, उसका विरोध किया जाता है। और चूंकि राज्य के अधिकारियों को आज्ञापालन के लिए लोगों को विवश करने का अधिकार नहीं है, इसलिए उन्हें कभी एक दल तो कभी दूसरे दल के मुंह में कौर देते हुए इधर से उधर लुढ़कते रहना पड़ता है।

श्रीमती बारबरा बूटन ने अपनी पुस्तक ***योजना या योजना हीनता*** में बताया है कि जब उत्पादन के साधन निजी सम्पत्ति के रूप में होते हैं तब योजना

का क्या होता है: "जब तक कि उत्पादन के साधन और उनसे उत्पादित वस्तुएं ऐसे व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति होगी जो उन साधनों के संचालन के आर्थिक परिणामों में और उन वस्तुओं की बिक्री में ही रुचि रखते हैं, तब तक मुख्य-मुख्य आर्थिक निर्णय एक-एक फर्म या एक-एक उद्योग द्वारा उन व्यक्तियों के दृष्टिकोण के अनुसार ही किये जायेंगे, और जो उनके निजी उद्योग या उनकी निजी फर्म के लिए सर्वाधिक हितकर होंगे।... इस्पात के उत्पादन की योजना ऐसी बनायी जाएगी कि इस्पात के कारखाने मौज मना सकें, शराब के उत्पादन की योजना ऐसी बनायी जाएगी कि शराब तैयार करने वालों की चांदी रहे, चित्रों के उत्पादन की योजना ऐसी बनायी जायगी कि चित्रकारों के लिए इस धरती पर ही स्वर्ग की स्थापना हो जाय, और इसकी अंतिम परिणति यह होगी कि योजना, समाज द्वारा बनायी जाने के बजाय समाज के ही विरुद्ध तैयार की जाएगी।"[1]

अगर निजी सम्पत्ति केन्द्रीय योजना के ही मार्ग में, जो स्वयं पूंजीपतियों के हित में है, रुकावट खड़ी कर सकती है, तो वह सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में होने वाले योजना कार्य में बाधक बनने के लिए कितना कुछ नहीं कर सकती! उदाहरण के लिए गन्दी बस्तियों के उन्मूलन का प्रश्न ही लीजिए। हर कोई सहमत है कि गन्दी बस्तियों को समाप्त किया जाना चाहिए। ठीक है, फिर भी उनको खत्म क्यों नहीं किया जाता? इस स्पष्ट सार्वजनिक आवश्यकता के मार्ग में कौन-सी बाधा उपस्थित है? उत्तर बहुत आसान है। निजी सम्पत्ति–व्यक्तिगत मुनाफा। कुछ ऐसे मकान मालिक हैं जो गन्दी बस्तियों के किराये से पैसा कमाते हैं, इनके अलावा दूसरे मकान मालिक भी हैं जिनके मकानों के किराये गंदी बस्तियों के निवासियों के लिये नये और बेहतर मकानों के बन जाने पर गिर जायेंगे। इसलिए गन्दी बस्तियों का उन्मूलन रुका हुआ है। या, अगर इस काम को शुरू भी किया जाता है तो बहुत रुकते-रुकते, धीरे-धीरे किया जाता है और तब भी बिल्कुल पूरा नहीं किया जाता! इस प्रकार सामाजिक हित के मार्ग में निजी सम्पत्ति के स्वार्थ बाधक बन जाते हैं।

समाजवादी समाज के सुनियोजित अर्थ-तन्त्र में यह कार्य कितने भिन्न ढंग से होता है! आयोजनकर्ताओं के सामने किसी नगर का एक नक्शा है। नक्शे का

[1]Barbara Wooton, *Plan or No Plan*. p. 320. Gollancz, London, 1934.

एक अंश रंगा हुआ है–यही वे गन्दी बस्तियां हैं, जहां लोग अत्यन्त कष्टपूर्ण और अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रह रहे हैं। इस संबंध में क्या करना चाहिये? गन्दी बस्तियों को समाप्त कर देना चाहिये। ठीक है। रंगे हुए अंश पर पेंसिल से एक रेखा खींच दी जाती है। उसे काट दिया जाता है। जहां निजी सम्पत्ति मार्ग में बाधक नहीं बनती, वहां जैसे ही जरूरत महसूस की जाती है और योजनाएं तैयार हो जाती हैं वैसे ही काम शुरू कर दिया जाता है।

जहां निजी सम्पत्ति मार्ग में बाधक बन सकती है, वहां उस काम को प्राथमिकता दी जाती है जो उसके अपने हित में हो और राष्ट्रीय हित एक कोने में पड़ा रह जाता है। लन्दन ***टाइम्स*** ने 28 अगस्त 1935 के अपने एक सम्पादकीय लेख में इस स्थिति की निन्दा की थी। ***टाइम्स*** इस बात से चिन्तित था कि निर्माण उद्योग इंग्लैण्ड के उत्तर से, जहां ऐसे बेरोजगारों की तादाद काफी थी जिन्हें काम की तलाश थी, दक्षिण की ओर बढ़ता आ रहा था, जहां खेतों, बागानों और जंगलों में" नयी फैक्टरियों के फैल जाने से "ग्रामीण सौन्दर्य" के नष्ट हो जाने का खतरा था। टाइम्स ने इन शब्दों में अपना खेद प्रकट किया था: "ऐसे एकताबद्ध निर्देशन का नितान्त अभाव है, जो यह निर्णय कर सके कि अस्पष्ट होते हुए भी जो मूलभूत है ऐसा राष्ट्रीय हित कहां अवस्थित है, जब कि उधर औद्योगिक स्थानों और आबादियों को अधिक रूप में उजाड़ा जा रहा है तथा नये औद्योगीकरण के जरिये अन्य स्थानों और आबादियों को सम्पन्न किया जा रहा है और बढ़ाया जा रहा है।....

यदि आविष्कारक प्रतिभा ऐसे नये उद्योग के विकास को संभव कर सके जिसमें काफी बड़ी संख्या में लोग काम करते हों और जो उत्पादन की स्थितियों के कारण किसी खास स्थान से बंधा न हो, तो उद्योग के लिए मंदी वाले इलाकों में अपनी स्थापना करना सामाजिक रूप से हितकर सिद्ध होगा। ***लेकिन सामाजिक हित का उन लोगों के लिए कोई महत्व नहीं होता जो वास्तव में यह निर्णय करते हैं कि उद्योग की स्थापना किस स्थान पर होनी चाहिए।***"[1]

असली बात यही है। हर मोर्चे पर जो कुछ समाज के हित में है वह निजी सम्पत्ति के स्वार्थ के कारण अवरुद्ध हो जाता है। कुछ लोगों को इसकी कोई

[1]London *Times,* August 28, 1935 (my italics).

परवाह नहीं है। उनका तर्क है कि निजी स्वामित्व और उत्पादन के साधनों के नियंत्रण से होने वाले लाभ इससे होने वाली हानि से कहीं अधिक है। वे इतनी अधिक मात्रा और इतनी अधिक किस्मों में माल के उत्पादन में तथा आम जनता के लिए ऐसे अपूर्व जीवन स्तर (विशेषकर अमरीका में) की प्राप्ति में पिछले 150 सालों में प्राप्त हुई पूंजीवाद की आश्चर्यजनक सफलता की ओर संकेत करते हैं। अमरीका का राष्ट्रीय निर्माता संघ निजी सम्पत्ति के ध्वजदंड पर अपनी विजय पताका फहराते हुए अपनी "अमरीकी उद्योग की योजना" के एक अंश के रूप में जोरदार घोषणा करते हुए कहता है "उत्पादन, वितरण और जीवन-निर्वाह के साधनों के निजी स्वामित्व और नियंत्रण को व्यक्ति स्वातन्त्र्य और प्रगति के लिए आवश्यक स्वीकार किया जाता है। इन सुविधाओं पर सरकार का स्वामित्व या उसके द्वारा इनका नियंत्रण एक योजनाबद्ध अर्थ-तंत्र, गतिहीन समाज और निरंकुशता को जन्म देता है।...

सरकार द्वारा राष्ट्रीय अर्थ-तन्त्र का आयोजन मुट्ठी भर लोगों के हाथ में निर्णयों को केन्द्रित करके उत्पादन और उपभोग को संतुलित करना चाहता है। आर्थिक और सामाजिक प्रगति ने वहीं सबसे अधिक विकास प्राप्त किया है जहां असंख्य व्यक्तिगत निश्चयों और निर्णयों द्वारा उद्यम का निर्देशन हुआ है, और इस प्रकार पूरी जनता की कार्यकुशलता, बुद्धि और ज्ञान का उपयोग हुआ है। सारी जनता की गतिविधियों को सफलतापूर्वक योजनाबद्ध करने, निर्देशित और प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक बुद्धि दूरदर्शिता और विवेक किसी भी छोटे-से गुट के लोगों के पास नहीं हो सकता...।"[1]

अंतिम वाक्य ऐसे निर्माताओं की ओर से कहा जाने के कारण वास्तव में और भी आश्चर्यजनक है, जो अपने-अपने निजी उद्योग के क्षेत्र में शायद संसार के सबसे बड़े आयोजक माने जाते हैं। इनमें उद्योग के वे शीर्षस्थ नेता हैं, जिन्होंने ऐसे व्यवसायों में संगठन व आयोजन के चमत्कारपूर्ण कार्य किये हैं जिनके पूंजीगत साधन, अगर उन्हें पृथक रूप से देखा जाय तो, संसार के अनेक राष्ट्रों के पूंजीगत साधनों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं; ऐसे व्यवसाय जिनकी शाखा-प्रशाखाएं सारी पृथ्वी पर व्याप्त हैं; ये हैं वे लोग-प्रमुख पूंजीवादी देश के प्रमुख योजना-विशेषज्ञ-जो सम्पूर्ण राष्ट्र के उद्योग के लिए उस सबको करने

[1]*New York Times*, Dec. 6, 1935.

के विरुद्ध इतने जोरदार ढंग से तर्क पेश कर रहे हैं जो कुछ उन्होंने अपने निजी उद्योग के लिए इतनी कुशलता के साथ सम्पन्न किया है।

आखिर पूंजीपति एक राष्ट्रीय योजनाबद्ध अर्थ-तन्त्र का इतना विरोध क्यों करते हैं?

क्या ऐसा इसलिए है कि उन्हें लगता है कि एक राष्ट्रीय योजनाबद्ध अर्थ-तन्त्र का अर्थ निश्चित रूप से निजी सम्पत्ति का उन्मूलन है? इस संबंध में श्री जी.डी.एच. कोल ने अपनी पुस्तक ***आर्थिक आयोजन के सिद्धान्त*** में कहा है: "बहुत से पूंजीपति ... अपने उन साथी पूंजीपतियों को खतरनाक विधर्मियों की तरह मानते हैं जो एक सुनियोजित व्यवस्था का समर्थन करते हैं। ...अत्यधिक स्पष्टवादी पूंजीवादी नेता बड़े जोरदार ढंग से योजनारहित अर्थ-तन्त्र का समर्थन करते हैं, क्योंकि इसकी खामियों के बावजूद वे इसे सम्पत्ति के अधिकारों का एकमात्र विश्वसनीय समर्थन मानते हैं।"[1]

और स्टौलबर्ग व विण्टोन ने इसी बात को चुभते हुए व्यंग्य के साथ अपनी शैली में इस प्रकार प्रस्तुत किया है: "उद्योग पर अपने समाज-विरोधी नियंत्रण को अच्छी तरह से कायम रखने के उद्देश्य से प्रेरित बड़े स्वत्वाधिकारी पूंजीपति इसका नियंत्रण शायद कभी भी समाज के हाथों में सौंपने के लिए राजी नहीं हो सकेंगे, ताकि हम सब शेष लोगों के विरुद्ध अपने निज के पक्ष में निर्णय कर सकने की पूर्ण स्वतन्त्रता पर आंच न आ सके। ... वाइर, टीगल और स्लोन जैसे पूंजीपति जानते हैं कि उन्हें 'सामाजिक आयोजना' के अत्यधिक अस्पष्ट प्रयासों तक में तोड़-फोड़ करनी चाहिये। अपनी सामाजिक बर्बरता और अपने अर्थशास्त्रीय अज्ञान के कारण उन्हें ऐसा प्रतीत होता है—और ठीक ही प्रतीत होता है—कि प्रमाणिक सामाजिक योजना का अर्थ है समाजवादी निर्माण, न कि पूंजीवादी 'वसूली'।"[2]

राष्ट्रीय योजना के पूंजीवादी विरोध का दूसरा कारण कदाचित् यह है कि इस प्रकार की आयोजना आवश्यक रूप से आय के वितरण के प्रश्न को एक सजीव प्रश्न बना देती है। पूंजीवादी सिद्धान्त के अनुसार आय का वितरण, चाहे वह कितना ही असमान क्यों न हो, "प्राकृतिक नियम" के फलस्वरूप होने के

[1]G.D.H. Cole, *Principles of Economic Planning*, p. 222. Macmillan & Company, Ltd., London, 1935.
[2]Stolberg and Vinton, *op. cit.*, pp. 20, 21.

कारण न्यायोचित है। प्रमुख अधिकारी अर्थशास्त्रियों में से एक प्रोफेसर जान बेट्स क्लार्क ने हमें इस बात का विश्वास दिलाया है। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक ***समृद्धि का वितरण*** की भूमिका में प्रोफेसर क्लार्क ने लिखा है: "इस पुस्तक का उद्देश्य यह दिखाना है कि समाज की आय के वितरण का नियंत्रण एक प्राकृतिक नियम द्वारा होता है और यह कि इस नियम से, अगर यह बिना किसी संघर्ष के काम कर सके, तो उत्पादन के प्रत्येक अभिकर्ता को धन की वह राशि प्राप्त होती है जिसे वह उत्पन्न करता है। ...

स्वतन्त्र प्रतिद्वन्द्विता श्रमिक को वह प्रदान करती है जो वह उत्पन्न करता है पूंजीपतियों को वह प्रदान करती है जिसे पूंजी उत्पन्न करती है, और उद्यम-कर्ताओं का वह प्रदान करती है जो समन्वयकारक कार्य से उत्पन्न होता है।

प्रत्येक अभिकर्ता को उत्पादन का एक विशेष अंश, प्रत्येक को तद्नुरूप पुरस्कार–यह है वितरण का प्राकृतिक नियम।"[1]

इस आरोप का सामना होने पर कि आय का वितरण बहुत अनुचित रूप से हुआ है पूंजीपति लाचारी प्रकट करते हुए कहते हैं: "लेकिन इसमें हमारा क्या दोष है? प्रत्येक को वही मिलता है, जो वह कमाता है। यही प्राकृतिक नियम है: "लेकिन एक राष्ट्रीय योजनाबद्ध अर्थ-तन्त्र में आय के वितरण का प्रश्न इतनी आसानी से नहीं टाला जा सकता। वहां यह एक ज्वलन्त प्रश्न बन जाता है, जिसे अवैयक्तिक शक्तियां तय नहीं कर सकतीं, बल्कि यह केन्द्रीय समन्वयकारी सत्ता का एक महत्वपूर्ण कार्य बन जाता है। और उन लोकतान्त्रिक देशों में जहां वह सत्ता आम जनता की भावना से प्रभावित होती है, इसमें सन्देह नहीं कि आय के वितरण की वह खाई काफी मात्रा में कम हो जाएगी जो इस समय मौजूद है। आयोजना के अनुसार–आम जनता के लिए अधिक आय; पूंजीपतियों के लिए कम आय।

इन्हीं कारणों से देखकर आश्चर्य नहीं होता कि इस प्रकार के किसी भी विकास के विरोध का नेतृत्व पूंजीपतियों द्वारा ही होता है।

फिर भी कुछ देशों में उनके सामने और कोई चारा नहीं रहता। वहां

[1] J.B. Clark, *The Distribution of Wealth,* Preface, p. 3. The Macmillan Company, N.Y., 1899.

आर्थिक जीवन का ह्रास इतना व्यापक होता है, और श्रमिक वर्ग का अभियान इतना चिन्ताकारी होता है कि पूंजीपतियों को एक केन्द्रीय समन्वयकारी सत्ता की आवश्यकता अनुभव होने लगती है—लेकिन वे इसे सुनिश्चित कर लेते हैं कि वह सत्ता ***उनकी*** ही हो, और ***उनके*** ही हित में काम करे, इस काम को मजदूर वर्ग की लड़ाकू शक्तियों का दमन करके ही पूरा किया जा सकता है। इसीलिए पूंजीपति फासिज्म का सहारा लेते हैं।

रूस में श्रमिक-वर्ग की क्रान्ति सफल हुई। लेकिन विनाशकारी विश्व-युद्ध के फलस्वरूप भ्रम का अन्त होने के कारण, भुखमरी और कष्ट के कारण सर्वत्र ही क्रान्तिकारी शक्तियों ने बहुत-से नये लोगों को आकर्षित किया। मध्यवर्ग भी अपनी स्थिति में सुधार के अवसरों को तेजी से कम होते हुए देखकर असंतुष्ट हो उठा हालांकि स्थापित व्यवस्था का तख्ता नहीं उलटा, लेकिन वह निश्चय ही डगमगाने लगी।

इटली और जर्मनी के बारे में यह विशेष रूप से सही था। इन देशों के पूंजीपतियों के सामने एक क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग का खतरा पैदा हो गया था जो उनकी ताकत को चुनौती दे रहा था। इसलिए उन्होंने मुसोलिनी के कालीकुर्ती वालों और हिटलर के भूरीकुर्ती वालों को धन और सहायता प्रदान की। ताकि इसके बदले में वे उनका स्वार्थ सिद्ध कर सकें। सबसे बड़ा स्वार्थ था संगठित मजदूर वर्ग के आन्दोलन का दमन। और दोनों नेताओं ने यह काम पूरा किया। इस प्रकार इटली में आने वाला फासिज्म और जर्मनी में आने वाला राष्ट्रीय समाजवाद दोनों ही क्रान्ति-विरोधी आन्दोलन थे। स्थापित व्यवस्था अर्थात् पूंजीवादी शक्ति और विशेषाधिकार सुरक्षित थे।

यह एक कठिन काम था। समाजवादी विचारों वाली जनता को मार्ग-विचलित करने के लिए होने वाला प्रचार बहुत कुशलता और चतुराई से होना चाहिए था। और ऐसा ही किया गया। राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन मजदूर पार्टी की नीति को समाजवादी नारों और शब्दों में इस प्रकार सजाया गया था कि असंतुष्ट व्यक्ति उसमें आसानी से फंस सकें। 25 सूत्रीय प्रसिद्ध नाजी कार्यक्रम के तीन अंश यहां उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं:

"सूत्र 11: श्रम से उत्पन्न न की गयी आय का अंत।

सूत्र 12: युद्ध से होने वाले सभी मुनाफों की बेरहमी से जब्ती।

सूत्र 13 : हम उन सभी व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण की मांग करते है जो अब तक कम्पनियों (ट्रस्टों) के रूप में गठित हैं।"[1]

यह था वचन। लेकिन क्या इसे पूरा किया गया? आइये, हम उस उत्तर को देखें जो ***दि इकोनामिस्ट*** (लन्दन) के बर्लिन स्थित संवाददाता ने 1 फरवरी 1936 को लिखा था: "पिछले साल की अपेक्षाकृत शान्ति पार्टी-कार्यक्रम के प्रति बहुत कुशल अकर्मण्यता का रुख अपनाकर प्राप्त की गयी, क्योंकि उसको जोरदार ढंग से लागू किये जाने से स्वार्थों में बड़े खतरनाक संघर्ष की आशंका हो सकती थी.... समाजवाद बनाम पूंजीवाद का प्रश्न, जिसने कभी बहुत बड़ी संख्या में गरीबों और साधनहीनों को पार्टी की ओर आकर्षित किया था, बराबर गिरते हुए अब एक अर्थहीन नारा ही रह गया है। एक तरफ तो इसकी पुष्टि की जाती है कि समाजवाद आ रहा है (वास्तव में इस सप्ताह तो आधिकारिक रूप से यह कहा भी गया कि समाजवाद ने पूंजीवाद का स्थान ले लिया है), जबकि इसके साथ ही दूसरी तरफ यह कहा जाता है कि भूमि और उद्योग–दोनों क्षेत्रों में निजी पूंजी को न केवल सुरक्षित रखना चाहिये बल्कि उन्हें मुनाफा कमाने के योग्य भी बनाना चाहिये।"[2]

नाजी शासन के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि शासन के केवल तीन वर्ष नाजियों के कार्यक्रम में दिये गये व्यापक आश्वासनों को कार्यरूप में परिवर्तित करने की दृष्टि से बहुत कम थे। यह एक तर्कसंगत बात है। लेकिन पूंजीवाद की तरफ झुकाव के बारे में कोई गलती नहीं हो सकती थी। नाजियों के लिए तीन साल शासन की अवधि मजदूर संघों को नष्ट करने, उनकी रकमों को जब्त करने और उनके नेताओं को जेल में ठूंसने के लिये काफी थी। नाजियों के लिये शासन के केवल तीन साल वेतनों को घटाने और सामाजिक सेवाओं को कम करने के लिये–संक्षेप में, बड़े पूंजीपतियों की इच्छाओं के अनुसार राष्ट्रीय आय का वितरण करने के लिए काफी थे।

इटली की भी बिलकुल यही कहानी है। फासिज्म की महानता के बारे में मुसोलिनी की ताजी घोषणा देखिये। पहले भी ऐसी ही कई घोषणाएं हो चुकी

[1]G.Feder, *The Programme of the N.S.D.A.P. and Its General Conceptions*, p.19. Translated by E.T.S. Dugdale, Munich, 1932.
[2]*The Economist*, Feb. 1, 1936.

थीं, "इस अर्थ-तंत्र में मजदूर समान अधिकारों और समान कर्तव्यों के साथ ही सहयोगी बनेंगे।"[1]

ये तो हैं शब्द। वास्तविकता क्या है? इस संबंध में हमें जॉन गुन्थर की पुस्तक ***यूरोप के भीतर*** से कुछ संकेत मिलेंगे। उन्होंने लिखा है: "एक सुसंगठित सामूहिक राज्य में पूंजीवाद-विरोधी शक्तियों की एक ऐसी अच्छी खासी सूची तैयार की जा सकती है जो देखने में प्रभावशाली हो। कोई भी मालिक सरकार की अनुमति के बिना किसी मजदूर को निकाल नहीं सकता। कोई भी पूंजीपति अपनी फैक्टरी के बढ़ाने जैसी अपेक्षाकृत छोटी-सी स्वाधीनता तक का, बिना राजकीय स्वीकृति के उपभोग नहीं कर सकता। वेतन सरकार द्वारा निश्चित किये जाते हैं.... राजकीय अनुमति के बिना पूंजीपति को अपना व्यापार समाप्त करने का अधिकार नहीं है। ऋण सम्बन्धी उसके साधनों पर सरकार का नियंत्रण है; और भारी कर व्यवस्था के द्वारा वह उसकी आय का काफी बड़ी हिस्सा ले लेती है।

दूसरी ओर, फासिज्म के अधीन मजदूरों की असुविधाएं भी असीम और कठिनतर होती हैं। मजदूर भी मोल करने का अपना अधिकार खो चुके हैं; उनके मजदूर-संघ भंग कर दिये गये हैं ... उनके वेतन बड़ी निर्ममता के साथ राज्यादेशों द्वारा कम किये जा सकते हैं (और किये गये हैं।) और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे हड़ताल का अधिकार खो चुके हैं। जबकि दूसरी ओर पूंजीपति के लिये असुविधाओं को सहन करने के बावजूद उसका अपना मूलभूत विशेषाधिकार अर्थात् निजी मुनाफा कमाने का अधिकार यथावत् है। फासिज्म, जैसा कि मुसोलिनी ने उसे पेश किया था, पूंजीवादी ढांचे को सहारा देने के लिए तैयार किया गया एक ***सुविचारित*** साधन भले ही न रहा हो, लेकिन इसका परिणाम यही हुआ है। पूंजीवाद की गतिशीलता पर लगायी गयी रोक वास्तव में 'एक ऐसा शुल्क था जिसे पूंजीपति मजदूरों की मांगों के विरुद्ध पूर्ण सुरक्षा प्राप्ति के बदले अदा करने के लिए सहर्ष तैयार थे'। फासिस्ट क्रान्ति का पूरा रंग और पूरा ***जोश***, रूसी क्रांति की तुलना में पिछड़ा हुआ है।"[2]

मुसोलिनी ने "समान अधिकार और समान कर्तव्य" जैसी बातों को खूब

[1]*New York Times*, March 24. 1936.

[2]John Gunther. *Inside Europe*. Harper & Brothers. 1936. p. 189.

उछाला है, लेकिन श्री गुन्थर द्वारा पेश किया वास्तविकता का चित्र बिलकुल भिन्न है। कुछ पूंजीवादी विशेषाधिकारों को कम किया गया–लेकिन निजी मुनाफा कमाने का मूलभूत अधिकार यथावत बना हुआ था। जबकि दूसरी ओर मजदूरों के मजदूर-संघ भंग कर दिये गये थे, हड़ताल का उनका अधिकार समाप्त कर दिया गया था और उनके वेतन घटा दिए गए थे।

फिर भी, इतना स्पष्ट था कि इटली और जर्मनी दोनों ही में पूंजी और श्रम के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण बात घटित हो रही थी। दोनों देशों नें एक शक्तिशाली राज्य सत्ता पूंजीपतियों को एक विशेष ढंग से नचा रही थी, जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। हालांकि निजी सम्पत्ति का अंत नहीं किया गया था और उद्योग का मुख्य उद्देश्य अब भी मुनाफा कमाना ही था, फिर भी यह सच था कि एक तरह से व्यक्ति रूप में पूंजीपतियों के पंख काटे जा रहे थे। दोनों फासिस्ट देशों में होने वाली कृषि की सहायता, आत्मनिर्भरता के लिए चलने वाले आन्दोलन, आयात के कठोर नियंत्रण, निर्यात को दी जाने वाली सहायता और बैंकिंग साधनों के नियमन के पीछे कौन-सा उद्देश्य काम कर रहा था? उत्तर बहुत छोटा और बड़ा भयानक है–युद्ध।

सभी के लिये यह स्पष्ट था कि हथियारबन्द युद्ध की तैयारी ही राज्यसत्ता की इन सरगर्मी से भरी कार्यवाहियों को मुख्य रूप से प्रेरित कर रही थी। दोनों फासिस्ट सरकारों के नेताओं में से कोई भी इससे इन्कार नहीं करता था। उल्टे खुलेआम इसका दम्भ भरा जाता था।

लेकिन मुसोलिनी और हिटलर के बारे में प्रमाण मौजूद था कि वे युद्ध के प्रशंसक हैं। इस विषय पर मुसोलिनी का कथन सुनिये: "सर्वोपरि, फासिज्म ...न तो स्थायी शांति की संभावना में और न ही उसकी उपयोगिता में विश्वास करता है.... केवल युद्ध ही सम्पूर्ण मानवीय शक्ति को तनाव का उच्चतम शिखर प्रदान करता है, और उन लोगों पर महानता की मुहर लगाता है, जो इसका सामना करने का साहस रखते हैं। ... इसलिये शांति के इस हानिकर सिद्धान्त पर आधारित कोई भी विचार-धारा फासिज्म के विरुद्ध है।"[1]

लेकिन ये भी कोरे शब्द हैं, और हम इस तरह के कोरे शब्दों के प्रति

[1]Benito Mussolini, *The Political and Social Doctrine of Fascism, Political Quarerly* (London), July September, 1933, pp. 344, 345.

शंकित होना सीख चुके हैं। वास्तव में इतिहास क्या बताता है?

ये शब्द 1933 में लिखे गये थे। 1935 और 1936 में फासिस्ट सेनाएं इथियोपिया पर हमला कर रही थीं। इस वचन को पूरा किया गया था।

अब इसी विषय पर हिटलर का मन्तव्य सुनिये: "शाश्वत युद्ध से ही मानवता ने महानता प्राप्त की है–शाश्वत शांति से मानवता नष्ट हो जायेगी।"[1]

जब ये शब्द लिखे गये थे तब नाजी सेनाओं ने कूच नहीं किया था, लेकिन फिर भी इतना हर आदमी के सामने साफ था कि अब उनके कूच करने में देर नहीं है, जर्मनी ने एक ऐसे राष्ट्र का विस्मयकारी दृश्य उपस्थित कर दिया था जो हर तरह का प्रयास करने के लिए, कष्टपूर्ण बलिदानों के लिए और अपनी प्रत्येक गतिविधि को हथियारबन्दी और उसके बाद आने वाले युद्ध की ओर निर्देशित करने के लिए विवश था। ***न्यूयार्क टाइम्स*** के संवाददाता के 22 मार्च 1936 को अपने पत्र के लिए भेजे गये संवाद से इस पूरी स्थिति को अत्यन्त संक्षेप से इस प्रकार प्रस्तुत किया था: "मूलभूत रूप से जर्मन आर्थिक स्थिति इस प्रश्न पर केन्द्रित है कि हथियारबन्दी के लिए धनराशि कैसे प्राप्त की जाय।"[2]

फासिज्म का अर्थ है युद्ध।

इसका अर्थ युद्ध केवल इसलिए नहीं था कि दोनों फासिस्ट देशों के नेता लड़ना चाहते थे। इसका अर्थ युद्ध इसलिये था कि फासिस्ट अर्थ-तन्त्र पूंजीवादी अर्थ-तन्त्र ही होता है विस्तार को उसी आवश्यकता से युक्त बाजारों को हथियाने की उसी लालसा से युक्त अर्थ-तन्त्र, जो साम्राज्यवादी युग के पूंजीवाद की प्रमुख विशेषता होती है।

जब पूंजीवादी अर्थ-तन्त्र टूटता है और श्रमिक-वर्ग शक्ति प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ता है तो पूंजीपति इस स्थिति से बचने के लिये फासिज्म को अपना लेते हैं। लेकिन फासिज्म उनकी समस्याओं को हल नहीं कर सकता क्योंकि आर्थिक दृष्टि से उनसे किसी चीज में कोई मूल सैद्धान्तिक परिवर्तन नहीं होता है। फासिस्ट अर्थतंत्र में, पूंजीवाद अर्थतंत्र की ही भांति उत्पादन के साधनों

---

[1]Adolf Hitler. *Mein Kamf.*, p. 149. Verlag Franz Eber Nachfolger Munchen 2 No. 1930 (VI Auflage).
[2]*New York Times*, March 22. 1936.

का निजी स्वामित्व, और मुनाफा कमाने का उद्देश्य मूलरूप में होता है।

आर्थर मोर्गन की इस कथा में कि ईस्ट इंडियन लोग बंदरों को किस प्रकार पकड़ते हैं, क्या पूंजीवादियों के लिए कोई शिक्षा छिपी हुई है "बताया जाता है कि वे लोग किसी नारियल में एक इतना बड़ा छेद करते हैं। कि उसमें बंदर का केवल खाली हाथ जा सके। फिर नारियल में वे चीनी की कुछ डलियां छोड़ देते हैं और उस नारियल को पेड़ पर टांग देते हैं। बंदर किसी तरह अपना हाथ नारियल में डालता है और फिर मुट्ठी में चीनी भरकर अपना हाथ बाहर निकालने की कोशिश करता है। लेकिन छेद इतना बड़ा नहीं होता कि उसका मुट्ठी बंधा हाथ बाहर निकल सके, और उसका लालच उसके अंत का कारण बन जाता है, क्योंकि वह हाथ में आयी हुई चीज को कभी छोड़ना नहीं चाहता।"[1]

[1]Arthur Morgan, "Power and the New Deal" *The Forum,* March, 1935.

इस पुस्तक के दो उद्देश्य हैं। यह इतिहास की आर्थिक सिद्धान्त और आर्थिक सिद्धान्त की इतिहास के माध्यम से व्याख्या का एक प्रयास है। यह परस्पर सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। इतिहास का अध्ययन अधूरा है यदि उसके आर्थिक पहलुओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाये और आर्थिक सिद्धान्त नीरस लगते हैं, जब उन्हें उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अलग कर दिया जाता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र राजनीतिक ही रहेगा, जब तक कि इसका अध्ययन-अध्यापन ऐतिहासिक शून्यता में किया जायेगा। रिकार्डो का भूमि-शुल्क सिद्धान्त अपने आप में कठिन और नीरस है। लेकिन इसे इसके ऐतिहासिक प्रसंग में रखकर देखिये, इसे उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के इंग्लैण्ड के भू-स्वामियों और उद्योगपतियों के बीच संघर्ष के रूप में देखिये और यह कितना उत्तेजक और अर्थपूर्ण हो जाता है।

यह आर्थिक संस्थाओं के विकास के रूप में इस बात की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है कि कुछ सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव विशिष्ट समय पर क्यों हुआ; समाज के उसी ढाँचे में वे किस प्रकार उद्भूत हुए और किस प्रकार उनका विकास हुआ, उनमें संशोधन हुए और जब समाज के उस ढाँचे में परिवर्तन हुए तो क्यों वे सिद्धान्त भी समाप्त कर दिये गये।

(मूल अंग्रेजी ग्रंथ की प्रस्तावना से)

ISBN 81-87772-02-6

मूल्य : 300 रुपये



गार्गी प्रकाशन